प्रकाशक—

राष्ट्रीय-हिन्दी-मन्दिर

जबलपुर ।

मुद्रक—

कन्छेदीलाल पाठक

राष्ट्रीय-हिन्दी-मन्दिर प्रेस,

जबलपुर ।

संसार को भारत का संदेश।

सम्पादक—

रामचंद्र संघी।

विषयानुक्रमणिका ।

भूमिका ।

संस्कृत-साहित्य तथा भाषा-तत्त्व-विज्ञान के प्रेमियों से प्रोफेसर मेक्समूलर का नाम छिपा नहीं है । तुलनात्मक शब्द-व्युत्पत्तिशास्त्र के आप प्रधान आचार्य थे और देव-कथा सम्बन्धी तुलनात्मक विज्ञान के श्रीगणेश करने का श्रेय आप को ही है । भारतवर्षीय शिक्षित-समाज उनकी विद्वत्ता से भली प्रकार परिचित है और आर्यसमाज के ग्रन्थों तथा लेखों की बदौलत इनकी ख्याति भारतवर्ष के प्रायः सभी छोटे बड़े स्थानों में होगई है । योरप और अमेरिका के किसी भी संस्कृतज्ञ विद्वान् की इस देश में इतनी प्रसिद्धि नहीं हुई जितनी प्रोफेसर मेक्समूलर की हुई है । मेक्समूलर का जन्म जर्मनी के डिसाऊ नगर में ६ दिसम्बर सन् १८२३ को हुआ था । प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आपने लीपज़िक के विश्वविद्यालय में लेटिन, ग्रीक तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा प्राप्त की और सन् १८४३ में विश्वविद्यालय से डिगरी प्राप्त की । सन् १८४४ में आपने हितोपदेश का अनुवाद जर्मन भाषा में प्रकाशित किया । फिर दो वर्ष तक पेरिस नगर में रहकर आपने संस्कृत भाषा का अच्छी तरह मनन किया और वैदिक साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त की । इसके पश्चात् वेद सम्बन्धी हस्त-लिखित पुस्तकों की जाँच करने के निमित्त जून सन् १८४६ में इन्हों ने इंग्लैण्ड की यात्रा की; किन्तु यह यात्रा ऐसी स्थिर लग्न में हुई कि मृत्यु पर्यन्त (सन् १९००) उनका आक्सफर्ड विश्वविद्यालय से सम्बन्ध न छूटा । प्रोफेसर विलसन उनके गुणों पर मुग्ध होगए और उनके विशेषाग्रह से भारतवर्ष की विधाता ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सायण-

भाष्य-सहित ऋग्वेद के सम्पादन तथा प्रकाशन का भार मेक्समूलर को सौंप दिया। यह बृहत्कार्य सन् १८४९ में प्रारम्भ होकर सन् १८७३ में समाप्त हुआ। इसी समय में वैदिक साहित्य तथा भाषा-विज्ञान और इतिहास सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ मेक्समूलर ने रचकर प्रकाशित किये। प्राच्य धर्म-ग्रंथावली के बृहत् संग्रह के सम्पादन का प्रबन्ध आप ही के हाथ में रहा। सच तो यह है कि संस्कृत-साहित्य तथा भाषा-विज्ञान के संबंध में अकेले प्रोफेसर मेक्समूलर ने जितना काम किया है, उतना योरप और अमेरिका के इस क्षेत्र में कार्य करने वाले सब विद्वान् मिलकर भी नहीं कर सके हैं। भारतवर्ष की यात्रा का सौभाग्य कभी मेक्समूलर को प्राप्त नहीं हुआ और इसका पछतावा उनको अन्त समय तक रहा। जर्मनी और इंग्लैण्ड में बैठे हुए ही अपने ज्ञान-चक्षु के द्वारा इन्होंने भारत के पवित्र प्राचीन समय का दर्शन किया—यह दर्शन केवल चर्म-चक्षु से ही काम लेने वालों के भाग्य में नहीं है—परन्तु इस दर्शन की तीव्र उत्कंठा चर्म-चक्षु की आसक्ति-द्वारा ही आविर्भूत हुई।

एक समय बाल्यावस्था में मेक्समूलर पाठशाला में कापी पर लिखने का अभ्यास कर रहे थे। कापी के सिरे के पृष्ठ पर काशी नगर और भगवती जाह्नवी का चित्र था। मेक्समूलर उस चित्र को बड़े ध्यान से देखने लगे। वे उसमें इतने तन्मय होगए कि शिक्षक को इनकी समाधि-भंग करने के निमित्त इनके कान गरम करने पड़े। उस समय तो उनकी समाधि अवश्यमेव भंग होगई; किन्तु वह चित्र उनके हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित होगया। मेक्समूलर का समस्त जीवन उसी साहित्य के पठन पाठन मनन और अनुशीलन में व्यतीत हुआ, जिसका

केन्द्र प्राचीन काल से काशी है। अपनी अद्भुत एवं अनिर्वचनीय कल्पना-शक्ति और अपने अगाध पाण्डित्य के सहारे उन्होंने भारतवर्ष का एक अपूर्व रोचक और मनोहर शब्द-चित्र बना डाला और अपनी चमत्कारिणी भाषा-लेखन-शक्ति से सुपाठ्य पुस्तक-रूप में उसे संसार की भेंट करके अटल कीर्ति को प्राप्त किया। इस मनोहर ग्रंथ का नाम है "India what can it teach us" "(भारतवर्ष से हमें क्या शिक्षा मिल सकती है)"। जबलपुर-शारदा-पुस्तकमाला के अध्यक्ष ने हिन्दी और अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध विद्वान् लाला कन्नोमल जी एम. ए. से उसका अनुवाद कराके हिन्दी-प्रेमियों को विशेष रूप से अनुगृहीत किया है। मेक्समूलर के पिता की जर्मनी के अच्छे कवियों में गणना है। जर्मन-संगीत-खंड-काव्य (Lyric poetry) के तो वे आदि कवि की श्रेणी में थे। मेक्समूलर को रसात्मक वाक्य-रचना का गुण कुलक्रमागत रूप में अपने पिता से प्राप्त हुआ था।

चाहे जैसा शुष्क और नीरस विषय उनके सामने आजाता, उनका हाथ लगते ही वह एक चटपटा और मसालेदार पदार्थ बन जाता था। मेक्समूलर ने इस अपूर्व गुणकला की शक्ति से शुष्क दार्शनिक तथा नीरस भाषा-विज्ञान विषयों को भी सर्वप्रिय बना डाला है। ये कठिन और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करते। शब्दालङ्कार की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। छोटे छोटे शब्दों को यथोचित रूप में श्रेणी-बद्ध करके उनमें अद्भुत चित्ताकर्षक एवं मनोरञ्जक भाव पैदा कर देना उनके लिए साधारण बात थी। विद्वद्वर लाला कन्नोमल जी में भी स्वभावतः ऐसी ही अपूर्व शक्ति विद्यमान है जिसके बल से गम्भीर से गम्भीर विषय को सरल

रीति से लिखकर वे पाठकों के चित्त को खींच लेते हैं। मेक्समूलर के इस अनुपम ग्रंथ का अनुवाद उन्होंने सुन्दर, सरल तथा रोचक भाषा में किया है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की प्रार्थना से प्रोफेसर मेक्समूलर ने इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थियों के उपदेश के लिये यह व्याख्यानमाला तैयार की थी, जो पश्चात् पुस्तक-रूप में परिणत कर दी गई। जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी उस समय भारतवर्ष के सामाजिक जीवन, आचार, विचार और व्यवहार के विषय में विलायत में बहुतसी किंवदन्तियां और अनर्गल कथायें प्रचलित थीं। जब तक स्वेज केनाल न बनी थी और जब तक स्टीम द्वारा रेल और जहाज़ चलाने का कार्य सुगम न हुआ था, तब तक इंग्लैण्ड इत्यादि से जो लोग नौकर होकर अथवा व्यापार के लिए भारत में आते थे, उनको मार्ग में बहुत कष्ट उठाना पड़ता था और समय भी अधिक लगता था। हिन्दुस्तान के कला-कौशल का भी उन दिनों बहुत ह्रास न हुआ था। इन सब कारणों से यहां आये हुए सज्जनों को बहुत जल्दी लौटने का साहस न होता था और इसी भय से बहुत भीड़ यहाँ आती भी न थी। फिर दो चार बड़े नगरों को छोड़कर अंग्रेज़ी अफ़सरों व सौदागरों को अलहदा अलहदा होकर दूर के स्थानों में रहना पड़ता था। इस लिये लाचार होकर उन्हें भारतवासियों से ही विशेष सत्संग करना पड़ता था और वे उनमें अच्छी तरह हिलमिलकर रहने का प्रयत्न करते थे। पर गदर के पश्चात् यह स्थिति शनैः शनैः बदल कर सन् १८७० और १८८० के बीच पूर्णरूप से इसकी काया पलट होगई। भारतवर्ष में बहुत सी रेलें बन गईं। तार का जाल सर्वत्र छागया। स्वेज केनाल बन

जाने से और स्टीम द्वारा जहाज़ों के चलने से विलायत का मार्ग तीन सप्ताह से भी कुछ कम का रह गया। स्त्रियों और पुरुषों को शीघ्रता पूर्वक आने जाने की सुविधायें होगईं। जिसका परिणाम यह हुआ कि सब मुख्य स्थानों में अंग्रेज़ी क्लब बन गए और भारत में योरप वालों को अपने स्ववर्गीय जाति वालों के साथ रहने का विशेष अवसर मिलने लगा। अतः भारतवासियों के साथ उनका मिलना स्वभावतः कम होगया और भारतीयों के आचार-विचार के सच्चे हाल के जानने का सुअवसर हाथ से जाता रहा। मेक्समूलर साहब ने भारतवर्ष के साथ सच्ची सहानुभूति प्रगट की है और उन सब मिथ्या कलंकों को मिटा कर भारत का सच्चा दृश्य अपने पाठकों के सामने रखा है। साथ ही उन्होंने भारत में आने वाले नवयुवकों को भली प्रकार समझाया है, कि भारत भूमि में नाना प्रकार के रत्न दबे पड़े हैं, जिन्हें खोज कर निकालने से सभ्य संसार में उन्हे बड़ा भारी यश मिलेगा। इसलिए नवीन शासक अपने समय को वृथा नष्ट न करके उसका सदुपयोग करें।

प्रारम्भ में इस प्रकार का उपदेश देकर प्रोफेसर मेक्समूलर अपना भारत-महिम्नस्तोत्र प्रारम्भ करते हैं। उसको उन्होंने सात अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में उन्होंने अपनी अमृतमयी लेखनी के प्रभाव से यह अज्ञान मिटाने का प्रयत्न किया है कि भारतवर्ष विलायत से आए हुए सिविलियनों के लिए यथार्थ रूप से एक विदेश है और सदा विदेश सा रहेगा।

उन्होंने भली प्रकार प्रमाणों द्वारा समझाया है कि, भारतवर्ष के साथ परिचय होने से योरप के रहने वालों के

विचार किस तरह परिवर्तित और विस्तृत होगए हैं। संस्कृत भाषा का तुलनात्मक भाषा-विज्ञान-शास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा है, उस पर विचार करने से बहुत प्राचीन भूले हुए युग की अद्भुत छटा आँखों के सामने आगई है। भारत और ईरान में रहने वाली हिन्दू और पारसी जातियां वास्तव में उसी आर्य-जाति की पूर्वीय शाखायें हैं जिसकी पश्चिमी शाखा योरप की कौमें हैं। यह सब ज्ञान भारत के परिचय बिना प्राप्त होना असंभव था। इसलिए भारतवर्ष का हम सब लोगों को कृतज्ञ होना चाहिए और भारतवर्ष में पैर रखने के समय उन्हीं उत्साह-भावों को हृदय में स्थान देना चाहिए, जो जहाज़ पर से भारतभूमि के प्रथम दर्शन के समय सर विलियम जोन्स के हृदय में उत्पन्न हुए थे। उन भावों का वर्णन इस पुस्तक के ४४ वें और ४५ वें पृष्ठों पर है। यदि उक्त भावों में अपने आप को रंग कर नवीन शासक भारत में प्रवेश करें, तो उनको भारत विदेश नहीं जँचेगा, प्रत्युत पवित्र तीर्थस्थान प्रतीत होगा और अज्ञानवश जो दूषण दिखलाई पड़ रहे हैं उनके स्थान में भूषण ही भूषण दृष्टिगोचर होंगे।

दूसरे अध्याय में हिन्दुओं के सत्यव्यवहार का वर्णन है। मेगस्थनीज़ इत्यादि बहुत पुराने विदेशीय यात्रियों से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के अंग्रेज़ शासकों के ग्रन्थों से प्रमाण देकर मेक्समूलर साहब ने भली प्रकार साबित किया है कि भारतवासी असत्य भाषण को घोर पाप समझते और अपने वचन का सदा पालन करते हैं। श्रुति, स्मृति और पुराणों के प्रमाण देकर उनने इस बात को और भी पुष्ट किया है और मिल साहब ने जो अपने इतिहास-ग्रन्थ में इस विषय में भारतवासियों पर मिथ्या दोष लगाया है

उसका युक्तिपूर्ण तर्क से खण्डन किया है। चोर और डाकू न्यूनाधिक हर एक देश में होते हैं, परन्तु इससे यह अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि सब देश ही चोर हैं। इसी प्रकार यदि थोड़े से हिन्दुस्तानी स्वार्थवश कलकत्ता, बम्बई इत्यादि बड़े बड़े नगरों में और कचहरियों में कभी कभी असत्य बोलें तो इससे यह न समझना चाहिए कि सम्पूर्ण भारतवासी असत्यभाषी हैं। प्रोफेसर विल्सन और कर्नल स्लीमेन साहब का भारतीयों से घनिष्ठ संबंध रहा है। इन महानुभावों को उनके आचार-विचार की परीक्षा का पूरा अवसर मिला है। और मेक्समूलर ने इनके लेखों से प्रमाण देकर बतलाया है कि भारतवासी कैसे दृढ़-प्रतिज्ञ और सत्य-परायण होते हैं।

इसी प्रकार भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जेनेरल वारन हेस्टिंग्ज़, बिशप हीबर, बंबई के प्रसिद्ध गवर्नर एलफिंस्टन, सर जान मेलकम, सर टामस मनरो इत्यादि बहुत से अनुभवी अंग्रेज शासकों की सम्मतियां प्रमाण रूप से उद्धृत की गई हैं। मेक्समूलर साहब की विश्वसनीय प्रबल अकाट्य युक्तियों की महिमा यह अध्याय पढ़ने से ही ज्ञात हो सकती है। पाठक-वृन्द इस अध्याय को ध्यानपूर्वक पढ़ने की कृपा करें। यह खण्ड महत्वपूर्ण विषयों का भण्डार है, इस अध्याय में संस्कृत-भाषा तथा साहित्य का गौरव समझाया गया है। संस्कृत को मृत भाषा समझने वालों की और उसे अनादर की दृष्टि से देखने वालों की मेक्समूलर साहब ने कड़ी समालोचना की है। और उन्होंने समझाया है कि लेटिन और ग्रीक-भाषा की तरह संस्कृत मृत भाषा नहीं है। विद्वानों के लिए वह भारतवर्ष में अब भी Lingua Franca (सर्वदेशीय भाषा) का

काम देती है। सब देश में उसका प्रचार है। अब भी कई सामयिक पत्र व लेखमालाएं संस्कृत भाषा में प्रकाशित होती हैं। धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ और व्यवस्था आदि संस्कृत में ही लिखी जाती हैं। कविता का स्रोत भी प्राचीनकाल से अब तक इस भाषा में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की प्रचलित भाषाओं को और हिन्दू जाति के आजकल के आचार-विचार रीति-रिवाज़ का वास्तविक मर्म समझने के लिये संस्कृत भाषा का पढ़ना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य का प्रारम्भ संसार के सब साहित्यों से पहिले हुआ है। उसकी पुस्तकों का संग्रह इस हीन दशा में भी लेटिन और ग्रीक भाषाओं के साहित्य भण्डार की एकत्र की हुई संख्या से अधिक है। मेक्समूलर ने इस साहित्य को दो भागों में विभक्त किया है। पहला भाग तो तुरानियन आक्रमण से पहले का बतलाया गया है और उसमें वैदिक तथा बौद्धिक साहित्य शामिल है। शेष सब साहित्य दूसरे भाग में गिना गया है। पहले समय के साहित्य को प्राचीन और स्वाभाविक कहा गया है और दूसरे समय के साहित्य को आधुनिक, कृत्रिम और पाँडित्य प्रदर्शक। मेक्समूलर के मत के अनुसार आधुनिक संस्कृत, जिसमें श्लोकबद्ध स्मृतियाँ, पुराण, काव्य, नाटक और महाभारत का बहुत सा खण्ड शामिल है, कभी भी जीता जागता जातीय साहित्य नहीं रहा है। "इसमें पहले समय की बातों के यत्र तत्र अंश अवश्य हैं, परन्तु इनमें भी पिछले समय के मनुष्यों की साहित्यिक, धार्मिक, और नैतिक रुचि के अनुसार परिवर्तन कर दिया गया है"। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पुराणों को जीता जागता सहित्य न बतलाना कहाँ तक युक्तिसंगत है, इसको संस्कृत के विद्वान् और इतिहासवेत्ता ही कह सकते

हैं । महाकवि कालिदास और भास के काव्य तथा नाटकों को अस्वाभाविक और केवल पाण्डित्य प्रदर्शक कैसे कहा जा सकता है । पुराणों में इतिहास की बहुत सामग्री भरी पड़ी है । डाक्टर ग्रियर्सन या स्मिथ साहब ने कहीं पर लिखा है कि मेक्समूलर साहब के नेत्रों में वेदों की छटा समा गई थी । इसलिये उन्होंने पुराणों को यथोचित आदर की दृष्टि से नहीं देखा । किसी किसी काव्य की भाषा भले ही पाण्डित्य प्रदर्शक हो, परन्तु प्रायः सभी पुराणों की भाषा सरल संस्कृत है । महाभारत के पीछे भारतवासियों के रहन-सहन, आचार-विचार तथा धार्मिक जीवन का सच्चा पता पुराणों से ही लग सकता है । आगे चलकर मेक्समूलर साहब ने बतलाया है कि आर्य्य-जाति की भिन्न भिन्न शाखाओं का ज्ञान संस्कृत भाषा की ही बदौलत हुआ है । यह बात और कहीं नहीं मिलती । संस्कृत साहित्य हमें उन आर्य्य-जाति के मनुष्यों के दर्शन कराता है जो अब यूनानी, रोमन, जर्मन, पारसी, हिन्दू इत्यादि भिन्न भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ते हैं । यह साहित्य यह भी बतलाता है कि जब आर्य्य-जाति भारत की ओर बढ़ी तो उसके शान्तिमय और गंभीर एवं विचारशील चरित्र का पूरा विकास हुआ । इस प्रकार का जीवन मेक्समूलर साहब को बहुत प्रिय है । योरप की तरफ जानेवाली आर्य्यशाखा के जीवन में राष्ट्रीय उत्साह और औद्योगिक भाव विशेष रूप से मिलते हैं, जिनके दुरुपयोग का परिणाम परस्पर का विरोध, ईर्षा और घोर अशान्ति हैं । इन दोनों प्रकार के जीवनों पर विचार करके मेक्समूलर साहब कहते हैं, " परन्तु उच्च दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि दक्षिण में जानेवाले आर्य्यों ने जीवन का एक अच्छा रूप ग्रहण कर लिया है और उत्तर

में रहने वाले हम आर्यों ने अपने साथ अनेक वस्तुओं की चिन्ता और आवश्यकता लगाली हैं"। ये सब चिन्ता और आवश्यकता भारतवर्ष को भी सदा से रही हैं। जब योरप की सभ्यता का उदय भी न हुआ था तब भी भारतवर्ष में बड़े बड़े साम्राज्य बने और बिगड़े। प्रायः कुल एशिया में भारत की ओर से धर्म-प्रचार का डंका बजा। बहुत से उपनिवेश बसाये गये। अब ये सब बातें निर्विवाद रूप से मानी जाने लगी हैं, परन्तु 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुखमेकान्ततोवा, नीचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"। यह सब होते हुए भी भारतवर्ष जीवन के सच्चे लक्ष्य को नहीं भूला—यही उसकी विशेषता है। आगे चलकर मैक्समूलर साहब मानते हैं कि जीवन का यथार्थ रहस्य भारत में आध्यात्मिक विद्या की उन्नति करके ढूंढ़ निकाला गया है। पृथ्वी पर यह जीवन किस लिये है! क्या हम अपने पड़ोसियों के सुख का नाश करते हुए अपने ही सुख के बढ़ाने में रात दिन लगे रहेंगे! क्या हम वास्तव में उन हिन्दुओं से अधिक सुखी हैं, जो अपनी पुरानी कुटियों में साधुओं के साथ रहते थे! जिसे हम सभ्यता कहते हैं और जिसके चमत्कारों को भी हम बड़े अभिमान के साथ बताते हैं अर्थात् ये हमारे बड़े बड़े शहर, बड़ी बड़ी सड़कें और पुल, हमारे जहाज़, हमारी रेलें, हमारे तार घर × × × हम समझते हैं कि हमने अपने जीवन को पृथ्वी पर सब तरह पूर्ण बना लिया है। परन्तु जिस शिक्षा को ब्राम्हण और बोद्ध लोग बार बार सिखाते हैं वह यह है कि "जीवन एक गांव से दूसरे गांव को जाने के समान एक यात्रा मात्र है न कि विश्राम करने का कोई स्थान × × × माता, पिता, स्त्री और धन हमारे लिए रातके बसेरे के समान हैं, विचारशील मनुष्य इनसे अपना सम्बन्ध हमेशा के लिए नहीं जोड़ते"।

कैसे सुन्दर एवं सरस प्रकार से भारतवासियों के जीवन का लक्ष्य इस कुशाग्र-बुद्धि, न्याय-परायण, सच्चे एवं उदार-हृदय जर्मन विद्वान् ने वर्णन किया है। यदि सब सभ्य पाश्चात्य राष्ट्रों का यही जीवन उद्देश्य होता तो, फिर सब भूमंडल को हिला देने और लाखों घरों को उजाड़ देने वाले गत भीषण योरपीय महायुद्ध की नौबत काहे को आती। जब तक भारत के सिद्धान्तों को पाश्चात्य सभ्य देश स्वीकार न करेंगे तब तक संसार में सच्ची प्रीति का स्थापन होना कठिन है। इसके पीछे हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों से उदाहरण देकर मेक्समूलर ने अपने मत को और भी पुष्ट किया है और लिखा है कि हिन्दुओं के जीवन का प्रधान अंग धर्म ही है, इसका समूचा जीवन धर्म ही था और सब वस्तुएँ इस जीवन की रात दिन की आवश्यकता मात्र ही समझी जाती थीं।

इस तरह पाठकों के चित्त में भारत के विषय में श्रद्धा उत्पन्न करने के पश्चात् मेक्समूलर साहब ने अपने असली विषय का अर्थात् भारतवर्ष के धार्मिक-साहित्य एवं वेदों के महत्व का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जाति के प्राचीन धर्म के विकाश का इतिहास ऋग्वेद में ही मिलेगा और कहीं उसका पता नहीं है। इस विषय में और विद्वानों ने जो आक्षेप किये हैं, उनका मेक्समूलर साहब ने यथोचित उत्तर दिया है। चतुर्थ अध्याय में बहुत सी शंकाओं का समाधान किया गया है, हिन्दुओं की तर्कशैली की प्रशंसा की गई है और बतलाया गया है कि वैदिक धर्म विदेशीय प्रभावों से सर्वथा सुरक्षित है। उन्होंने अच्छी प्रकार से सिद्ध किया है कि जो लोग एक दो शब्द के सहारे बेबीलन, चीन, इत्यादि देश का प्रभाव भारत के वैदिक साहित्य पर पड़ता

बतलाते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं। ज्योतिष और समय तथा ऋतु निर्णय के जो विषय वेद में मिलते हैं, वे ध्यानपूर्वक विचार करने से विदेशीय प्रभाव से रक्षित ही प्रतीत होते हैं। इसी तरह उन्होंने अच्छी तरह युक्तिपूर्वक समझाया है कि विष्णु के मुख्य अवतारों की कथा भी किसी न किसी रूप में वेदों में मिलती है और मत्स्यावतार की कथा जिसका सम्बन्ध जल प्रलय से है, यहूदियों से नहीं ली गई है।

पञ्चम अध्याय में वेद की शिक्षाप्रद बातों का वर्णन है। मेक्समूलर बहुत प्रमाण देकर बतलाते हैं कि वेद में एक ईश्वरवाद प्रतिपादक बहुत सी श्रुतियां हैं, और प्राचीन ग्रीक धर्म की तरह वेद में पोलीथीइज़्म अथवा बहु-देव-उपासना नहीं है। पोलीथीइज़्म में एक प्रधान देवता मान लिया जाता है और उसके आधीन बहुत से देवी देव माने जाते हैं। मेक्समूलर वेद में इस तरह के धर्म के सिद्धांत को नहीं पाते। वे एक दूसरा धर्म पाते हैं जिसको वे हिनोथीइज़्म (Henotheism) के नाम से वर्णन करते हैं। इस धर्म के अनुसार कभी कभी कोई देवता प्रधान अथवा विशेष रूप में स्तुति का विषय माना जाता है; परन्तु दूसरे देव और देवी उनके आधीन नहीं माने जाते। उनके मत के अनुसार नदियों की स्तुति भी वेदों में है। परन्तु सबसे बड़ी बात जो वे वेदों में पाते हैं, वह प्राचीन देव सम्बन्धी कथाओं के तुलनात्मक शास्त्र की अमूल्य सामग्री है।

षष्ठ अध्याय में इन्द्र, वरुण, इत्यादि वैदिक देवताओं का वर्णन है। सप्तम अध्याय में भी वेद और वेदान्त पर विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत और भी कई विषयों

पर गम्भीर विचार किये गए हैं। वेदों की हस्तलिखित पुस्तकें न मिलने से यह न समझना चाहिए कि प्राचीनकाल में हिन्दू लिखना ही नहीं जानते थे, परन्तु यह सत्य है कि विद्यार्थियों को हस्त-लिखित पुस्तकों से वेद नहीं पढ़ाये जाते थे, किन्तु उन्हें आचार्य्य के मुख से सुनकर कण्ठ करने पड़ते थे। जिसका शुभ परिणाम यह है कि वेद के शुद्ध पाठ में ग्रीक और लैटिन की हस्त-लिखित पुस्तकों की तरह पाठ-दोष नहीं आने पाये हैं। आगे चलकर मैक्समूलर साहब वेदों में तीन धर्म अथवा वेदरूपी मन्दिर के तीन भाग बतलाते हैं "एक कवियों का, दूसरा नबियों का, तीसरा तत्ववेत्ताओं का"। लेख बढ़ जाने के भय से यहां पर इन सब विषयों का विवरण नहीं दिया जाता। वेदों की महिमा अपार है।

"जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"। अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशुद्धाद्वैत, द्वैत, इत्यादि सब मतों के आचार्य्य अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों में प्रमाण दिखलाते हैं। मन्त्रोंके अर्थों पर भी बहुत कुछ मतभेद है। मैक्समूलर साहब ने जो अर्थ किए हैं उनसे भारत के बहुत से विद्वान् सहमत नहीं हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने उनको ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश में बहुत कड़ी बातें सुनाई हैं। जिस समय विलायत में मैक्समूलर साहब वेदों पर लेख लिख रहे थे और सायण-भाष्य-सहित उनका प्रकाशन कर रहे थे, उसी समय भारतवर्ष में आर्य्यसमाज के प्रभावशाली संस्थापक स्वामी जी मृतप्राय हिन्दू समाज में नवीन शक्ति का सञ्चार कर रहे थे और वेदों के पठन पाठन के लिए उन्हें उत्तेजित कर रहे थे। इन दोनों शक्तियों

का फल यह हुआ कि वेदों के अर्थ की तरफ विद्वानों का ध्यान गया और उन पर पूर्णतया विचार होने लगा। लोकमान्य तिलक ने तो पश्चिम देशीय विद्वानों का मत बिलकुल खण्डन करके ज्योतिष के प्रमाणों से वेदों का काल दश हज़ार वर्ष से ज़्यादह का अपने 'ओरियन' नामक ग्रन्थ में साबित कर दिखाया और फिर आर्य-जातियों के मध्य एशिया के आदिम स्थान वाले सिद्धान्त को अपने 'आरक्टिक होम इन् दी वेदाज़' (Arctic Home in the Vedas.) नामक ग्रन्थ में बड़ी युक्तिपूर्ण रीति से खण्डन करके यह प्रमाणित किया है "कि उत्तरीय ध्रुव के आस पास सबसे प्रथम आर्य्य-जाति का निवास स्थान था"। जिस भाव को लेकर वेदों का अध्ययन किया जावे उसी प्रकार उसका फल भी मिलता है। इसलिए यदि प्रोफेसर मेक्समूलर को उनमें बहुत ऊँचे दर्जे की कविता या बहुत ऊँचे दर्जे का ज्ञान न मिला और विशेष भाग प्राचीन देव सम्बन्धी कहानियों से भरा मिला तो क्या आश्चर्य है। परन्तु तो भी उनको वेदान्त वाक्यों का अस्तित्व वेदों में मानना पड़ा है। वेदान्त और अद्वैत मत के विषय में मेक्समूलर ने इस ग्रन्थ में बहुत कम लिखा है, क्योंकि यह ग्रन्थ ऐसे लोगों के लिए बनाया गया था, जिनको इस विषय के जानने की विशेष इच्छा अथवा रुचि न थी। इस लिए वे उसके अधिकारी भी न थे। इस विषय को मेक्समूलर साहब ने अपने सन् १८९० और १९०० के बीच के लिखे हुए दो ग्रन्थों में भली प्रकार प्रतिपादित किया है। एक का नाम है "वेदान्त पर तीन व्याख्यान" (Three lectures on Vedant) और दूसरे का नाम है, "हिन्दुओं के षड्दर्शन शास्त्र" (Six schools of Hindu Philosophy)। दोनों पुस्तकें इस गम्भीर विषय को भली

प्रकार समझाती हैं और संस्कृत न जानने वालों के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। परन्तु इस विषय पर मेक्समूलर ने इस पुस्तक में भी संकेत किया है और निष्पक्ष जर्मन विद्वान् शापिनहार का उपनिषदों के विषय में जो मत है, उसे अपनी पुस्तक के समाप्त करने से पहले उद्धृत करके इस उपदेशपूर्ण ग्रन्थ की शोभा को बढ़ाया है। वे वाक्य इस तरह पर हैं:—
" संसार भर में किसी भी पुस्तक का पढ़ना इतना उपयोगी और उन्नतिप्रद नहीं है जितना कि उपनिषदों का पढ़ना। इसी से मुझे जीवन में सुख मिला है। इसी से मुझे मृत्यु में सुख मिलेगा "। भारत का संसार को यही असली संदेश है। जो ज्ञान उपनिषदों में वर्णित है, जो उपदेश उपनिषदों में दिया गया है, उस पर श्रद्धा और विश्वास करने से जीवन सुखमय हो जाता है। इस उपदेश को मानने से संसार में भी रहते हुए मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता और संसार के सब काम करते हुए भी उसकी वृत्ति सतोगुणी होजाती है। वह सब जगत् को वासुदेवमय देखता है, उसके चित्त से वैर-भाव निकल जाता है; और उसका मन प्रेममय हो जाता है। इस प्रकार की रहन-सहन तभी हो सकती है जब महात्मा कबीर का यह वाक्य सदा हमारे ध्यान में रहे,

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहे पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलें नाहिं॥

बीकानेर
३०-४-२५

प्यारेलाल चतुर्वेदी
(एम. ए. एल एल. बी. रायबहादुर)

संसार को भारत का सन्देश ।

प्रथम अध्याय ।

भारतवर्ष से हम क्या सीख सकते हैं ?

ब मेरे पास इंडियन-सिविल-सर्विस के विद्यार्थियों के समक्ष कुछ व्याख्यान देने के लिए कैम्ब्रिज - विश्वविद्यालय की इतिहास-प्रचारक-संस्था का निमंत्रण आया तो मैं कुछ देर तक यह सोचता रहा कि क्या यह सम्भव है कि मैं थोड़े से व्याख्यानों द्वारा उनको कोई ऐसी लाभदायक बात बता

सकूँगा जो उन्हें अपनी परीक्षा पास करने में सहायक हो सके। इस समय तो विश्वविद्यालयों का-मुख्य वल्कि सम्पूर्ण उद्देश्य लड़कों को परीक्षा पास कराने का ही मालूम होता है। फिर, इंडियन-सिविल-सर्विस परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए परीक्षा अच्छी तरह पास करना जैसा आवश्यक है वैसा और किसी विषय के विद्यार्थियों के लिए नहीं है।

यद्यपि मैं इस वात को भलीभाँति जानता था कि जैसे व्याख्यान मैं दे सकता हूँ उनके सुन लेने से उन विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता जो लन्दन नगर की तीन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए पूरे तैयार नहीं हैं, तथापि मैंने यह विचार किया कि विश्वविद्यालय केवल परीक्षा ही पास कराने की सीढ़ियाँ नहीं हैं, वल्कि उन्हें कुछ वास्तविक लाभदायक चीज़ भी सिखाना आवश्यक है। मेरी सम्मति में उनका उद्देश्य ऐसी वात सिखाना है जिसका चाहे परीक्षा देने-वालों के सामने कुछ भी मूल्य न हो, तव भी उसकी असली क़ीमत ऐसी हो जो हमारे समस्त जीवन के लिए उपयोगी हो।

कार्य करने में सच्ची रुचि, सच्ची प्रीति, और सच्ची प्रसन्नता यही है। यदि विश्वविद्यालय यह कर सके और उन नव-युवकों के हृदयों में इस जीवन का अंकुर रख सके जो यहाँ पढ़ने और जीवन-संग्राम के लिए तैयार होने अथवा प्रतिदिन घटना-शून्य अविरताभ्यास जीवन के प्रश्न को हल करने आये हैं, तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि विश्वविद्यालय अपने विद्यार्थियों को कठिन परीक्षाओं के पास कराने में और

सीनियर, रैंगलर अथवा प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों में उच्चतम स्थान लेने में योग देने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ पहुँचा सकेगा।

दुर्भाग्य-वश निरन्तर परीक्षाएँ पास करने का कार्य अर्थात् याददाश्त लादने और ठूँसने का कार्य जो इस समय अन्तिम सीमा पर पहुँच गया है, वाञ्छित फल के विरुद्ध परिणाम उत्पन्न करता है और काम करने की रुचि पैदा करने के बदले एक प्रकार की उदासीनता ही नहीं, बल्कि एक प्रकार की मानसिक घृणा उत्पन्न कर देता है, और ऐसी घृणा जो जीवन-पर्यन्त नहीं जाती है।

इस बात का जितना डर इंडियन-सिविल-सर्विस के विद्यार्थियों के लिए है, उतना और किसीके लिए नहीं। जब ये विद्यार्थी सिविल-सर्विस की प्रवेशिका परीक्षा पास कर लेते हैं और इस बात का प्रमाण दे चुकते हैं कि उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है और वे प्राचीन साहित्य, इतिहास और गणितादि विषयों से परिचित हो गये हैं जो उन्हें पबलिक स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं और जो भविष्यत् में किसी विशेष विषय या औद्योगिक शिक्षा की नींव डालते हैं तो वे अपने को अपने पुराने पठित विषयों और पुराने मित्रों से अकस्मात् पृथक् हुए पाते हैं और वे ऐसे नये नये विषय लेने को बाध्य होते हैं जो उनमें से बहुतों को अद्भुत, अशिष्ट और अप्रिय मालूम होते हैं। इन्हें अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि भयङ्कर आवश्यकता के कारण ऐसी ऐसी चीज़ें याद करनी पड़ती हैं जो सब तरह से अजीब और निराले ढँग की हैं; जैसे, नये

नये ढङ्ग की वर्णमालाएँ, नई नई भाषाएँ, नये ढङ्ग के नाम, नये ढङ्ग का साहित्य और अजीब तरह के क़ानून। उनके लिए दो वर्ष का पाठ्य क्रम बाँध दिया जाता है, पाठ्य विषय नियुक्त कर पुस्तकें नियत कर दी जाती हैं और परीक्षाएँ नियमबद्ध कर दी जाती हैं। यदि कोई विद्यार्थी इस पटेबाज़ी के अखाड़े में दुर्घटना बचाकर दूसरा हाथ सफ़ाई से चलाना चाहे, तो उसे दायें-बायें देखने का अवसर ही नहीं है।

मैं जानता हूँ कि यह बात अनिवार्य है। यदि परीक्षाएँ विचार-पूर्वक व्यवस्थित की जाँय, तो मैं इनके विरुद्ध नहीं हूँ। स्वयं एक पुराना परीक्षक होने से मैं कह सकता हूँ कि इन परीक्षाओं के अवसर पर गढ़ी-गढ़ाई विद्या की जो मात्रा प्रकट होती है वह मेरे विचार में पूरी आश्चर्य-जनक और कौतूहलोत्पादक है। परीक्षा-प्रश्नों के उत्तरों में घटना-तिथियों की लड़ें की लड़ें, राजाओं की नामावलियाँ और उनकी लड़ाइयों की सूची, अनियमित क्रियाओं के पुञ्ज, गणित-अङ्कों के कोठे के कोठे और ईश्वर जानें क्या क्या बखेड़े काग़ज़ पर लिखे जाते हैं; परन्तु क्या कभी आप यह विचार कर सकते हैं कि जो काम लड़कों को करना पड़ता है उसमें उनका कभी मन भी लगता है? प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त विस्तृत और लम्बे-चौड़े होते हैं। उनमें मौलिक विचारों की एक झलक भी नहीं दिखाई देती है और न उनमें कोई ऐसी ही ग़लती मिलती है जिससे लड़के की बुद्धि का विचार-विकास मालूम हो। यह सब काम ठेलाठाली से होता है। मान लीजिये कि यह काम कर्त्तव्य ही समझकर किया

आता है, तौभी यह तो आपको अवश्य ही कहना पड़ेगा कि यह परिश्रम प्रेम-पूर्वक नहीं किया जाता है।

इसका क्या कारण है कि ग्रीक और लैटिन की शिक्षा, यूनान और इटली की कविता, उनके दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और कलाकौशल-सम्बन्धी शिक्षा हमें इतनी प्रिय है ? उनके सम्बन्ध में हमें उत्साह और सन्मान के भाव क्यों उत्पन्न होते हैं ? संस्कृत भाषा की शिक्षा, भारतवर्ष की प्राचीन कविता, उसके दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र-सम्बन्धी शिक्षा हमें क्यों विलक्षण मालूम होती है और अधिकांश मनुष्य उसे क्यों व्यर्थ, अनुपयोगी बल्कि अरोचक समझते हैं ?

आश्चर्य की बात है कि ऐसे भाव और किसी देश में नहीं, बल्कि इँगलैंड में प्रचलित हैं। फ्रांस, जर्मनी, इटली बल्कि डेनमार्क, स्वीडन और एशिया में भी भारत के नाम से एक तरह के जादू का सा असर होता है। जर्मन भाषा में एक अति सुन्दर महत्वपूर्ण काव्य र्‌यूकर्ट (Ruckert) साहब का बनाया हुआ है। इसका विषय ब्राह्मण-प्रतिपादित ज्ञान है। मेरी सम्मति में यह पुस्तक गेटे (Goethe) की West-Ostlicher Divan नामक पुस्तक से भी अधिक विचारपूर्ण और सुसङ्कलित है। जर्मनी में जो विद्वान् संस्कृत पढ़ता है उसे लोग प्राचीन विद्या के गम्भीर और जटिल रहस्यों से सुपरिचित समझते हैं और जो मनुष्य भारतवर्ष की यात्रा कर आता है, चाहे उसने इस यात्रा में केवल कलकत्ता, बम्बई और मद्रास ही देखे हों, उसकी बातें

एक दूसरे मार्कोपोलो के समान श्रद्धापूर्वक सुनी जाती है। इसके विपरीत इँगलैंड में जो संस्कृत पढ़ता है उसे लोग एक असामयिक बकवादी समझते हैं और उसकी बात सुनने में ऊब जाते हैं। जब कोई इंडियन-सिविल-सर्विस का पुराना कर्मचारी ऐलीफ़ेन्टा की गुफ़ा, पारसियों के श्मशान आदि की आश्चर्यजनक बातें कहने लगता है तो लोग उसे गप्पी समझते हैं।

कुछ थोड़े प्राच्य-विद्या-विशारद विद्वान् ऐसे अवश्य हैं जिनकी पुस्तकें पढ़ी जाती हैं और जिनकी ख्याति इँगलैंड में भी है; क्योंकि ये वास्तव में असाधारण बुद्धि-चमत्कार के मनुष्य हैं। इनका स्थान देश के महान् प्रतिभा-शाली पुरुषों में होता, यदि दुर्भाग्यवश ये अपने चित्तोत्साह को भारतीय साहित्य की ओर ही न लगा देते। मेरा अभिप्राय सर विलियम जोन्स से है, जिन्हें डाक्टर जोन्स ने 'मनुष्य-सन्तान में एक परम सभ्य और सुशिक्षित पुरुष' कहा है और टामस कॉलब्रुक से है। परन्तु, दूसरों के नाम जिन्होंने अपने समय में अच्छा कार्य किया है अर्थात् ऐसे विद्वानों के नाम जैसे, वेलेनटाइन, बुखनन, कैरे, क्राफ़र्ड, डैविस, इलियट, ऐलिस, हौटन, लैडिन, मेकैनज़ी, मार्सडन, म्यौर, प्रिन्सप, रैनिल, टर्नौर, उफंम, वालिश, वारिन, विलकिन्स, विलसन और बहुतसे अन्य विद्वानों के नाम प्राच्य-विद्या-विशारद विद्वानों के सिवा और कोई नहीं जानते हैं और उनके ग्रन्थ उन पुस्तकालयों तक में जिनका उद्देश्य इँगलैंड में साहित्य और विज्ञान की सभी मुख्य शाखाओं के ग्रन्थ पूर्णतया रखने का है ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते।

अनेक बार पहले जब मैंने नव-युवकों को संस्कृत पढ़ने को कहा हैं, तो उन्होंने मुझसे यही प्रश्न किया कि संस्कृत पढ़ने से क्या फ़ायदा है ? शकुन्तला, मनुस्मृति, हितोपदेश एवं अन्यान्य पढ़ने-योग्य संस्कृत-पुस्तकों के अनुवाद मौजूद हैं। माना कि कालिदास की कविता मनो-हारिणी है; मनु के धर्म-सम्बन्धी नियम विलक्षण हैं; और हितोपदेश की कहानियाँ भी आश्चर्यजनक हैं। तब भी संस्कृत-साहित्य का ग्रीक-साहित्य से मुक़ाबिला नहीं हो सकता है और न हमारे लिए यही उपदेश हो सकता है कि संस्कृत-वाक्यों की नक़ल और उनका सम्पादन ही किया करें। इन वाक्यों में ऐसी कोई बात नहीं है जिसे हम पहले से न जानते हों। यदि उनमें कोई नई बात है भी, तो वह ऐसी है कि जिसके जानने की हमें आवश्यकता नहीं है।

यह विचार बहुत भ्रम-पूर्ण है और इस भ्रम को हटाने और कम करने की चेष्टा मैं अपने व्याख्यानों द्वारा करूँगा। संस्कृत-साहित्य ग्रीक-साहित्य जैसा ही अच्छा है, इस बात के सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करूँगा। हमें हमेशा वस्तुओं की तुलना करने की आवश्यकता ही क्या है ? ग्रीक-साहित्य के अध्ययन करने का उद्देश्य कुछ और है और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का कुछ और; परन्तु मुझे इस बात का विश्वास है और आपको भी विश्वास दिलाने की आशा करता हूँ कि यदि संस्कृत-साहित्य ठीक रीति से पढ़ा जाय, तो उसमें मनुष्यों के लिए बहुतसी चित्ताकर्षक बातें हैं और बहुतसी ऐसी भी शिक्षाप्रद बातें हैं जो हम ग्रीक-साहित्य से भी नहीं सीख सकते। यह ऐसा विषय है

जिसमें इंडियन-सिविल-सर्विस-वालों को अपना ख़ाली समय ही नहीं, बल्कि कामकाज का समय भी अच्छी तरह लगाना उचित है। यही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा उन नव-युवकों को जिन्हें अपने जीवन के २५ वर्ष भारतवर्ष में व्यतीत करना है, भारतवासियों के मध्य में रहते हुए घर का सा आराम मिल सकता है और जिससे उन्हें अपने साथ काम करने-वालों के प्रति उनके एक सहकारी के से भाव, न कि एक विदेशी के से भाव उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे नव-युवकों के लिए, यदि वे करना चाहें तो, एक अत्यन्त उपयोगी और बहुत रोचक काम करने के लिए उपस्थित है। ऐसा बढ़िया ज्ञान उन्हें न तो इटली या यूनान में मिल सकता है और न मिश्र के प्राचीन स्तूपों में या बाबुल के राजभवनों में ही प्राप्त हो सकता है।

अब आप समझ सकेंगे कि मैंने अपने व्याख्यानों का नाम "भारत से हम क्या सीख सकते हैं?" अथवा "संसार को भारत का सन्देश" क्यों रक्खा है? यह सच है कि भारत-वासी हमसे बहुतसी बातें सीख सकते हैं; परन्तु कुछ ऐसी परमावश्यक बातें हैं जिन्हें हम भारतवर्ष से ही सीख सकते हैं।

यदि समस्त भूमंडल पर दृष्टि डालकर मैं ऐसे देश की तलाश करूँ जो प्राकृतिक शोभा, शक्ति और वैभव में सबसे अधिक अलंकृत ही नहीं, पृथ्वी पर बहुतसी बातों में स्वर्ग के समान हो, तो मैं भारतवर्ष ही को बता सकता हूँ। यदि मुझसे यह पूछा जाय

कि किस देश में मानव-बुद्धि का उच्च से उच्च विकाश हुआ है, जीवन के जटिल से जटिल प्रश्नों पर गम्भीर से गम्भीर विचार हुए हैं और उन प्रश्नों में से कुछको हल भी कर लिया है और हल इस योग्यता से किया है कि जिन्होंने अफलातून (Plato) और कान्ट के ग्रन्थ पढ़े हैं उनको भी इनपर अच्छी तरह ध्यान देना आवश्यक है तो फिर भी मेरा यही उत्तर होगा कि ऐसा देश भारत-वर्ष ही है। यदि मुझसे पूछा जाय कि ऐसा साहित्य कौनसा है जिससे हम यूरोपवासी, जिनकी शिक्षा का मूलाधार केवल यूनान, रोम और सेमिटिक जाति में से यहूदियों के विचारों पर ही रहा है, उस संशोधक साधन को प्राप्त कर सकते हैं जिसके द्वारा हम अपने आभ्यन्तरिक जीवन को अधिकतर उदार, परिपक्क, विस्तृत अर्थात् सच्चा मानवीय बना सकते हैं, ऐसा जीवन जो इसी लोक के लिए नहीं बल्कि एक अटल, शाश्वत और शुद्ध दैवी पार-लौकिक जीवन हो, तो फिर भी मैं उत्तर में भारतवर्ष को ही बताऊँगा।

मेरी यह बात सुनकर आपको आश्चर्य होता होगा। मैं यह भी जानता हूँ कि जिन लोगों ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि में बहुतसे वर्ष व्यतीत किये हैं उनको इस विचार पर और भी अधिक आश्चर्य होगा कि जिन आदमियों को उन्होंने बाज़ारों में, अदालतों में अथवा मेलों में देखा है उनसे हम कोई शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

उन महोदयों से जो भारतवर्ष में वर्षों तक

कर्मचारी, पदाधिकारी, पादरी या व्यापारी होकर रहे हैं और जो उस देश के विषय में मुझसे जिसने कभी उस देश में पैर भी नहीं रक्खा है बहुत अधिक जानते हैं, पहले ही कह देना चहिए कि हम दो पृथक् पृथक् भारतवर्षों का हाल कह रहे हैं। मेरी दृष्टि में विशेषतः वह भारतवर्ष है जो एक हज़ार, दो हज़ार बल्कि तीन हज़ार वर्ष पुराना है और वे वर्तमान भारतवर्ष से परिचित हैं—वे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास अथवा बड़े बड़े नगर-वाले भारतवर्ष का ज़िक्र करते हैं; किन्तु मैं उस भारतवर्ष का ज़िक्र करता हूँ जिसमें ग्राम-समूह हैं और जो वास्तव में भारतवासियों का भारतवर्ष है। मैं भारतवर्ष के शासन-मंडल के कर्मचारियों को यही बताना चाहता हूँ कि यदि आप भलीभाँति देखें तो हज़ार, दो हज़ार अथवा तीन हज़ार वर्षों का प्राचीन भारतवर्ष-बल्कि आजकल का भारतवर्ष भी ऐसे रहस्यों से भरा हुआ है जिन्हें जानकर हम १९ वीं शताब्दी के यूरोप के रहने-वाले भी लाभ उठा सकते हैं।

यदि यहाँ इँगलैंड में आपके चित्त की झुकावट किसी विषय की ओर हुई है तो उसे पूरा करने के लिए आपको भारतवर्ष में बड़ा अच्छा अवसर है। जिस किसीने उन बड़े बड़े प्रश्नों में जिन्हें हल करने में यहाँ के बड़े बड़े विचारवान् और कर्त्तव्य-शील मनुष्य लगे हुए हैं दिलचस्पी दिखाई है, तो उसके लिए हिन्दुस्थान परदेश नहीं है। यदि आपको भूगर्भशास्त्र में रुचि है तो आपके लिए हिन्दुस्थान में हिमालय से लंका तक काम करने का

अवसर है। यदि वनस्पति-शास्त्र में आपका अनुराग है तो हूकर साहब जैसे अनेक उत्साही पुरुषों के लिए वनस्पति विषय वहाँ बहुत कुछ है। यदि आप प्राणि-शास्त्र के जानकार हैं तो हैकिल साहब की ओर देखिए, जो भारतवर्ष के वनों में फिर रहे हैं और भारतीय समुद्रों में खोज कर रहे हैं और जो भारतवर्ष में रहना अपने जीवन के उच्चतम उद्देश्य की सफलता समझते हैं। यदि आप मनुष्य-जाति-सम्बन्धी विषयों में अनुराग रखते हैं, तो भारतवर्ष को इन विषयों की एक जीती-जागती प्रदर्शनी समझनी चाहिए। यदि आप पुरातत्व-शास्त्र के अनुरागी हैं और कभी आपने इँगलैंड में किसी प्राचीन खंदक के खोजने में भाग लिया है और उस स्थान पर कोई प्राचीन चाकू, चकमक पत्थर का टुकड़ा या और कोई ऐसी चीज़ पाई है और उसके मिलने की खुशी को जानते हैं तो आप भारतवर्ष के पुरातत्व-विभाग की जनरल कनिंघम की लिखी वार्षिक रिपोर्ट पढ़ें। इसके पढ़ने ही से आप उस अवसर की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब आप स्वयं फावड़ा हाथ में लेकर भारतवर्ष के बौद्ध राजाओं के बनाये हुए प्राचीन विहार या विद्यालयों को खोदकर निकालें।

यदि कभी आपने सिक्के इकट्ठे करने से मनो-विनोद किया है तो भारतवर्ष में ईरानी, कैरियन, थ्रेसियन, पार्थियन, यूनानी, मैसेडानियन, सीरियन, रोमन * और

* प्लीन लेखक लिखता है कि उसके समय में भारतवर्ष से अमूल्य वस्तुएँ आने के बदले भारतवर्ष को ५५ करोड़ सीस्टर चाँदी

मुसलमानी सिक्के सभी प्रकार के मिलते हैं। जब वारन-हेस्टिंग्ज़ गवर्नर-जनरल थे तब उन्होंने बनारस प्रान्त में एक नदी के तट पर एक मिट्टी का बर्तन पाया था जिसमें १७२ मोहरें थीं जिन्हें डैरिक्स [*] कहते हैं। उन्होंने इन प्राचीन सिक्कों को अपने मालिक कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स को भेंट कर दिया। इस भेंट को उन्होंने (अर्थात् वारन-हेस्टिंग्ज़ ने) अपनी शक्ति के अनुसार सबसे अधिक मूल्यवान् समझा था। ऐसा सुना गया है कि ये सिक्के गला डाले गये। यह बात तो सच्ची है कि जब वारन-हेस्टिंग्ज़ विलायत लौटे तो इन सिक्कों का लोप हो गया था। ऐसे ऐसे जङ्गलीपन के कामों का रोकना अब तुम्हारे हाथ है।

बंगाल-एशियाटिक-जरनल के पिछले अङ्कों में से एक में आप एक ऐसे ख़ज़ाने का हाल पढ़ेंगे जिसका मूल्य सोने के सिक्कों से भी अधिक है और जिसका महत्त्व उतना ही है जितना उन ख़ज़ानों का है जो मैकनी स्थान पर पुरानी क़बरों को खोदते समय डाक्टर सिलीमैन को मिले थे। मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैकनी स्थान में जो ख़ज़ाने मिले हैं उनसे इनका भी सम्बन्ध है। खेद है कि इँगलैंड में इस बात पर किसीने ध्यान ही नहीं दिया।

इस समय पुराण-शास्त्र का रूप कुछ और ही

सोने के भेजे जाते थे। —इन्डियन व लहार ई० टामस कृत ग्रन्थ का १३ वाँ पृष्ठ ।

[*] बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के १८२१ के जरनल में कनिंघम लिखित लेख, १८४ सफ़े पर, देखिए।

होगया है और इसका कारण यही है कि इसपर भारतवर्ष की प्राचीन वैदिक कथाओं का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। पुराण-सम्बन्धी इस शास्त्र की अभी नींव ही पड़ी है। इसका पूर्ण सङ्कलन भारतवर्ष के सिवा और कहीं नहीं हो सकता है।

कहानी-क़िस्सों के विषय को भी भारतवर्ष से नया जीवन मिला है। वहाँ से बहुतसी कहानियों का विविध समयों पर कई भाँति से पूर्व से पश्चिम में आना सिद्ध हुआ है।* हमारी कथा-कहानियों का प्रधान स्रोत बौद्ध मालूम हुआ है। इस सम्बन्ध में अभी बहुतसी बातें मालूम करना है। उदाहरणतः शेर की खाल में गधे की कहानी + जो प्लेटो के कैर्येलस ग्रन्थ में

* कहानियों के आने-जाने का हाल अधिक जानना हो तो मेक्समूलर साहब के "सिलैक्टेड ऐसेज़" नाम की पहली जिल्द में ५०० वाँ पृष्ठ देखिए।

+ हितोपदेश में यह कहानी इस तरह है—

एक खेत-वाले ने अपने भूखे गधे को किसी खेत में चरने को भेजा और रक्षा के लिए शेर की खाल पहिना दी। वह इस तरह बराबर पेट भरता रहा। एक दिन एक चौकीदार ख़ाकी कपड़े पहिने हुए शेर की शिकार करने आया। गधे ने उसे अपने रङ्ग की गधैया समझा और उसे देखकर रेंकने लगा। शिकारी ने उसे उसी वक्त मार डाला। ऐसी कहानी यूसफ़ फेबिल्स नामक किताब में भी है। बैनफे कृत पंचतंत्र की पहली जिल्द का ४६३ वाँ सफ़ा देखिए। इसी कहानी के सम्बन्ध में मैक्समूलर की सिलेक्टैड ऐसेज़ नामक पुस्तक की पहली जिल्द का ५१३ वाँ पृष्ठ देखिए।

आई है, विचार करने-योग्य है। क्या ये कहानियाँ पूर्वी देशों से ले ली गई हैं? उस कहानी को देखिए जिसमें ५फो७।३८ देवता ने एक नेवले को स्त्री बना दिया था। वह स्त्री चूहे को देखते ही उसपर झपटने से अपने को नहीं रोक सकी। यह कहानी भी एक संस्कृत-व्याख्यान का रूप है। यही निश्चय करना है कि वह ईसा से ४०० वर्ष पहले यूनान देश के स्ट्रेटिस कवि के सुखान्त नाटकों में कैसे आगई। इस सम्बन्ध में भी बहुत कुछ खोज करनी बाकी है।

यदि हम इससे भी प्राचीन समय का हाल पढ़ें तो हमें पश्चिमी देशों की और भारतवर्ष की बहुतसी कहानियों में आश्चर्यजनक समता मालूम होगी। यह नहीं कह सकते हैं कि ये कहानियाँ पूर्वी देशों से पश्चिमी देशों में आई या पश्चिमी देशों से पूर्वी देशों में गईं। सुलेमान बादशाह के समय में भारतवर्ष, सीरिया और पेलेसटाइन देशों में परस्पर व्यवहार होना निश्चित रूप से प्रमाणित होचुका है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि बाइबिल में ओफिर स्थान से आनेवाली चीज़ों के नाम संस्कृत में हैं। ये चीज़ें ऐसी हैं, जैसे हाथी-दांत, बन्दर, मोर, चन्दन इत्यादि, जो सिवा भारतवर्ष * के और किसी देश से जा ही नहीं सकती थीं।

* इस विषय में मैक्समूलर साहब की बनाई हुई "साइन्स आफ़ लेंग्वेज" नामक पुस्तक का १८६ वाँ पृष्ठ देखिए।

कोई ऐसा कारण नहीं मालूम हुआ है जिससे यह ज्ञात हो कि जिस समय बाइबिल में बुक ऑफ़ किंग्ज़ नामक स्थल लिखा गया था उस समय भारतवर्ष, ईरान की खाड़ी, लाल समुद्र और भूमध्यसागर के पारस्परिक व्यापार में कोई बाधा पड़ी हो।

आपको शायद सुलेमान बादशाह का किया हुआ फ़ैसला मालूम होगा। यहूदियों में यह फ़ैसला प्रकाण्ड क़ानूनी अक़्ल के प्रमाण में है।*

मुझमें क़ानूनी माद्दा नहीं है; परन्तु जब मैं सुलेमान का फ़ैसला पढ़ता हूँ तो मुझे कपकपी सी लगने लगती है। वह फ़ैसला यह है कि "बच्चे के दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा दोनों को दे दो"। अब मैं आपसे कहता हूँ कि यही कहानी बौद्ध धर्म की पुस्तकों में भी है जिसमें ऐसी २० अनेक शिक्षाप्रद कहानियाँ और कथाएँ हैं। बुद्ध-धर्म की त्रिपठिका पुस्तक के तिब्बती भाषा के अनुवाद में जिसका नाम कंजूर है दो स्त्रियों की कहानी है, जिनमें से प्रत्येक एक ही बच्चे की माँ होने का झगड़ा करती हैं। राजा ने दोनों के झगड़े की बात बहुत देर तक सुनी। बच्चे की असली माँ कौन है इस बात के जानने से निराश होकर उसने इस मामले को छोड़ दिया। तब विशाखा ने आगे बढ़कर कहा कि इन स्त्रियों से विशेष पूछताछ करने का

* बाइबिल में किंग्ज़ नामक तीसरी पुस्तक में २५ वाँ विषय-भाग देखिए।

क्या प्रयोजन है, स्त्रियाँ बच्चे को ले जाकर अपने-आप फ़ैसला कर लें। यह सुनकर दोनों स्त्रियाँ बच्चे पर झपटीं, और जब दोनों में खूब छीनाझपटी हुई तो बच्चे को चोट लगी और वह रोने लगा। उनमें से एक स्त्री ने उसे छोड़ दिया; क्योंकि वह बच्चे का रोना नहीं सह सकती थी। इस बात से इस झगड़े का फ़ैसला हो गया। राजा ने असली माँ को बच्चा दे दिया और दूसरी को निकाल दिया। मेरी समझ में इस कहानी में अधिक स्वाभाविकता है। इससे मानव-स्वभाव का अधिक परिचय होता है, और इसमें सुलेमान की बुद्धिमत्ता से भी अधिक बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। *

आपमें से बहुतोंने भाषाएँ ही नहीं पढ़ी हैं, वरन भाषा-विज्ञान भी पढ़ा है। क्या इस शास्त्र-सम्बन्धी आवश्यक समस्याएँ और किसी देश में ऐसी अच्छी तरह हल की जा सकती हैं जैसे कि भारतवर्ष में? वे समस्याएँ ये हैं—प्रान्तीय भाषाओं की उत्पत्ति और अवनति, भाषाओं का आपस में मिलना, केवल उनके शब्दों ही का मिलना नहीं, बल्कि उनके व्याकरणीय मूल नियमों का मिलना भी जो उस समय में हुआ था जब भारत की आर्य, द्रविड़,

* इस विषय में राइज़ डैविडन-कृत "बुद्ध की जन्म-कथा" नामक पुस्तक के १३ और ४४ पृष्ठ देखिए। ग्रन्थकर्त्ता इसी कहानी को जातक के सिंघाली अनुवाद के आधार पर दूसरी तरह लिखते हैं। यह अनुवाद १४ वीं सदी में हुआ था। वे यह भी लिखते हैं कि असली पाली की पुस्तक डाक्टर फ़ौस बौल जल्दी छापनेवाले हैं।

मुन्द जातियाँ, यूनानी, यूची, अरब, ईरानी, मुग़ल और अँगरेज़ आक्रमण करनेवाले और विजय करनेवालों से मिली थीं।

यदि आप धर्म-शास्त्र के पढ़नेवाले हैं तो भारत के धर्म-शास्त्र का इतिहास जिसकी खोज करनी है यूनान, रोम, जर्मनी आदि देशों के धर्म-शास्त्रों के इतिहासों से भिन्न है और यह भिन्नता उसकी समता और विलक्षणता की बातें हैं जो तुलनात्मक दृष्टि से धर्म-शास्त्र के पढ़नेवालों के लिए बड़े काम की हैं।

प्रत्येक वर्ष नई सामग्री मिलती है, उदाहरणतः धर्म या सामयाकारक सूत्र जिनके आधार पर पद्यात्मक धर्म-ग्रन्थ जैसे मनुस्मृति इत्यादि लिखे गये हैं। पहले जिले मनु-धर्मशास्त्र बतलाते थे और जो ईसा से १२०० वर्ष या कम से कम ५०० वर्ष पहले का कहा जाता था वह अब ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी का बना हुआ कहा जाता है और वह असली मनु-धर्मशास्त्र नहीं माना जाता है।

यदि आपको सामाजिक नियमों के संगठन होने के पहले की बातें खोज निकालने की इच्छा है जिनकी खोज हाल में ही की गई है, अर्थात् उन बातों की जिनसे समाज का पहले-पहल स्थापित होना और बढ़ना मालूम होता है, तो आपको इन बातों के जानने का सबसे अच्छा अवसर भारत-वर्ष की पंचायत समितियों में मिलेगा और इस विषय में आप जो कुछ खोज करेंगे उसका सन्तोषदायक फल होगा।

अच्छा, अब उस विषय को लीजिए जिसको हम अपने जीवन में सबसे बड़ा गिनते हैं, चाहे इस बात को हम कहें या न कहें, ऐसा विषय जिसकी उन लोगों को और भी अधिक परवाह होती है जो उ. नहीं मानते हैं । यह ऐसा विषय है जो हमारे कार्यों और विचारों को बताता है और जिसके आधार पर ये निर्धारित ही नहीं हैं, बल्कि प्रकट होते हैं यह ऐसा विषय है जिसके प्रभाव के बिना न कोई गाँव की पंचायत है, न राज्य है, न मर्यादा है, न न्याय है, न सत्य है और न झूँठ है। यह ऐसा विषय है जो, भाषा के सिवा, मनुष्य और पशु में स्पष्ट और दृढ़ भेद स्थापित कर देता है और जिसके द्वारा हमारा जीवन रहने-योग्य बनता और जो मनुष्य के जीवन का गम्भीर से गम्भीर और गुप्त से गुप्त स्रोत है और जातीय जीवन का अन्तिम आधार है, और जो इतिहासों का इतिहास और रहस्यों का रहस्य है। यह विषय है, धर्म। धर्म-विषय की उत्पत्ति, वृद्धि और अवनति का इतिहास भारत-वर्ष के सिवा और किसी देश में आप नहीं पढ़ सकते हैं। भारतवर्ष ब्राह्मण-धर्म का घर है, बौद्ध-धर्म का उद्गम-स्थान है, पारसी-धर्म का शरणागार है और नये नये विचारों का स्थान है और जब उन्नीसवीं शताब्दी की झंझटें मिट जावेंगी, तो वह भविष्य में पवित्र से पवित्र धर्म का स्थान होगा ।

तुम भारतवर्ष में अपने लिए अत्यन्त प्राचीन भूत-काल और अत्यन्त विस्तृत भविष्यत्काल के बीच में पाओगे और तुम्हें वहाँ ऐसे अवसर प्राप्त होंगे जो पुरानी दुनियाँ में कभी नहीं मिल सकते हैं ।

कोई भी प्रश्न क्यों न लो जो आजकल बड़ी हल-

चल मचा रहा हो— उदाहरणतः सार्वजनिक शिक्षा, उच्च कोटि की शिक्षा, पार्लीमेंट-सम्बन्धी प्रश्न, प्रतिनिधि-चुनाव, न्याय-ग्रन्थ-संकलन, आर्थिक उलझनें, निवासार्थ परदेश-गमन, दारिद्र्य-निवारण-क़ानून — आपको इन प्रश्नों के सम्बन्ध में, चाहे उपदेश करना हो अथवा परीक्षा-रूप से कोई प्रस्ताव करना हो, चाहे केवल निरीक्षणानन्तर अनुभव प्राप्त करना हो, भारतवर्ष आपके लिए संसार भर में सब से अच्छा कार्यक्षेत्र सिद्ध होगा। संस्कृत भाषा जिसका पढ़ना आपको पहले अरोचक और व्यर्थ मालूम होता है, यदि आप बराबर पढ़ते जावें, चाहे यहाँ कैम्ब्रिज ही में क्यों नहीं, तो आपको साहित्य के ऐसे विशाल भाण्डार खोल देगी जो लोगों ने न देखे, न खोजे थे, और आपको विचार-सागर में ऐसे गम्भीर स्थल दिखाई देने लगेंगे जिनका पहले किसीने स्वप्न भी नहीं देखा था। ये विचार ऐसे शिक्षा-पूर्ण हैं कि वे मानुषी हृदय के गम्भीर से गम्भीर भावों पर प्रभाव डालते हैं। यदि आपको अवसर मिले तो यह बात निश्चित है कि आपको भारतवर्ष में अवकाश के समय में करने के लिए बहुत काम है। यह मत समझो कि भारतवर्ष एक दूरस्थ और अपरिचित देश है। भारत का भाग्य, भविष्य में यूरोप के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ है। उसका स्थान इंडो-यूरोपियन संसार में निश्चित है, उसका स्थान हमारे इतिहास में निश्चित है, इतना ही नहीं, उसका स्थान ऐसे मानसिक विचार-इतिहास में निश्चित है जिसे समस्त इतिहास का मार्मिक जीवन समझना चाहिए।

आप जानते हैं कि इस समय कैसे कैसे कुशाग्र-

बुद्धि और सुशिक्षित विद्वान् बाहरी यानी भौतिक संसार की उन्नति में लगे हुए हैं। पृथ्वी कैसे बनी, चेतन शक्ति अणुओं का पृथ्वी पर पहले-पहल कब विकास हुआ, इनकी पारस्परिक समता और भिन्नता कैसे हुई, इनसे चेतन शरीर कब और कैसे बन गया और ये जीव तुच्छ से तुच्छ जीव-अवस्था से उच्च से उच्च-तम अवस्था तक कैसे पहुँचे ? भौतिक संसार के इन्हीं सब जटिल प्रश्नों के हल करने में ये सब विद्वान् दत्तचित्त होकर काम कर रहे हैं। क्या भीतरी और मानसिक संसार नहीं है ? क्या इसका ऐतिहासिक विकास पढ़ना आवश्यक नहीं है ? विचारों की सूक्ष्म जड़ें पहले-पहल कैसे बनीं ? इनके परस्पर मिलने और पृथक् होने से बुद्धिद्योतक विचार कैसे बन गये ? प्रारम्भिक नीच अवस्था से अन्तिम उच्च दशा तक उनका विकास कैसे हो गया ? मानसिक जगत के येही सब अत्यावश्यक प्रश्न विचार करने-योग्य हैं। मनुष्य के मन का इतिहास पढ़ने के लिए भारतवर्ष से बढ़कर दूसरा कोई देश नहीं है। मानवी बुद्धि तथा विचार-सम्बन्धी कोई भी विषय आप पढ़ने के लिए क्यों न उठावें, चाहे वह विषय भाषा हो, धर्म हो, पौराणिक इतिहास हो अथवा दर्शन-शास्त्र हो, धर्म-शास्त्र हो, रीति-व्यवहार हो, प्रारम्भिक कला या विज्ञान-शास्त्र हो—इन सब विषयों के परिशीलन के लिए आपको भारतवर्ष ही जाना आवश्यक होगा। आप चाहे जाना पसन्द करें या न करें—अत्यन्त मूल्यवान् और शिक्षाप्रद सामग्री जो मनुष्य के इतिहास के लिए अत्यावश्यक है, वह भारतवर्ष में ही एकत्र है, अन्यत्र नहीं।

[भारतवर्ष से हम क्या सीख सकते हैं ?

संसार के इतिहास में भारतवर्ष- जैसे विलक्षण देश का सच्चा स्थान कौनसा है अथवा उसका उच्चतम स्थान कौनसा होना चाहिए, यह बात भारतवर्ष में जानेवालों को बतलाता हुआ मैं इस विश्वविद्यालय के अन्य सदस्यों की सहानुभूति भी, नीचे लिखी बातों को बताकर, जाग्रत करने को चेष्टा करूँगा। यदि हम यूनानी, रोमन सैक्शन, सेल्ट अथवा पैलसटाइन, मिश्र, बाबुल आदि देशों के इतिहास पर अपनी ऐतिहासिक दृष्टि परिमित कर दें और भारतवर्ष के आर्यों का हाल जो हमारे सगे से सगे विद्या-सम्बन्धी रिश्तेदार हैं छोड़ दें, तो ससार के इतिहास का हाल अधूरा ही रह जायगा और मानवी बुद्धि के विकास की विवेचना संकुचित ही रहेगी। भारतीय आर्य लोग उस संस्कृत भाषा के बनानेवाले हैं जो संसार में अत्यन्त अद्भुत और चमत्कारी भाषा है। ये लोग मूलाधार विचारों के संगठन में हमारे सहकारी हैं, प्राकृतिक धर्मों में से अत्यन्त स्वाभाविक प्राकृतिक धर्म के जन्मदाता हैं, देवाख्यान-शास्त्र के सबसे प्रभावशाली रचयिता हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म और गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थों के बनानेवाले हैं और अत्यन्त सुगठित धार्मिक नियमों के आविष्कार-कर्त्ता हैं।

उच्च शिक्षा-प्रणाली में हम बहुतसी बातों को आवश्यक समझते हैं। यदि हम इस विषय का विवेचन यथोचित रीति पर, उदार भावों से, करें तो जो इतिहास हमारे विश्वविद्यालयों और स्कूलों में पढ़ाया जाता है वह भारत-सम्बन्धी इतिहास के एक अध्याय के भी बराबर नहीं है।

वर्तमान समय में इतिहास का अध्ययन इतना बढ़ गया है कि समस्त इतिहास पढ़ना एक असम्भव बात है। इतिहासज्ञों ने बड़ी बड़ी बातें खोजकर निकाली हैं और प्रत्येक विषय पर पृथक् पृथक् छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उन विषयों का सविस्तर हाल दिया गया है; परन्तु मेरी सम्मति में सच्चे इतिहासज्ञ का काम है सब ऐतिहासिक बातों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना, चित्रकला-सम्बन्धी दृढ़ नियमों के अनुकूल इनका क्रम बाँधना और उन बातों को छोड़ देना जो हमें संसार के ऐतिहासिक लक्ष्य पर पहुँचने के लिए आवश्यक नहीं हैं। यही भेद सच्चे इतिहासज्ञ और समय-घटना-लेखक में है, अर्थात् सच्चे इतिहासज्ञ में वास्तविक और आवश्यक बातों को खोज निकाल लेने की शक्ति होती है और कोरी घटना लिखने-वाले इतिहासज्ञ की दृष्टि में हरएक बात ही जिसको उसने खोज निकाला है आवश्यक होती है। फ्रैडरिक दि ग्रेट बादशाह को दुःख से कहना पड़ा था कि मेरे शासन-काल का सच्चा इतिहास लिखनेवाला कोई नहीं है, और उन्हें इस बात की बड़ी शिकायत थी कि जिन्होंने प्रुशिया का इतिहास लिखा है वे मेरी सैनिक वर्दी के बटनों का सविस्तर हाल लिखना कभी नहीं भूले हैं। ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थों के विषय में ही कार्लाइल ने कहा है कि मैंने सब इतिहास-ग्रन्थ पढ़ लिये हैं; लेकिन मैं इन ग्रन्थों के नाम आगामी सन्तानों के लिए छोड़ जाने को कभी राज़ी न होऊँगा। फिर भी, जो इतिहास इन्होंने लिखे हैं उनमें भी बहुतसी ऐसी बातें हैं जो संसार के लाभार्थ

भूल जाने योग्य हैं।

हम इतिहास क्यों पढ़ना चाहते हैं ? उच्च शिक्षा के पाठ्य क्रम में इतिहास-विषय क्यों रक्खा गया है ? मेरी सम्मति में उद्देश्य यही है कि हममें से सभीको यह ज्ञात हो जाय कि मनुष्य-जाति अपनी वर्तमान उन्नत अवस्था पर कैसे पहुँची है जिससे मनुष्य-सन्तानों को बारबार उसी स्थान से उन्नति करने का मार्ग न चलना पड़े, उन्हीं विषयों पर पुनः परिश्रम न करना पड़े, बल्कि अपने पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठाकर उच्चतर एवं श्रेयस्कर उद्देश्यों की ओर बढ़ने की सुविधा मिले। जिस तरह छोटा बच्चा अपने बाप-दादे से पूछता है कि हम जिस मकान में रहते हैं वह किसका बनाया हुआ है अथवा जिस खेत से हमारा अन्न आता है उसे किसने साफ़ किया था, उसी तरह हम ऐतिहासिक विषयों की पूछ-ताछ कर सकते हैं कि हम कहाँ से आये हैं और जिन चीज़ों को हम अपनी कहते हैं वे हमारे पास कैसे आई हैं। इतिहास में बहुतसी ऐसी हास्योत्पादक, पर उपयोगी बातें हैं जिन्हें बच्चे अपनी माता तथा दादी के मुँह से सुनकर प्रसन्न होवें; पर इतिहास के बनाने की सबसे मुख्य बात यह है कि हमारे पूर्वज कौन थे, हमारा उत्पत्ति-क्रम क्या है, आदि आदि।

अब हमें धर्म-विषय का विवेचन करना चाहिए। कोई भी मनुष्य ईसाई-धर्म का इतिहास तबतक नहीं समझ सकता जबतक वह यहूदी जाति के विषय में कुछ न कुछ

न जान ले और यह बात "ओल्ड टेस्टेमेंट" यानी पुरानी बाइबल पढ़ने ही से मालूम हो सकती है। दुनिया की प्राचीन जातियों के साथ यहूदी जाति का ठीक ठीक सम्बन्ध क्या था, इनके (यहूदियों के) अपने विचार क्या थे और इन विचारों की सेमिटिक जाति के दूसरे मनुष्यों के विचारों के साथ समता क्या थी, प्राचीन काल की दूसरी जातियों के साथ मिलने से इन्होंने धर्म और नीति-विषय में क्या बातें सीखी थीं?—इन सब बातों के जानने के लिए हमें बाबुल, नेनेवा, फ़ौनीशिया और एशिया के इतिहास की तरफ़ ध्यान देना पड़ेगा। ये देश बहुत दूर दूर हैं और इन देशों में जो प्राचीन जातियाँ हुई हैं उनको हम भूल भी गये हैं। क्या इस सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते हैं कि मरों को मरने दो, गड़े मुर्दों को उखाड़ने से क्या लाभ है? लेकिन, इतिहास की ऐसी आश्चर्यजनक परम्परा है कि मैं आपको सहज ही ऐसी बातें बतलाऊँगा जिनके लिए हम सभी बाबुल, नेनेवा, मिश्र, फ़ौनीशिया और ईरान देशों के ऋणी हैं।

घड़ी में घंटे के ६० मिनट होने के लिए हम बाबुल देश के वासियों के ऋणी हैं। अच्छा न होने पर भी यह समय-विभाग प्रचलित है। इसे हमने यूनान और रोम-वालों से सीखा है और इन लोगों ने उसे बाबुल देश से सीखा था। एक चीज़ को ६० भागों में विभक्त करना बाबुल देश का आविष्कार है। ईसा से १५० वर्ष पहले हिपार्को नाम के विद्वान् ने इस बात को बाबुल से सीखकर प्रचारित करना चाहा। उसी समय पहियेटौलभी

बादशाह ने इसका विस्तृत प्रचार किया। फ्रान्स-वालों ने जो हरएक चीज़ के १० भाग करते थे, हमारी घड़ियों के डायल को वैसेही छोड़ दिया और बाबुल की प्रथा के अनुसार घंटे का प्रमाण ६० मिनट का ही रक्खा।

जिस किसीको अक्षर लिखने आते हैं उसे अपनी वर्णमाला के लिए यूनानियों और रोमन लोगों का ऋणी होना चाहिए। यूनानियों ने अपनी वर्णमाला फ़ौनीशिया देश के निवासियों से सीखी और उन्होंने उसे मिश्र में सीखा। यह वर्णमाला सभी शब्द-शास्त्र-वेत्ताओं के कथनानुसार भद्दी है, तब भी वह जैसी है वैसीही वह चल रही है और उसके लिए हम सभी प्राचीन फ़ौनीशिया और मिश्र के निवासियों के ऋणी हैं। प्रत्येक अक्षर में, जिसे हम लिखते हैं, प्राचीन मिश्र की मूर्ति-चित्र-वर्णमाला का मृत शरीर गड़ा हुआ है। ईरानियों के ऋणी हम किस बात में हैं? यह ऋण अधिक नहीं है; क्योंकि यह जाति आविष्कार करने में बहुत योग्य नहीं थी। जो कुछ ये लोग जानते थे उसे इन्होंने अपने पड़ोसी बाबुल और असीरिया-वालों से सीखा था तब भी हम इनके कुछ ऋणी तो अवश्य ही हैं। पहले तो हम इस बात के अत्यन्त आभारी हैं कि इन लोगों ने अपनेको यूनान-वालों से पराजित होने दिया; क्योंकि कल्पना कीजिए, यदि ईरानियों ने मैराथन रणक्षेत्र में यूनानियों को हरा दिया होता और प्राचीन यूनान-वासियों को दास बनाकर उनके बुद्धि-चमत्कारों को नष्ट कर दिया होता, तो आप समझ सकते हैं कि संसार की आज क्या दशा हुई होती। मनुष्य-जाति की उन्नति में

ईरान-वालों ने इस प्रकार की सहायता, इच्छा न रखते हुए भी, दी है। मैंने इस बात को इसलिए कहा है कि केवल यूनान और रोम-वाले ही पारसी अर्थात् अग्नि-पूजक होने से नहीं बच गये, बल्कि सैक्शन और ऐंग्लो-सैक्शन जातियाँ भी इस आपत्ति से बच गईं।

वह दान जो ईरान-देश ने हमें दिया है यह है कि हमारे चाँदी-सोने के सिक्का-चलन में चाँदी-सोने का क्या सम्बन्ध है, यह बात ईरानियों ने ही हमें बताई है। चाँदी-सोने का सम्बन्ध पहले बाबुल-वालों ने ही निश्चय किया था; परन्तु इस पारस्परिक सम्बन्ध-नियम का व्यवहार ईरान-राज्य के समय में हुआ था और तभी से उसका महत्व बढ़ा है। इस नियम को तब उन यूनानियों ने सीखा जो एशिया में रहते थे और उन्होंने इसका प्रचार यूरोप में किया। यूरोप में यह नियम आज तक कुछ अदल-बदल के साथ चला जाता है।

टैलेन्ट * नामक सिक्के के ६० मिना होते हैं और एक मिना के ६० सैकिल होते हैं। एक चीज़ को ६० भागों में बाँटने का नियम बाबुल देश से निकला है और अब लोक-प्रसिद्ध होगया है। इस नियम के प्रसिद्ध होने का कारण यह मालूम होता है कि ६० का अंक एक ऐसा अंक

* इसका हाल जानना हो, तो बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी के सन् १८८१ ई० के मासिक पत्र में ई० १६२--१६८ पृष्ठ देखिए जिनमें कनिंघम साहब का लेख है।

है जिसे हम बहुतसे अङ्कों से भाग दे सकते हैं। सैकिल को ग्रीक में स्टेटर कहते हैं। एथेन्स नगर में सोने का स्टेटर सिक्का ईरानी सोने के सिक्के के समान क्रोसस, डैरियस और सिकन्दर बादशाह के समय तक सुवर्ण मीना सिक्के का ६० वाँ भाग गिना जाता था और वह हमारे सावरिन सिक्के के लगभग बराबर है। चाँदी सोने का पारस्परिक सम्बन्ध १: १३ या १३ $\frac{१}{२}$ का बाँधा था, और यदि चाँदी के सैकिल सिक्के की तोल का सम्बन्ध १३ : १० समझा जाय, तो वह सिक्का हमारे फ्लारिन * सिक्के के बराबर हुआ। सैकिल से आधी क़ीमत का सिक्का ड्रैचन था और यह सिक्का हमारे शिलिङ्ग सिक्के का असली पुरखा है।

यदि आप कहें कि चाँदी और सिक्कों की पारस्परिक क़ीमत बाँधना दुनिया की बड़ी भूल है, तो आपको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि चाहे यह भूल कैसी ही क्यों न हो, पर दुनिया में हम इसीके कारण एक हो रहे हैं और इसीकी बदौलत अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं। यह अवस्था हमें अपने प्रयत्नों से नहीं प्राप्त हुई है बल्कि अपने पूर्वजों के परिश्रम और चेष्टाओं से जो हमारी विद्या और सभ्यता के जन्म-दाता थे। इस बात की कुछ परवाह न कीजिये कि उनकी नसों में कौनसा रक्त था और उनकी

* फ़ारसी में चाँदी के लिए शब्द 'सीम' है जिसके माने $\frac{१}{१३}$ भी होते हैं। कनिंघम के लेख देखिए।

खोपड़ियाँ किन हड्डियों की बनी हुई थीं।

धर्म का पूरा उद्देश्य भलीभाँति तभी समझा जा सकता है जब उसकी उत्पत्ति और विकास का वृत्तान्त मालूम हो, अर्थात् जबतक हमें मेसेपोटेमिया देश के गोलाकार अक्षर-लिपि के लेखों और मिश्र के मूर्त्ति-चित्र-लिपि लेखों का वृतान्त न मालूम हो अथवा फ़ौनोशिया और ईरान के ऐतिहासिक तत्त्वों का ज्ञान न हो, तबतक विद्या-सम्बन्धी जीवन के अन्य तत्त्वों का हाल भी मालूम नहीं हो सकता है। यदि हम अपने धर्म में यहूदी या सेमिटिक हैं, तो हम अपने दार्शनिक विचारों में यूनानी हैं, राजनीतिक विषयों में रोमन, और नैतिक विषयों में सैक्शन हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यूनान, रोम और सैक्शन-वालों के इतिहास का परिचय अथवा यूनान से इटली में सभ्यता जाने का मार्ग और उसी सभ्यता का जर्मनी से इन द्वीपों में आने का हाल हमारी उच्च शिक्षा का, जिसको ऐतिहासिक-बुद्धि-विकास शिक्षा कहते हैं, एक आवश्यक अंश है।

कोई कहे कि बस, इतना ही काफ़ी है; आप और अधिक क्यों कहते हैं? संसार के गौरवशाली ऐतिहासिक राज्यों में हमारे पहले जितने धर्म-विषय के बड़े आचार्य हुए हैं उनके विषय में हमें यथाशक्ति जानना आवश्यक है। मिश्र, बाबुल, फ़ौनीशिया देशवाले यहूदी, यूनान, रोम और सैक्शन-जातियों से जो कुछ हमने सीखा है उसके लिए हमें धन्यवाद देना चाहिए। परन्तु इस विषय

में भारतवर्ष का नाम क्यों लेते हो ? जो कुछ भार एक शिक्षित मनुष्य को उठाना आवश्यक है उसे और क्यों भारी किये देते हो ? सिन्धु और गङ्गा-तट-निवासी काले आदमियों से हमें ऐसा क्या मिल गया है जिससे हम पहले ही भर-पूर लदी हुई स्मृति को इन लोगों के राजाओं के नाम, उनकी जन्म-तिथियाँ अथवा उनके कार्यों को याद रखकर और भी लाद दें ?

यह शिकायत अवश्य कुछ ठीक है। प्राचीन भारत-वासी विद्या-सम्बन्धी विषयों में हमारे उसी तरह पूर्वज नहीं हैं जैसे यूनानी, यहूदी, रोमन और सैक्शन हैं; पर भाषा और विचार-सम्बन्ध से वे भी उसी कुटुम्ब की एक शाखा हैं जिनके हम हैं। उनकी ऐतिहासिक बातें अब तक के सब इतिहासों से पुरानी हैं और ये बातें आद्यन्त पढ़ने-योग्य ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। इन ग्रन्थों से हम वह शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं जो हमें अन्यत्र नहीं मिल सकती। बन्दर आदमी कैसे बन गया, इस बात को सिद्ध करने की युक्ति-शृंखला में एक आवश्यक कड़ी नहीं मिलती है जिसके बिना यह युक्ति अधूरी है। इस कड़ी का मिल जाना इतना आवश्यक नहीं है जितना कि उन कड़ियों का मिलना है जिनसे यह सिद्ध हो सके कि विद्या-विषय में हमारे असली पूर्वज कौन थे।

मैं भारतवर्ष के वर्तमान साहित्य का ज़िक्र नहीं कर रहा हूँ, बल्कि ऐसी चीज़ का ज़िक्र कर रहा हूँ जो उससे भी प्राचीन है और वह भारतवर्ष की प्राचीन भाषा

अर्थात् संस्कृत है। यद्यपि इस समय यह कोई नहीं कहता कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन और एंग्लो-सैक्शन भाषाओं का उद्गम-स्थान है। यह बात तो लोग पहले कहते थे। अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि संस्कृत उसी भाषा-पीठ की एक शाखा है जिससे केवल ग्रीक, लैटिन और एंग्लो-सैक्शन भाषाएँ ही नहीं, वल्कि टयूटॉनिक, सैल-टिक, स्लेवोनिक, ईरानी और आर्मीनिया की भाषाएँ भी निकली हैं। वह कौनसी बात है जिसके कारण इतिहासज्ञ की दृष्टि में संस्कृत भाषा का ऐसा बड़ा महत्त्व है और उस-की ओर ध्यान देने के लिए कहा जाता है ?

इसके उत्तर में सबसे पहली ज्ञातव्य बात यह है कि संस्कृत भाषा अति प्राचीन है; क्योंकि उसका अस्तित्व ग्रीक भाषा से भी पहले का प्रमाणित हो चुका है। प्राची-नता के सिवा उसका सुरक्षित रहना और हम तक पहुँचना और भी महत्त्व की बात है। संसार, लैटिन और ग्रीक भाषाओं से शताब्दियों से परिचित था और लोगों को इन दोनों भाषाओं में समता होना भी मालूम था; परन्तु यह समता किस तरह सिद्ध हो सके यह बात विचाराधीन थी। कभी किसी यूनानी शब्द की कुञ्जी लैटिन समझी जाती थी और कभी लैटिन की कुञ्जी यूनानी भाषा। तदनन्तर जब लोग प्राचीन टयूटॉनिक भाषाएँ, जैसे गैथिक और एंग्लो-सैक्शन पढ़ने लगे अथवा प्राचीन सैलटिक और स्लेवोनिक भाषा का ज्ञान प्राप्त करने लगे तब यह मालूम होने लगा कि इन भाषाओं में पारस्परिक मेल है। अब यह प्रश्न होता है कि इनमें समता और भिन्नता क्यों है ? यह एक

बड़ा जटिल प्रश्न था और इसके हल करने में लोगों ने ऐसे ऊट-पटाँग विचार दौड़ाये कि जिनका वैज्ञानिक आधार कुछ भी नहीं। जब इन भाषाओं के मध्य में संस्कृत ने पदार्पण किया तो लोगों को कुछ प्रकाश दीखने लगा और उनमें पारस्परिक परिचय होने लगा। पहले एक दूसरे से जैसे अजान थे, अब वह बात नहीं रही। प्रत्येक भाषा अपने अपने उचित स्थान पर आप ही बैठ गई। संस्कृत इन सब भाषाओं की बड़ी बहिन है और जिन बातों को इस भाषा-कुटुम्ब के और कुटुम्बी भूल गये थे उनको इसने बता दिया। तब तो और कुटुम्बियों ने भी अपनी अपनी कथा कहना आरम्भ किया और इन सब कथाओं के सुनने से मनुष्य के हृदय-पटल पर एक ऐसा निबन्ध लिख गया जो यहूदी, ग्रीक, लैटिन अथवा सैक्शन भाषाओं द्वारा लिखे हुए निबन्धों से भी कहीं बढ़कर है।

यह प्राचीन इतिहास का निबन्ध बड़ी सुगमता से रचा गया है। आर्य-कुटुम्ब की सात शाखाओं की भाषाओं में एक रूप और एक अर्थ के शब्द देखने से मालूम होगा कि ये शब्द हमारे असली पूर्वजों के विचारों के वास्तविक और विश्वसनीय ऐतिहासिक तत्त्व हैं। हिन्दू, अर्शियन, यूनानी, ईरानी, रोमन, सैल्ट, टयूटॉनिक अथवा स्लेव्ज़ नामक जातियों में विभक्त होने के पहले आदि-जाति के मनुष्यों के क्या विचार थे यह बात इन्हीं शब्दों से ज्ञात हो सकती है। यह हो सकता है कि ये प्राचीन शब्द आर्य-कुटुम्ब की सब ही शाखाओं में कुछ न कुछ लुप्त हो गये हों, तब भी यदि ऐसे शब्द कम से कम दो शाखाओं में भी मिलें

तो यह बात प्रमाणित समझना चाहिए कि जब आर्य-जाति के लोग पृथक् पृथक् हुए हैं उससे पहले सब लोग एक ही भाषा बोलते थे। यदि यह बात न मानो, तो यह सिद्ध करना होगा कि ये भाषाएँ पीछे के ऐतिहासिक काल में कभी मिल गई हैं। यदि हमें संस्कृत में अग्नि शब्द मिलता है जिसका अर्थ आग है और लेटिन में भी इसी अर्थ का शब्द मिलता है, तो हम वही नतीजा निकाल सकते हैं कि आर्य लोग अलग अलग होने के पहले अग्नि से परिचित थे। यदि यह शब्द दूसरी शाखाओं में न भी मिले, तो भी कोई हानि नहीं; क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि लैटिन और संस्कृत का मेल और भाषाओं के मेल से अधिक रहा हो अथवा लैटिन और संस्कृत भाषाओं का मेल पृथक् पृथक् हो जाने के पश्चात् भी हुआ हो। लैटिन भाषा का 'इग्निस' शब्द और स्कांच भाषा का 'इङ्गिल' शब्द इस बात को बतलाते हैं कि स्लेवोनिक और ट्यूटॉनिक भाषाओं में भी आग के लिए पहले यही शब्द था, चाहे पीछे उन्होंने इस अर्थ के और शब्द बना लिये हों। शब्दों का जीवन-मरण भी अन्य वस्तुओं के समान है; परन्तु यह बतलाना सहज नहीं है कि एक स्थान में ऐसे शब्द क्यों जीवित रहे और दूसरे में क्यों लुप्त हो गये और ऐसे रूप में यह शब्द क्यों आ गया। ७द।६२५७ के लिए उपरोक्त 'इग्निस' शब्द अब किसी भाषा में प्रयुक्त नहीं होता। उसका कारण यह है कि उसका उच्चारण बहुत ही कठिन हो गया और तब उसकी जगह दूसरा शब्द 'फोक्स' आ गया जिसका अर्थ लेटिन में अग्नि-स्थान, अँगीठी या वेदी था।

यदि हम यह जानना चाहें कि प्राचीन आर्य्य-जाति को पृथक् पृथक् होने के पहले चूहे का ज्ञान था या नहीं, तो हमें आर्य्य-जाति के मुख्य मुख्य शब्दकोषों को देखना पड़ेगा और तब हमें मालूम होगा कि चूहे के लिए संस्कृत में ' मूष ' शब्द है। ग्रीक में भी ऐसा ही शब्द है। लैटिन में ' मस ', पुरानी स्लेवोनिक भाषा में ' माइस ' और पुरानी जर्मन में ' मूस ' है। इन सब शब्दों के मिलान करने से यह मालूम होता है कि कोई प्राचीन समय ऐसा था जब आर्य्य-जाति को चूहे का ज्ञान हो चुका था और यह ज्ञान ऐसा स्पष्ट हो गया था कि उन्होंने इस जन्तु का नाम रखकर उसे एक विशेष-जाति-बद्ध कर दिया था जिससे किसी अन्य क्षुद्र जन्तु-जाति से उसका भ्रम न हो।

यह समय ऐसा पुराना था कि इसकी तुलना भारतीय समय-गणना-पद्धति से ही हो सकती है, हमारी पद्धति से नहीं। यदि हमसे कोई पूछे कि उस अति प्राचीन समय में आर्य्य लोग चूहे की शत्रु अर्थात् बिल्ली को भी जानते थे या नहीं, तो हमें स्पष्ट कहना पड़ेगा कि वे नहीं जानते थे। संस्कृत में बिल्ली का नाम 'मार्जार' या 'बिडाल' है। यूनानी और लैटिन भाषाओं में बिल्ली के लिए 'मुस्टैला' और ' फैलिस ' शब्द हैं जिनका अर्थ पालतू बिल्ली नहीं, बल्कि नेवला अथवा इसी जाति का जन्तु है। यूनानी भाषा में असली बिल्ली के नाम का शब्द ' काट्टा ' था और लैटिन में ' कैटस '। इन शब्दों से ट्यूटॉनिक, स्लेवोनिक और सैल्टिक भाषाओं में बिल्ली के नाम रक्खे गये हैं। अभी हमें जहाँ तक पता लगा है उससे यही कह सकते हैं कि यूरोप

में बिल्ली पहले-पहल मिश्र देश से आई थी। वहाँ वह कई शताब्दियों से पाली और पूजी जाती थी। बिल्ली के आने की बात चौथी सदी की है। इससे सिद्ध है कि जिस समय आर्य्य-जाति तितर-बितर हुई उस समय उसे बिल्ली का कोई नाम मालूम नहीं था।

आर्य्य-जाति के तितर-बितर होने से पूर्व की सभ्यता का कुछ कुछ वृत्तान्त उसी तरह निर्मित किया जा सकता है जैसे प्राचीन पत्थरों के तितर-बितर टुकड़ों को इकट्ठा करके कोई एक रङ्ग-बिरङ्गी पच्चीकारी का काम तैयार कर ले। यदि मानव-मन के इतिहास की खोज की जाय तो मेरी सम्मति में भिन्न भिन्न आर्य्य-भाषाओं के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा इस इतिहास की अधिक प्राचीनता की खोज की जा सके।

आर्य्य-जाति की प्राचीन भाषा जिसको हमने भारतवर्ष, यूनान, इटली और जर्मनी देशों में वितरित अवशिष्ट अंशों से बनाया है, एक दीर्घ-काल-विस्तृत विचार-क्रिया का फल है। जीवन के ऐसे प्राचीन समय को नियत करना काल-मापक सीमाओं के बाहर है। जब संस्कृत को ईसा से १५०० वर्ष पहले एक ऐसी भाषा पाते हैं जो साहित्य-दृष्टि से पूर्ण, नियमित और परिपक्व हो चुकी हो और जो ग्रीक और लैटिन भाषाओं से सर्वथा भिन्न हो, तो यह बतलाना कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन-भाषा-धाराओं का कहाँ सङ्गम हुआ और वे कहाँ से निकलीं, सहज बात नहीं है। यदि खोज करते करते हम उनके आदि-सङ्गम-

स्थान तक भी पहुँच जायँ, तब भी वह आदि-भाषा जिसकी ये सब शाखाएँ हैं एक ऐसे चट्टान के समान दिखाई देती है जिसे विचार-सागर की बढ़ती-घटती लहरों ने सहस्रों वर्षों तक लगातार टक्कर मारते मारते धोकर चिकना कर दिया हो। उस आदि-भाषा में हमें एक यौगिक शब्द मिलता है और यह शब्द 'अस्मि' है जिसका अर्थ है 'मैं हूँ'। ग्रीक-भाषा में इसीके लिए ऐसा ही शब्द है। दूसरी भाषाओं में 'मैं हूँ' इस अर्थ का सच्चा द्योतक कौन शब्द है ? उनमें ऐसा कुछ मिलेगा - 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं ज़िन्दा हूँ', 'मैं बढ़ता हूँ', या 'मैं फिरता हूँ'। ऐसे ऐसे शब्दों से 'अस्मि' शब्द का अर्थ अन्य भाषाओं में है। ऐसी भाषाएँ बहुत कम हैं जिनमें हम यह कह सकते हों कि 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' इससे अधिक स्वाभाविक बात हमारे लिए कोई नहीं हो सकती, लेकिन जितनी चेष्टाएँ और प्रयत्न 'मैं हूँ' इस शब्द के रचने में हुए हैं इन सब चेष्टाओं की कथा आर्य्यों की आदि-भाषा के नीचे से नीचे स्थलों में गुप्त पड़ी है। 'मैं हूँ' इस बात को प्रकट करने के लिए बड़े बड़े प्रयत्न किये गये थे और अनेक मार्ग देखे गये थे; लेकिन सब चेष्टाएँ लुप्त हो गईं, केवल यही एक चेष्टा रह गई है जो आर्य्य-जाति की सब भाषाओं में ज्यों की त्यों बनी है। 'अस्मि' शब्द में 'अस्' धातु है जो 'मि' अर्थात् 'मैं' शब्द की क्रिया है। किसी भाषा में 'अस्' धातु के समान क्रिया नहीं बन सकी। 'अस्' का असली अर्थ 'श्वास लेना' है। इसीसे 'असु' शब्द बना है जिसका अर्थ श्वास, प्राण, जीव आदि हैं। इसीसे 'आस' शब्द भी बना है जिस

का अर्थ मुँह है। लैटिन भाषा में भी इसीके शब्द 'ओस' या 'ओरिस' हैं। अस् * धातु जिसका अर्थ 'श्वास लेना' था अनेक चेष्टाओं के पश्चात् अपने असली अर्थ को खोकर, 'होने' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इससे हमारी उच्च विचार-क्रियाओं को वही लाभ हुआ है जो गणित-शास्त्र में भारतवासियों की बुद्धि-द्वारा आविष्कार किये हुए शून्य से हुआ है। यह कोई नहीं कह सकता कि 'अस्' धातु का 'श्वास लेना' का अर्थ कितने समय में और कितनी चेष्टाओं के पश्चात् 'होना' हो गया। यह बात और भी याद रखने-योग्य है कि 'अस्' धातु जिसका अर्थ 'श्वास लेना' था आर्य्य-भाषा की एक धातु थी, सेमिटिक-भाषा की नहीं। यह शब्द इतिहास-बद्ध है, इसे हमारे प्राचीन पूर्वजों ने बनाया है और वही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा विचार और शब्दों में हमारा मेल हमारे पूर्वजों के साथ हो सकता है; अर्थात् उन मनुष्यों के साथ जिन्होंने पहले-पहल हमारी भाषा बनाई थी तथा जिनके विचार और शब्दों के द्वारा हम अभी तक बोलते और विचार करते हैं, चाहे उनके और हमारे बीच में हज़ारों बल्कि लाखों वर्ष का अन्तर क्यों न हो गया हो।

इतिहास से मेरा अभिप्राय ऐसी वस्तु से है जो जानने-योग्य है। केवल राज-दरबारों की गप्पें और मनुष्य-जातियों के हत्या-काण्ड, जो हमारी इतिहास-पुस्तकों

* 'हिबर्ट लेक्चर्स' में धर्म की उत्पत्ति पर दिये गये व्याख्यान का १६७ वाँ पृष्ठ देखिए।

में भरे रहते हैं, इतिहास नहीं है। इतिहास लिखने का काम अभी प्रारम्भ ही हुआ है और जो कोई इस प्राचीन इतिहास-कार्य-क्षेत्र में काम करना चाहे उसे अनेक नये आविष्कार करने का अवसर है। क्या अब भी यह प्रश्न हो सकता है कि संस्कृत पढ़ने से क्या लाभ है ?

हमें हरएक चीज़ का अभ्यास धीरे धीरे पड़ जाता है और जिन चीज़ों से हमारे पूर्वजों को आश्चर्य होता था और जो चीज़ें उनके जमे हुए ख़यालों को भूकम्प के समान उलट-पलट सकती थीं वे ही हमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं मालूम होती हैं। अब पाठशाला का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है, कि अंगरेज़ी बोली आर्य्य अथवा इन्डो-यूरोपियन भाषा है, वह उसकी ट्यूटॉनिक शाखा से सम्बन्ध रखती है और यह शाखा इटैलिक, ग्रीक, सैल्टिक, स्लेवोनिक, ईरानी और इन्डिक शाखाओं से मिलकर एक ही स्थान से निकलती है और ये सब मिलकर आर्य्य अथवा इन्डो-यूरोपियन भाषा को बनाती हैं।

यह बात जो अब प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों में पढ़ाई जाती है ५० वर्ष पहले विद्यारूपी आकाश-मण्डल की एक नये क्षितिज के समान प्रकाश करनेवाली मानी जाती थी। यह एक ऐसा साधन समझा जाता था जो घनिष्ठ भ्रातृ-भाव को फैलावे, जिससे जहाँ हम अपनेको विदेशी समझते थे वहाँ हम घर के आदमी समझने लगे और जिससे लाखों आदमी जिन्हें हम असभ्य कहते हैं हमारे सगे रिश्तेदार बन गये हैं। एक

भाषा बोलने से जो मेल होता है वह एक ही दूध पीने से उत्पन्न हुए मेल से भी अधिक दृढ़ होता है। भारतवर्ष की प्राचीन भाषा संस्कृत वास्तव में वही भाषा है जो ग्रीक, लैटिन और एँग्लो-सैक्शन भाषाएँ हैं। यह बात हमें भारतवर्ष की भाषा और उसका साहित्य पढ़े बिना कभी प्राप्त नहीं हो सकती थी। यदि भारतवर्ष से हम इसके सिवा और कोई चीज़ नहीं सीख सकते तब भी यह चीज़ ऐसी बढ़िया है जो अन्य किसी भाषा से प्राप्त नहीं हो सकती।

जब संसार में इस आविष्कार का पहले-पहल प्रकाश पड़ा तब जो कुछ दार्शनिक विद्वानों और पण्डितों ने लिखा है वह पढ़ने-योग्य ही नहीं बल्कि मनोरञ्जक भी है। वे इस बात को नहीं मान सके कि भारतवर्ष के काले आदमियों में और एथेन्स और रोम के लोगों में कोई एक जाति से उत्पन्न होने का सम्बन्ध हो। उस समय के पढ़े-लिखे विद्वान् उपहास करते थे। मुझे वह समय अच्छी तरह याद है जब मैं लिपज़िग् में एक विद्यार्थी था और मैंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया था। उस समय संस्कृत और तुलनात्मक व्याकरण-शास्त्र को गौट्फ्राइड हरमैन, हौप्ट, वैस्टरमैन, स्टालबौम सरीखे अनेक विद्वान् अध्यापक भी तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। जिस समय प्रोफ़ेसर बौप ने पहले-पहल संस्कृत, ज़िन्द, ग्रीक, लैटिन और गाथिक भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित किया उस समय उनकी ऐसी हँसी हुई जैसी कभी पहले किसीकी नहीं हुई थी। उनके विरुद्ध सभी

आदमी थे। यदि ग्रीक और लैटिन को संस्कृत, गाथिक, सैल्टिक, स्लेवोनिक अथवा पुरषियन भाषा से तुलना करने में उन्होंने किसीका उच्चारण ग़लत लिख दिया, तो ऐसे आदमी जो ग्रीक और लैटिन के सिवा और कुछ नहीं जानते थे और ग्रीक शब्दों के उच्चारण के विषय में भी ग्रीक भाषा के शब्द-कोष देखकर निश्चय करते थे, इतना उपहास करते थे कि उनका अट्टहास कभी बन्द ही नहीं होता था। डूगैल्ट स्टुवर्ड तो यह मानते ही नहीं थे कि हिन्दू और स्काटों के बीच में कोई सम्बन्ध होगा। वे कहते थे कि समस्त संस्कृत भाषा और उसका अखिल साहित्य-भाण्डार (ध्यान रक्खो, वह साहित्य-भाण्डार जो तीन हज़ार वर्ष का है और जो यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य से कहीं बड़ा है) धूर्त ब्राह्मण पुजारियों की कपट-रचना है। मुझे याद है कि जब मैं लिपज़िग् के स्कूल में पढ़ता था (इस स्कूल में नौबी, फ़ौर बिजर, फंखेनैल और पाम सरीखे विद्वान् अध्यापक थे और जो इतना पुराना स्कूल था कि उसके विद्यार्थियों में लैबिनिज नाम के सुप्रसिद्ध विद्वान् भी रहे थे) तब हमारे अध्यापकों में से डाक्टर क्लो ने एक दिन हम लोगों से ऐसे समय जब गर्मी अधिक थी और कोई मेहनत का काम नहीं हो सकता था, कहा कि भारतवर्ष में ऐसी भाषा बोली जाती है जो ग्रीक, लैटिन बल्कि रूसी और जर्मन भाषाओं के ही समान है। पहले तो हम इस बात को हँसी समझे, लेकिन जब संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाओं के शब्द यानी अंक, सर्वनाम और क्रियाएँ काले पट्टे पर पंक्तिवार लिखीहुई

दिखाई गईं तब ऐसे प्रमाणों के सामने हम सभी को सिर झुकाना ही पड़ा। आदम, ईव, स्वर्ग, वैबिल का उच्च शिखर, शैम, हैम, जैफेट, होमर, ईनियस, वर्जिल इत्यादि के सम्बन्ध में जो जमे हुए विचार थे वे सब डवाँडोल होने लगे और इस नव-प्राप्त सामग्री के अंशों से एक नया संसार बनाया जाने लगा और एक नया ऐतिहासिक ज्ञान का जीवन प्रारम्भ होगया।

अब आप समझ गये होंगे कि भारतवर्ष के विषय में कुछ जानना उच्च और ऐतिहासिक शिक्षा का कितना आवश्यक अंश है। भारतवर्ष के साथ परिचय होने से यूरोप के रहनेवालों के विचार परिवर्तित और विस्तृत होगये हैं और हम जानते हैं कि जो कुछ हम अपनेको पहले समझते थे अब उससे भिन्न समझते हैं। कल्पना करो कि अमेरिकावाले किन्हीं भीषण घटनाओं के कारण अपनी अँगरेज़ी उत्पत्ति भूल जायँ और २-३ हज़ार वर्ष पीछे उन्हें ऐसी भाषा और ऐसे विचार मिलें जिनका सम्बन्ध उनके पिछले कामों से ऐतिहासिक रीति से हो; परन्तु जो उस समय ऐसे मालूम हों मानो अभी आकाश से उतरकर आये हैं और जिनकी उत्पत्ति और जिनके विकास का हाल कुछ न मालूम हो तो ऐसी दशा में यदि उन्हें अँगरेज़ी भाषा और साहित्य, जैसा १७ वीं शताब्दी में था, मिल जाय और जिससे उनको उन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाय, जो पहले बड़े आश्चर्य-जनक थे और जो उनकी सब शंकाओं का निवारण करदें, तो बताओ कि वे क्या कहेंगे? यह वैसी ही बात है जैसी

हमारे लिए संस्कृत भाषा के आविष्कार से हुई है। इस आविष्कार ने हमारे ऐतिहासिक ज्ञान को और भी बढ़ा दिया है और हमें अपनी भूली हुई बाल्यावस्था की बातों की याद फिर से दिला दी है।

अब यह बात सिद्ध हो गई है कि हम इस समय कोई भी क्यों न हों, लेकिन हजारों वर्ष पहले हम एक ऐसी जाति थे जो इँगलिशमैन, सैक्शन, ग्रीक, हिन्दू आदि शाखाओं में विभक्त नहीं हुई थी और उसमें इन सब शाखा-जातियों के आदि-लक्षण विद्यमान थे। आप कहेंगे कि उस जाति का मनुष्य तो बड़ा अद्भुत रहा होगा। यह ठीक है। हमारा असली पुरखा तो वही था जिसके लिए हमें अपने आधुनिक पुरखे नारमन, सैक्शन्स, सैल्ट्स आदि से कहीं अधिक अभिमान होना चाहिए।

संस्कृत और आर्य-भाषाओं के पढ़ने से केवल यही बात नहीं हुई। उससे हमारे मानवी विचार ही विस्तृत नहीं होगये हैं और लाखों अनजान और असभ्य पुरुषों को हम एक कुटुम्ब के आदमियों के समान ही नहीं समझने लगे हैं, बल्कि उससे मनुष्य के प्राचीन इतिहास में एक ऐसी वास्तविकता और सच्चाई आगई है जो उसमें पहले कभी भी नहीं थी। प्राचीन वस्तुओं के विषय में हम बहुत-कुछ पढ़ते-लिखते रहते हैं। यदि हमें कोई यूनान की बनी हुई मूर्ति मिल जाय या मिश्र की बनी हुई अद्भुत स्फिक-मूर्ति मिल जाय तो हमारा चित्त प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो जाता है और प्राचीन समय की

इन अमूल्य वस्तुओं को रखने के लिए राज-भवन से भी बड़ी बड़ी प्रदर्शनी-भवन बनाते हैं। ऐसा होना ठीक ही है; परन्तु क्या आप जानते हैं कि हममें से प्रत्येक के पास प्राचीन वस्तुओं का एक बड़ा अद्भुत और अमूल्य भाण्डार है जो इन सब मूर्तियों से अधिक प्राचीन है? वह भाण्डार कहाँ है? वह हमारी भाषा में ही है। जब मैं ऐसे शब्द बोलूँ जैसे फ़ादर, मदर, हार्ट, टियर, वन, टू, थ्री, हियर, देयर आदि (बाप, मा, दिल, आँसू, एक, दो, तीन, यहाँ, वहाँ) तब समझो कि मैं ऐसे सिक्कों को काम में ला रहा हूँ जिनका चलन यूनान और अन्य देशों की बनी हुई मूर्त्तियों से पहले का है। इस प्रकार हममें से प्रत्येक मनुष्य अपने साथ एक अमूल्य से अमूल्य और अद्भुत से अद्भुत प्राचीन-कालिक वस्तुओं का भाण्डार लिये फिरता है। यदि हम उन ख़ज़ानों का यथोचित प्रयोग जानें, अर्थात् यदि हम उन्हें रगड़ और मलकर चमकाना जानें, यदि हम उन चीज़ों को क्रमानुसार रखकर उनके विषय में जानना चाहें, तो वह हमें ऐसी ऐसी अद्भुत बातें बतावेंगी जो मिश्र और दोनों देशों के प्राचीन लेखों से कहीं अधिक आश्चर्य-जनक होंगी। इस साधन द्वारा जो बातें प्राप्त हुई हैं वे अब पुरानी कहानियों की सी मालूम होती हैं। तुममें से बहुतों ने इन्हें पहले सुना होगा; पर इन्हें प्रत्येक दिन की सामान्य घटनाओं के समान आश्चर्य-विहीन मत समझ लो और न यही समझ बैठो कि अब हमारे लिए कुछ करना ही बाक़ी नहीं है। अब तक जो बातें मालूम हुई हैं उनसे कहीं आश्चर्य-जनक बातें भाषा-द्वारा मालूम हो सकती हैं।

प्रत्येक सामान्य शब्द एक कला-कौशल-निर्मित खिलौने के समान है जिसे मनुष्य की अतुल-चातुर्य विशिष्ट बुद्धि ने हज़ारों वर्ष पहले बनाया था। यदि खिलौने के पुर्ज़ों के समान इसके भी भाग अलग अलग किये जायँ, तो वह आपको अलिफ़लैला की कहानियों से भी अधिक अद्भुत, मनोरञ्जक और आश्चर्य-जनक मालूम होगा।

अब मैं विषयान्तर नहीं करना चाहता। मैं इस भूमिका-रूपी व्याख्यान द्वारा यही बात तुम्हारे दिलों में जमाना चाहता हूँ कि भाषा-सम्बन्धी शास्त्र के फल जो संस्कृत जाने बिना कभी नहीं प्राप्त हो सकते थे हमारी उच्च शिक्षा का एक आवश्यक अंश है। वह उच्च और ऐतिहासिक शिक्षा ही है जिससे मनुष्यों को अपना सच्चा उद्भव-स्थान मालूम होजाता है और जिससे संसार में अपनी असली जगह मालूम कर लेने की सुविधा होती है। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि यह ऐसी शिक्षा है जिसके द्वारा मनुष्य को वह स्थान विदित हो सकता है जहाँ से वह पहले-पहल चला था, वह मार्ग जहाँ होकर वह आया है और वह स्थान जहाँ उसे पहुँचना है।

हम सब पूर्व दिशा से आये हैं। जिस किसी चीज़ को भी हम मूल्यवान् समझते हैं वह भी पूर्व दिशा से ही आई है और पूर्व की तरफ़ जाते हुए केवल पूर्वीय विद्या-विशारदों को ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य को जिसे सच्ची ऐतिहासिक शिक्षा मिली है समझना चाहिए कि हम अपने पुराने घर को जा रहे हैं जिसको याद दिलाने-वाली

(यदि हम अच्छी तरह मालूम कर सकें) बहुतसी बातें हैं।

दूसरे वर्ष जब तुम हिन्दुस्थान के किनारे पहुँचो, तो तुम्हारे हृदय में निराशा के स्थान में वह उत्साह-भाव होना चाहिए जो सौ वर्ष पहले सर विलियम जोन्स को, इँगलैंड की सीमा से बहुत दूर हिन्दुस्तान की सीमा देखने पर, उत्पन्न हुए थे। उस समय जो नव-युवक आश्चर्य पूर्ण भारतवर्ष को जाते थे वे अपने मन में बड़े बड़े हवाई क़िले बाँधते थे। जो कल्पनाएँ सर विलियम जोन्स ने अपने मन में की थीं उनका कुछ हाल सुनिए:—

सर विलियम जोन्स लिखते हैं कि " जब मैं सन् १७८३ ईस्वी के अगस्त महीने में भारत-यात्रा के लिए जहाँ जाने की मेरे मन में चिरकाल से अदम्य उत्कएठा थी, जहाज़ पर जा रहा था, एक दिन समुद्र-सम्बन्धी दैनिक बातों के निरीक्षण करने से मालूम हुआ कि अब हिन्दुस्थान हमारे सामने है । ईरान देश हमारे बाँये हाथ की तरफ़ है और हमारे जहाज़ के पीछे की तरफ़ से अरब देश की हवा चल रही है। यह बात ऐसो आनन्ददायक थी और मुझे ऐसी नई मालूम होती थी कि मेरे मन में विचारों की तरङ्गें उठने लगीं। क्योंकि मैं पहले ही से पूर्वीय देशों की सुन्दर कहा-नियाँ और उनका घटना-पूर्ण उत्साह-पूर्वक इतिहास पढ़ चुका था और मैंने अपने मन को ऐसी बातों के लिए तैयार कर लिया था । जब मैंने अपनेको ऐसी मनोहर अर्द्ध-गोलाकार दृश्य-भूमि में पाया जिसके चारों तरफ़ एशिया के

बड़े बड़े देश थे, तो मैं अपनी प्रसन्नता को प्रकट नहीं कर सका। यह वही एशिया है जो समस्त विद्याओं की जन्म-भूमि समझा जाता है; यह वही एशिया है जो समस्त उपयोगी और मनोरंजक कलाओं का बनानेवाला है; यह वही एशिया है जिसमें अत्यन्त प्रभाव-शाली कार्य हुए हैं और जिसमें मनुष्य की बुद्धि का उच्चतम विकास हुआ है; विविध धर्म, राज्य-शासन, क़ानून, रीति, व्यवहार, भाषाएँ एवं मनुष्यों के रूप, रंग असीम परिमाण में उपस्थित हैं। मैं इस बात को नहीं कह सकता था कि कैसा विशाल और महत्त्व-पूर्ण कार्य-क्षेत्र मेरे सामने है। इसकी अभी तक खोज ही नहीं हुई थी। इस-में कैसी कैसी वास्तविक लाभ की बातें थीं जिनकी वृद्धि की ओर अभी ध्यान ही नहीं गया था।"

सर विलियम जोन्स-सरीखे स्वप्न देखनेवालों की भारतवर्ष को आवश्यकता है। सैंतीस वर्ष का नव-युवक जहाज़ की छत पर अकेला खड़ा हुआ समुद्र में सूर्य को डूबता हुआ देख रहा था; इँगलैंड के दृश्य पीछे रह गये थे; भारतवर्ष की आशाएँ उसके सामने थीं; ईरान और उसके प्राचीन बादशाहों को वह अपने बग़ल में खड़े देख रहा था; तथा अरब और उसको चमत्कारिक कविता-समीर का वह सेवन कर रहा था। ऐसे ही उत्साही पुरुष अपने स्वप्नों को सच्चा बना देते हैं और अपने कल्पित दृश्यों को सच्चा कर देते हैं। जो बात सौ वर्ष पहले थी वह अब भी है और अब भी हो सकती है। यदि आप चाहें तो अब भी हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में बहुत से स्वप्न देख सकते हैं। सर विलियम जोन्स कलकत्ते में जिस समय उतरे थे तब से अब तक पूर्व

संसार को भारत का सन्देश ।]

देशों के इतिहास और साहित्य-सम्बन्धी विषयों में बड़ी बड़ी खोजें हो चुकी हैं और अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य किये जा चुके हैं, तब भी किसी युवक सिकन्दर को यह जानकर हताश न होना चाहिए कि सिन्धु और गङ्गा के प्राचीन किनारों के राज्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए अब कोई देश नहीं बच रहे ।

द्वितीय अध्याय ।

हिन्दुओं का सत्य व्यवहार ।

मैंने अपने पहले व्याख्यान में इस पक्षपात के हटाने की चेष्टा की है कि लोग कहते हैं कि भारतवर्ष में सभी चीज़ें अनजानी सी हैं और ये चीज़ें हमारे विद्या-सम्बन्धी जीवन से जिसके हम इँगलैंड में आदी हैं ऐसी भिन्न हैं कि वे उस सिविल सरवेंट के लिए जिसको पूर्वी देशों में २०-२५ वर्ष रहना पड़ता है एक तरह का वनवास कर देती हैं और उसे यह वनवास किसी न किसी तरह काटना ही पड़ता है । वह उन सब उच्च भावों के कार्यों से पृथक् हो जाता है जिनसे इँगलैंड में उसका जीवन आनन्द से कटता है । यह बात न तो होनी चाहिए और न

हो सकती है । आवश्यकता है केवल यह समझने की कि इँगलैंड में जिन उच्च कार्यों के कारण हमारा जीवन सुखी बनता है वे सब कार्य भारतवर्ष में भी, इँगलैंड के ही समान अच्छी तरह, हो सकते हैं ।

आज मैं एक दूसरे पक्षपात को हटाने की चेष्टा करूँगा, जो बहुत हानि-कारक है; क्योंकि इसके कारण हिन्दू प्रजा और शासन-कर्त्ताओं में मेल उत्पन्न होने में बड़ी रुका-वट आ जाती है और दोनों में सच्चे सहोदर के से भाव उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव हो जाता है ।

वह पक्षपात यह है कि हम हिन्दुस्थान में रहना ऐसा समझते हैं कि मानों हम सभी सदाचारी मनुष्यों की समाज से अलग हो गये हैं । हम हिन्दुओं को एक ऐसी नीची जाति समझते हैं कि वे हमसे सदाचार विषयों में सर्वथा ही भिन्न हैं, विशेषतः उन बातों में जो अँगरेज़ी सदाचार का अर्थात् सच्चाई का मूलाधार हैं ।

मेरे विचार से किसी उदार-चित्त नव-युवक के लिए इससे अधिक निराशा की बात क्या हो सकती है कि वह यह समझ ले कि मुझे अपनी ज़िन्दगी ऐसे आदमियों के बीच काटनी है जिनका न तो मैं सम्मान कर सकता हूँ और न जिनके साथ मैं प्रेम ही कर सकता हूँ, जिन्हें हम अधिक घृणा-पूर्ण शब्द काम में लाये बिना भी "नेटिव" के नाम से पुकारते हैं । इन आदमियों को वह समझता है कि न तो उनमें आत्म-गौरव है, न सच्चाई है, और न सदाचार के

नियम ही हैं। इनके साथ सहकारिता अथवा असली मित्रता की बात तो हो ही नहीं सकती।

हिन्दुओं पर झूठेपन का दोष इतने बार लगाया गया है और इस बात को सर्व-साधारण ने ऐसा मान लिया है कि इस दोष को हटाने के लिए जितने प्रयत्न किये जावें वे सब व्यर्थ हैं। मुझे यह विश्वास है कि यह दोष भी उन्हीं सब दोषों के समान जो किसी सम्पूर्ण जाति पर लगाये जाते हैं एक अत्यन्त निर्बल युक्ति पर अवलम्बित है। भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य के कट्टर से कट्टर शत्रु भी किसी बात को बनाकर इतनी हानि नहीं पहुँचा सकते हैं जितनी हानि इस मिथ्या दोषारोपण से हुई है, हो रही है और होगी। यदि कोई नव-युवक भारतवर्ष में सिविल-सरवेंट या फ़ौजी अफ़सर होकर जावे और उसका यह दृढ़ विश्वास हो कि जिन आदमियों से मैं मिलूँगा वे स्वभाव और जाति-लक्षणों से झूठे हैं, वे अपने प्रतिदिन के व्यवहारों में सत्य की कुछ भी परवाह नहीं करते हैं, और उनपर कभी कोई भरोसा न करना चाहिए, तो क्या हम ख़्याल कर सकते हैं कि हिन्दुओं को देखने के पहले ही उनके प्रति उसके घृणा के भाव न होंगे? फल यह होगा कि जब वह किसी सरकारी या निजी काम के लिए उनसे मिलेगा, तो उसका उनके प्रति बड़ा अविश्वास रहेगा, और वह उनके साथ बड़ा तिरस्कार-पूर्ण वर्ताव करेगा। शत्रु के बोये हुए ऐसे काँटों को उखाड़ना बड़ा कठिन हो जायगा। प्रत्येक इंडियन-सिविल-सरवेंट अपने धर्म-ग्रन्थ के सिद्धान्तों के समान यह मानता है कि सब भारतवासी झूठे हैं। मुझे डर है कि इस विषय में

मेरा ऐसी शंका करना एक असम्य कार्य समझा जायगा। हिन्दुस्थान की बात जाने दीजिए, किसी भी देश के मनुष्यों की इस तरह निन्दा नहीं करनी चाहिए। ऐसी निन्दा करने से मन का अनुदार भाव और अभिमान ही प्रकट नहीं होता, बल्कि जिस युक्ति पर अनुमान निकाला जाता है वह भी ग़लत होती है। किसी एक आदमी को यूनान देश में किसी मार्ग-दर्शक ने धोखा दे दिया या उसे कोई चोर या ठग उड़ाकर ले गया, तो क्या इस पर से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यूनान देश के नये या पुराने रहनेवाले सभी धोखेबाज़ और डाकू हैं, या वे धोखेबाज़ी या डकैती को पसन्द करते हैं? इसी तरह कलकत्ता, बम्बई या मद्रास में कुछ ऐसे हिन्दुस्थानी हों जो जजों के सामने, या अदालतों में या बाज़ार में बिलकुल सच न बोलें तो क्या इस समय जब कि मनुष्य न्याय-संगत अनुमान निकालने में बड़े चतुर हैं, यह कहा जायगा कि सब हिन्दू झूठे हैं? विशेषतः जब आपको यह याद रहे कि पिछली मनुष्य-गणना के समय इस बड़े देश के रहनेवालों की संख्या २५ करोड़ ३० लाख थी, तो क्या यह २५ करोड़ ३० लाख मनुष्य झूठे गिने जा सकते हैं? सौ दो सौ अथवा दो चार हज़ार हिन्दुस्थानी चोरी या हत्या के अपराध में अँगरेज़ी अदालतों में आकर बिलकुल सच न बोलें तो क्या इस पर से सबके सब झूठे ठहराये जा सकते हैं? क्या कोई अँगरेज़ी मल्लाह ऐसे काले चमड़ेवाले जज के सामने जाकर जो अँगरेज़ी भाषा का विलक्षण उच्चारण करता है सिर झुकाकर अपने किये अपराधों को साफ़ साफ़ कह देगा? और क्या उस मल्लाह के साथी लोग उस

मल्लाह को किसी आपत्ति में फँसा देखकर उसके विरुद्ध सच्ची गवाही देने को उत्सुक होंगे ?

अनुमान निकालने के नियम एक से होने चाहिए, लेकिन जिस विषय का अनुमान निकाला जाय उसके अनुसार ही नियम भी प्रयोग में आने चाहिए। हिन्दुस्थानी कहावत के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि हंडी का एक चाँवल देखकर हंडी के सब दानों की परख हो जाती है; परन्तु यदि हम इसी नियम के अनुसार मनुष्यों की जाँच करें, तो हम अवश्य वैसी ही भूल में पड़ जायँगे, जैसी एक अँगरेज़ी पादरी ने की थी। उसे एक बार एक अँगरेज़ी जहाज़ पर किसी फ्रेंच बच्चे का नामकरण संस्कार करना पड़ा। तबसे उसे जन्म भर पूरा विश्वास रहा कि सब फ्रेंच बच्चों की लम्बी नाक होती है।

हिन्दुस्थान के रहने-वालों के लिए कोई एक बात नहीं कही जा सकती है। जब यहाँ-वाले ऐसे शब्दों का उपयोग करते हैं, जैसे 'हिन्दुस्थान के मनुष्य' अथवा 'सब ब्राह्मण' या 'सब बुद्ध लोग' तो मुझे कुछ कपकपी लग उठती है। इन शब्दों के पश्चात् वे जो कुछ कहते हैं वह सदैव भूल से भरा होता है। अफ़ग़ान, सिक्ख, बङ्गाली, राजपूत और द्रावड़ी इनमें आपस में जितना अधिक अन्तर है उतना अँगरेज़, फ़रासीसी, जर्मन और रशियन में, आपस में, नहीं है। ऐसा होते हुए भी हम इन सबको हिन्दू कह डालते हैं और वे सब उसी दोषारोपण के विषय बन जाते हैं।

संसार को भारत का सन्देश।]

इस विषय में सर जान मालकम ने जो कुछ लिखा है वह मैं आपको सुनाता हूँ। बङ्गाल के आदमियों को डरपोक और अशक्त और कलकत्ते के दक्षिण में रहनेवालों को चाल-ढाल और रूप-रंग में हिन्दुओं में सबसे नीचे बताकर उन्होंने लिखा है कि "बिहार प्रान्त में प्रवेश करते ही आपको ऐसे हिन्दू मिलेंगे जो, यद्यपि डील-डौल में बड़े नहीं हैं और न उनमें कोई मानसिक गुण हैं, तब भी वे बड़े बहादुर, उदार-चित्त और दयाशील हैं और उनमें जैसी बहादुरी है वैसी ही सच्चाई भी है।"

हिमालय से लङ्का तक भारतवर्ष के रहनेवालों पर इस तरह व्यर्थ दोषारोपण करने के विरुद्ध जब मैं कहता हूँ तो आपको यह नहीं समझना चाहिए कि मैं भारतवर्ष का एक ऐसा आदर्श खींचना चाहता हूँ जिसमें भद्दी बातें कुछ भी नहीं हैं और जो कुछ है सभी मनोहरता से भरा है। मैं हिन्दुस्थान में कभी नहीं गया हूँ। उसके विषय में कहने और लिखने के लिए मेरा वही अधिकार है जो एक इतिहासज्ञ का हो सकता है, अर्थात् मेरा इतना ही प्रयत्न है कि मैं, जहाँ तक हो सके, उसके सम्बन्ध में जानने के लिए सामग्री एकत्र करूँ और ऐतिहासिक गुण-दोष-निरीक्षण-पद्धति के निश्चित नियमों के अनुसार उस सामग्री का विवेचन करूँ। प्राचीन भारतवासियों के जातीय आचरणों के विषय में मैंने यूनानी लेखकों के ग्रन्थों से और प्राचीन भारतवर्ष के साहित्य से जानकारी प्राप्त की है। पिछले समय की बातों के लिए हमें भारतवर्ष के बहुत से विजेताओं के वाक्यों पर अवलम्बन करना पड़ेगा। ये भारत-विजयी

पुरुष भारतवासियों के विषयमें उदारता-पूर्ण भावोंसे कभी नहीं कहेंगे, क्योंकि इन देश-वासियों को जीत लेना तो सरल था; परन्तु उनका शासन करना कठिन था । पिछली शताब्दी से अब तक का हाल जो कुछ मैं कहूँगा उसके कुछ प्रमाण मैं उन ग्रन्थों से दूँगा जो भारत और भारतवासियों के मध्य में रहकर लिखे गए हैं, और कुछ प्रमाण प्रसिद्ध सिविल-सरवेंट के लेखों से, और कुछ उन भारतवासी सज्जनों के कथन से दूँगा, जिनके साथ इँगलैंड, फ्रान्स और जर्मनी में मेरी मित्रता हुई है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि मैं यह सब उनसे कह रहा हूँ जो भविष्य में भारतवर्ष के शासन-कर्त्ता और कर्मचारी होंगे; इसलिए मैं पहले उन्हीं प्रसिद्ध और न्याय परायण भारत के सिविल-सरवेंटों की सम्मतियाँ दूँगा जो उन्होंने हिन्दुओं के सच्चे या झूठे होने के विषय में, ख़ूब सोच-विचार कर, प्रकट की हैं ।

पहले मैं यह बात कहना चाहता हूँ और यह बात दूसरों ने भी कही है कि जो सिविल-सरवेंट इस शताब्दी के प्रारम्भ में और ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में भारतवर्ष को गये थे और इँगलैंड आने पर जिनमें से बहुतों के साथ मेरी मुलाक़ात हो गई है वे भारतवासियों के जीवन, रीति-व्यवहार, चाल-चलन आदि के विषय में इन लोगों से कहीं ज़्यादा जानते थे जो अभी २५ वर्ष पहले हिन्दुस्थान को गये थे और जो नामवरी के साथ अब इँगलैंड लौट रहे हैं । भारतवर्ष को अब ऐसा दूरस्थ टापू नहीं समझना चाहिए कि जिसमें राबिनसन क्रूसो की तरह, किसी न किसी प्रकार, जीवन काटना पड़े । हिन्दुस्थान से इँगलैंड की और इँगलैंड

से हिन्दुस्थान की यात्रा अब छोटी और सुगम हो गई है। चिट्ठी-पत्री, तार और समाचार-पत्र बराबर आते-जाते रहते हैं। इन कारणों से भारतवर्ष में रहनेवाले अफ़सरों का जीवन ऐसा अल्प-कालिक हो गया है कि ५० वर्ष पहले जो अँगरेज़ी महिलाएँ हिन्दुस्थान नहीं जाना चाहती थीं वे अब ख़ुशी से वहाँ जाने को तैयार हैं। मेरे ख़्याल से सिविल-सर्विस में जाने-वालों को हिन्दुस्थान में रहने के लिए ऐसी बातें सुन लेना चाहिए जिनसे उनका वहाँ रहना कठिन न हो।

मैं आक्सफ़र्ड के संस्कृत के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर वोडिन विल्सन साहब को अनेक वर्षों से जानता हूँ, और वे हिन्दुस्तान के विषय में जो कुछ कहा करते उसे गम्भीर उत्कण्ठा से सुना करता था। इन प्रोफ़ेसर साहब ने अपने हिन्दुस्तानी मित्र और साथी नौकरों के विषय में जो कुछ लिखा है वही मैं आप लोगों को अब सुनाता हूँ। आप लिखते हैं कि—

"मुझे हिन्दुओं के साथ आवश्यकता और रुचि दोनों के कारण रहना पड़ा और मुझे उनसे मिलने और उन्हें देखने के सैकड़ों ऐसे अवसर मिले जो यूरोपियन को बहुत कम मिलते हैं। जब मैं कलकत्ते की टकसाल में काम करता था तो मुझे सैकड़ों कारीगर, मिस्त्री और मज़दूरों से काम पड़ता था। वे बड़े प्रसन्न-चित्त, बड़े परिश्रमी, और हँस-मुख थे। वे अपने अफ़सरों की आज्ञा बड़ी ख़ुशी से मानते थे, और जो कुछ उनसे कहा जाता था उसके करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। वे न

तो शराब पीते थे, न लड़ते-झगड़ते थे और न अफ़सरों के साथ धृष्टता का वर्ताव ही करते थे। यह कहना कि उनमें बेईमानी थी ही नहीं, ठीक नहीं होगा। लेकिन मैं यह कह सकता हूँ कि अन्य देशों की टकसालों में ऐसे आदमी जितनी बेईमानी किया करते हैं उसके मुक़ाबिले में इनमें कुछ भी नहीं थी। इनमें चतुराई और भोलापन दोनों थे। ये लोग बड़ी साफ़ तबियत के थे और इनमें खुशामदीपन भी नहीं था। जब हिन्दुस्तानियों का किसी में विश्वास हो जाता है तो वे सदैव निष्कपट वर्ताव करते हैं। यदि इनके अफ़सर इनके साथ शान्त स्वभाव से अच्छा वर्ताव करें, तो फिर ये उनसे कोई बात नहीं छिपाते और न उनसे डरते ही हैं। जैसा सन्मान अफ़सरों का करना चाहिए वे वैसा बराबर करते रहते हैं।"

पण्डितों के विषय में जिनकी सभी बुराई करते हैं इन प्रोफ़ेसर सा० ने इस तरह लिखा है:—"मैं अपने फ़ुरसत के समय पढ़ा करता था और इस कारण मुझे पण्डितों से काम पड़ा। ये भी पण्डित बड़े परिश्रमी, बुद्धिमान्, प्रसन्न चित और शुद्ध-हृदय होते हैं। एक बात इन पण्डितों में क्या, सभी हिन्दुओं में, बड़ी विलक्षण है, और वह है उनका बच्चों का सा भोलापान और जीवन के व्यवहारों से सर्वथा अनभिज्ञता। जिन हिन्दुओं में ये बातें नहीं मिलतीं वे ऐसे लोग हैं जो यूरोप-वालों के साथ रहे हैं। पढ़े-लिखे हिन्दू और पण्डित यूरोप-वालों के आचरणों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं और उन्हें उनका डर भी बहुत होता है। यूरोपियन और हिन्दू विद्वानों में बहुत कम मेल-

जोल है और इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उनमें परस्पर वैमनस्य रहता है।"

कलकत्ता तथा दूसरी जगह के उच्च श्रेणी के मनुष्यों के विषय में प्रोफ़ेसर विल्सन लिखते हैं—"मैंने उनमें बड़ा शिष्टाचार, बुद्धिमत्ता, भावों की उदारता और अपने सिद्धान्तानुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता देखी है। ये ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण संसार में किसी भी देश का मनुष्य सज्जन और सभ्य गिना जा सकता है। इनमें से कुछ के साथ मेरी मित्रता होगई है और मुझे विश्वास है कि वह मरण-पर्यन्त बनी रहेगी।"

मैंने प्रोफ़ेसर विल्सन को ऐसे शब्दों में, बल्कि इससे भी अच्छे शब्दों में, भारतवर्ष के हिन्दू मित्रों के विषय में बोलते सुना है। केशवचन्द्र सेन के दादा रामकोमल सेन और इनके बीच में जो पत्र-व्यवहार हुआ था वह अब प्रकाशित होगया है। इनके ये मित्र एक बड़े कट्टर हिन्दू थे। इस पत्र व्यवहार से विदित होगा कि अँग्रेज़ों और हिन्दुओं में कैसा घनिष्ठ मेल-मिलाप हो सकता है; परन्तु यह तभी होता है जब इसे पहले अंग्रेज़ करना चाहते हों।

संस्कृत के एक प्रोफ़ेसर हैं जो आपके विश्व-विद्यालय के एक रत्न हैं। ये प्रोफ़ेसर महाशय आपको इस विषय में और भी अधिक बता सकते हैं। मेरा अनुमान है कि इन्होंने आपसे कई बार कहा होगा कि यदि आप हिन्दु-ओं में मित्र ढूँढ़ा चाहें तो आपको अनेक विश्वास-पात्र मित्र मिल सकते हैं।

दो पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें से एक को पढ़ने के लिए तो मैं हमेशा सिफ़ारिश करता रहा हूँ और दूसरी के विषय में इन्डियन-सिविल-सर्विस के विद्यार्थियों को जिन्हें मैंने आक्सफ़र्ड में देखा है यह कहता रहा हूँ कि इस पुस्तक को कभी मत पढ़ना। मेरी चेष्टाओं का परिणाम अच्छा ही हुआ है। जिस पुस्तक को मैं बड़ी हानिकारक समझता हूँ बल्कि जिसको मैं उन बड़ी बड़ी आपत्तियों का मूल कारण समझता हूँ जो भारतवर्ष में हुई हैं वह पुस्तक मिल साहब का लिखा "भारतवर्ष का इतिहास" है। यद्यपि इस पुस्तक पर प्रोफ़ेसर विल्सन साहब के नोट हैं जो इसकी बहुत सी पक्षपात-पूर्ण बातों को दूर करते हैं, तथापि यह पुस्तक बड़ी हानिकारक है। दूसरी पुस्तक जिसकी मैं सिफ़ारिश करता हूँ और जो, मैं चाहता हूँ कि, इतने कम दामों में बेंची जाय कि उसे सभी पढ़ सकें कर्नल स्लीमन लिखित पुस्तक है जिसका नाम "कर्नल स्लीमन्स रेम्बिलस" (अर्थात् एक भारतीय कर्मचारी की यात्रा और स्मरण-योग्य घटनाएँ) है। यह पुस्तक सन् १८३५-३६ में लिखी गई और १८४४ में छापी गई थी।

मिल सा० का लिखा हुआ इतिहास इंडियन-सिविल-सर्विस के पाठ्य ग्रन्थों में से एक है और इसे आप सभी पढ़ते हैं और इसमें परीक्षा भी देते हैं। इस पुस्तक के विषय में मैंने जैसी घृणा-पूर्ण निन्दा की है उसके समर्थन में मैं आपको कुछ प्रमाण दूँगा। मिल साहब ने हिन्दुओं के आचरणों के विषय में ड्यूबोय, ओर्म, बुकनन टैनेन्ट, और वार्ड नामक फ़रासीसी लेखकों के लेखों के आधार पर

लिखा है। ये पादरी लोग न तो बहुत योग्य थे और न निष्पक्ष ही थे। इन लोगों के ग्रन्थों में से हिन्दुओं के विरुद्ध बुरी से बुरी बातें ढूँढ़कर मिल साहब ने लिख दी हैं, लेकिन जहाँ कहीं अच्छी बातें थीं उन्हें छोड़ दिया है। जो बात हँसी में कही गई है वह भी उन्होंने सच्ची मान कर लिखी है, जैसे ब्राह्मण चिऊँटियों के बिल के समान छल-छिद्र और झूठ का घर है। वे हिन्दुओं पर झूठ बोलने ही का दोष नहीं लगाते हैं, बल्कि कहते हैं कि हिन्दू बड़े लड़ाक हैं। वे लिखते हैं कि जब हिन्दुओं में वैर का बदला लेने की हिम्मत नहीं रहती है तब वे अदालती लड़ाई लड़ते हैं। इसी बात को, हिन्दुओं पर दोष लगाये बिना, यों कह सकते हैं कि जब उनका अन्तःकरण और धर्मनीति उन्हें अपनी शत्रुता पूरी करने और विष देकर हत्या करने और बदला लेने से रोकती है, तब वे अंग्रेज़ी न्याय में भरोसा करके अदालतों में जाते हैं। डाक्टर राबर्टसन * ने अपनी भारत-सम्बन्धिनी एक पुस्तक में लिखा है कि जिस चतुराई से हिन्दू अदालती लड़ाई लड़ते हैं वह सभ्यता-सूचक है, न कि असभ्यता-सूचक। मिल साहब इनकी बात को काटकर लिखते हैं कि ऐसी चतुराई आयरलैंड के जंगली आदमियों में पाई जाती है। अंग्रेज़ी

* मनुस्मृति के ८वें अध्याय का ४३ वाँ श्लोक देखो। उसमें लिखा है कि न तो राजा को और न उसके कर्मचारियों को मुकदमेंबाज़ी बढ़ानी चाहिए। जब मुक़द्दमा आवे तो उसका तत्काल ही फैसला कर देना चाहिए।

अदालत जिनमें मुसलमानी अदालतों की तरह रिशवत देकर फ़ैसले नहीं किये जाते हैं हिन्दुओं को पसन्द हैं, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन इस बात को जाने दो, पहले यह तो बताओ कि क्या हिन्दू दूसरी जातियों से अधिक भगड़ालू हैं ? यदि हम सर टामस मनरो की सम्मति पढ़ें, जो मद्रास के नामी गवर्नर और रय्यतवारी बन्दोबस्त के बड़े पक्षपाती थे, तो मालूम होगा कि वे क्या लिखते हैं। उनका लिखना है कि मैंने हिन्दुओं को सभी हालतों में देखा है और मैं कह सकता हूँ कि वे लड़ाक नहीं हैं।

मिल साहब एक जगह यहाँ तक लिखते हैं और अपने पाठकों को इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि ब्राह्मण जब चाहे तब किसी की हत्या कर सकता है। वे हिन्दुओं को नीच से नीच दुष्ट कर्म्मों का भयङ्कर घर बताते हैं। कर्नल वेन्स केनटी साहब ने इसपर लिखा है कि यदि ये लोग ऐसे दुष्ट और नीच होते, तो उनकी समाज अभी तक कैसे रहती। जो वाक्य मिल साहब ने लिखे हैं उनका पूरा अभिप्राय वे खुद भी नहीं समझ सकते। यदि ब्राह्मण जब चाहे तब किसी की हत्या कर सकता है तो ऐसा प्रमाण कि ब्राह्मण कभी हत्या करते पाया ही नहीं गया है उनके विपक्ष में बड़ा प्रबल होगा। अपराध-सूचक नक़्शों से यह बात साबित हुई है कि इँगलैंड में दस हज़ार पीछे एक अभियोग में फाँसी की सज़ा दी गई है और बंगाल में दस लाख पीछे एक * में।

* एलफ़िंस्टन साहब भारत के इतिहास में लिखते हैं कि

संसार को भारत का सन्देश ।]

कर्नल स्लीमन की पुस्तक जिसका उल्लेख मैं अभी कर चुका हूँ बहुत प्रसिद्ध है । इन लेखक महाशय का परिचय कराने के लिए मैं आपको उनकी पुस्तक का कुछ अंश सुनाता हूँ । ये साहब अपनी पुस्तक का विषय अपनी बहिन को पत्र के रूप में लिखकर भेजा करते थे। उनका एक पत्र इस प्रकार है:—

"मेरी प्यारी बहिन,

यदि कोई उन अंग्रेज़ों से पूछे जो हिन्दुस्थान में रहते हैं कि तुम्हें सबसे अधिक हर्ष किस बात में होता है तो दस में से नौ कहेंगे कि जो चिट्ठियाँ हम अपने घर से अपनी बहिनों से पाते हैं उनसे होता है। इन चिट्ठियों से हमारा आनन्द ही नहीं बढ़ता, बल्कि वे हमें संसार में सब आदमियों की तरह रहने और मन लगाकर सरकार का काम करने में योग देती हैं, क्योंकि हम हिन्दुस्थान में उनके साथ रहन-सहन करने की चेष्टा करते हैं जिनमें से हमारी बहिनें हैं। ये भारत-सरकार के आनरेरी मजिस्ट्रेटों का सा काम करती हैं।"

इन थोड़े से वाक्यों से आपको मालूम होगया होगा कि लेखक में कैसी सज्जनता है और उसे अपनी बहिन

इँगलैंड में २३२ फाँसी की सज़ाओं में से सिर्फ़ ६४ सज़ाएँ दी गई थीं और बंगाल में ५६ फाँसी की सज़ाओं में सभी दी गईं (फाँसी की सज़ा को क़ैद की सज़ा में तबदील करना बड़ा मुश्किल है) ।

की रुचि की कितनी परवाह है। इसी बहिन के साथ वे अपनी वृद्धावस्था व्यतीत करने की आशा करते हैं। पहले तो उन्होंने लिखा है कि 'मैं आपके पत्रों का उत्तर आलस्य के कारण अथवा लंबी चिट्ठियाँ लिखने का समय न पाने के कारण नहीं दे सका।' फिर वे लिखते हैं कि 'जब मैं अपने स्वास्थ्य के लिए नर्मदा से लेकर हिमालय पर्वत तक की यात्रा करता था उस समय भारतवर्ष में रहने से मुझे जो अनुभव हुए हैं और जो बातें मन में जमी हैं उनका पूरा हाल लिखकर अपनी बहिन के पास भेजता हूँ।' पहले जो कुछ उन्होंने लिखा है उससे उनकी बहिन अथवा उनके घर के दूसरे आदमियों ही का मनोरञ्जन हो सकता है, लेकिन फिर वे सच्चाई के साथ यह लिखते हैं कि 'मैं आप सबको विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ भी मैंने अपने यात्रा-वर्णन में अथवा बात-चीतों में लिखा है उसमें कुछ भी अत्युक्ति अथवा असत्य नहीं है। जो कुछ मैं दूसरों की सुनी लिखता हूँ उसे मैं सच्ची समझता हूँ और जो बात मैं आँखों-देखी लिख रहा हूँ उसपर आप पूरा पूरा भरोसा कीजिए कि वे सब सच्ची हैं।' सन् १८४४ ई० में जब उन्होंने अपनी पुस्तकें छपवाईं तो उन्होंने यह आशा प्रकट की कि 'इन पुस्तकों से हमारे देश के मनुष्य जिनको हिन्दुस्थान में रहना पड़ता है भारतवासियों के आचरण अच्छी तरह समझ सकेंगे और उनके साथ प्रेम-भाव व्यक्त करेंगे।'

यदि आप यह पूछें कि मैं कर्नल स्लीमन को भारतवासियों के चरित्र के विषय में ऐसा विश्वासी और

प्रामाणिक लेखक क्यों समझता हूँ, इतना ही नहीं बल्कि मैं उन्हें निष्पक्ष और यथार्थवादी प्रोफ़ेसर विल्सन से भी अधिक प्रामाणिक क्यों समझता हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि विल्सन साहब तो सिर्फ़ कलकत्ते में ही रहे थे और कर्नल स्लीमन ने भारतवर्ष की गाँव-पंचायतों को देखा था जिनसे भारतवर्ष का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। ये साहब कितने ही वर्षों तक ठगी बन्द करने के महकमे के अफ़सर रहे थे। ठगों की जीवन-वृत्ति लोगों की हत्या करना थी और इन हत्याओं को वे लोग एक प्रकार धर्म-युक्त समझते थे। आदि में केवल मुसलमान ही ठग थे; परन्तु पीछे हिन्दू और मुसलमान दोनों ठग दलों में शामिल हो गये थे। तब भी संख्या मुसलमानों ही की अधिक थी। ठगों के दल पकड़ने के लिए कर्नल स्लीमन को गाँव के आदमियों के साथ बहुत रहना पड़ता था जिससे वे उनके विश्वास-पात्र बनें और इस बात को भी जाँच सकें कि उनके चाल-चलन में कौन अच्छी बातें हैं और कौन बुरी हैं।

कर्नल स्लीमन लिखते हैं कि जिसने गाँव-वालों को नहीं देखा है और न जो उनकी पंचायतों में शामिल हुआ है वह हिन्दुस्तानियों के विषय में कुछ भी नहीं जानता। वह ग्रामीण जीवन ही है जिससे हिन्दुस्तानियों का चरित्र बना है। यह बात अन्य किसी देश में नहीं है। जब हम भारत के इतिहास में राजा, महाराजा, बादशाहों आदि का हाल पढ़ते हैं तब हम समझते हैं कि पूर्वी देशों का ऐसा राज्य-शासन है कि जिसमें एक आदमी राज्य करता है और

जिसमें उस स्वराज का कुछ भी लेश नहीं है जिसका हम इँगलैंड में अभिमान करते हैं। लेकिन जिन लोगों ने भारतवर्ष का राष्ट्रीय * जीवन समझा और पढ़ा है उनकी सम्मति इसके विपरीत है। राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवन्ध का केन्द्र भारतवर्ष में विदेशी मनुष्यों के बार बार आक्रमण और विजय करने पर भी गाँव की पंचायत ही रही है। कभी कभी ये पंचायतें किसी काम के लिए मिल जाया करती हैं और इस मिले हुए रूप में उन्हें 'ग्रामजाल' कहते हैं। परन्तु प्रत्येक पंचायत अपने अपने रूप में पूरी होती है। हम मनुस्मृति में जो यह पढ़ते हैं कि दस, बीस, सौ और कभी हज़ार गावों के ऊपर शासन करने के लिए राज्य-कर्मचारी नियुक्त होते थे तो इसका अर्थ यही समझो कि उन कर्मचारियों का काम सिर्फ कर वसूल करने का था। इसके सिवा उनके ऊपर इस बात की जिम्मेदारी भी रहती थी कि वे अपने अधीन गाँवों में सद्-व्यवहार का प्रचार करावें।

पिछले समय में चौरासी गाँव की चतुरष्ठी और ३६० गाँव की जमायतें बनती थीं। इनका अर्थ भी यही है कि ये कर वसूल करने ही के लिए बनाई जाती थीं।

सामान्य हिन्दुओं के लिए बल्कि १०० सौ में से निन्यानवे हिन्दुओं के लिए गाँव ही दुनिया थी और

* मनु अ० ११५ श्लोक

वहाँ का लोकमत जिसका परिणाम व्यक्तियों पर अच्छा पड़ता था ग्राम-सीमाओं से बाहर नहीं जाता था * ।

कर्नल स्लीमन ने पहले-पहल भारतवर्ष में इन ग्रामीण पंचायतों की ओर ध्यान आकर्षित किया और यह बताया कि प्राचीन और आधुनिक समय में समस्त देश के सामाजिक संगठन में इन पंचायतों का क्या महत्व है। सर हेनरी मेज़ ने इन पंचायतों के विषय में और भी अधिक लिखा है और इनके लेखों द्वारा इनके विषय में लोगों को अधिक मालूम हुआ है; तथापि जो वर्णन कर्नल स्लीमन ने किया है वह बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। जो कुछ इन्होंने लिखा है वह एक ऐसे देखनेवाले की दृष्टि से लिखा है जिसको आर्य-जाति के सामाजिक और राजकीय संस्थाओं के विकास के विषय में कोई मत नहीं बाँधना था।

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्नल

* डाक्टर हन्टर के जन-संख्या-सूचक नक्शों से मालूम होता है कि समस्त हिन्दुस्थान में ४,९३,४९८ शहर और गाँव हैं। इनमें से ४,४८,३२० की जनसंख्या तो १,००० से भी कम है। उनको गाँव कहना चाहिए। बंगाल में जहाँ आबादी अच्छी है वहाँ १,१७,०४२ छोटे छोटे गाँव हैं जिनमें से आधों की आबादी २०० मनुष्य प्रति गाँव भी नहीं है। सिर्फ़ १०,०७७ क़सबों की आबादी बँगाल में १,००० से अधिक है। सिर्फ़ $\frac{१}{१७}$ बसतियाँ ऐसी हैं जिन्हें गाँव कह सकते हैं। उत्तरी पश्चिमी सूबे में पिछली मर्दुमशुमारी में १,०५,१२४ गाँव और २८७ क़सबे थे। —१४ अगस्त, सन् १८८२ ई० का टाइम्स देखो।

स्लीमन के द्वारा ही यह बात मालूम हुई कि भारतवर्ष छोटे छोटे गाँवों में बँटा हुआ है। बहुत प्राचीन समय में यह बात मैगस्थनीज़ * को भी सूझी थी; क्योंकि उन्होंने लिखा है कि हिन्दुस्थान में किसान अपने स्त्री-बच्चों के साथ रहता है और शहर में कभी जाता ही नहीं। नियर्कस नामक लेखक ने लिखा है कि हिन्दुओं के कुटुम्ब के कुटुम्ब ज़मीन को जोतते-बोते हैं। जिस बात को कर्नल स्लीमन ने पहले ही पहल बताया है वह यह है कि हिन्दुओं में जो कुछ गुण हैं वे उनके ग्रामीण जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

यह ग्रामीण जीवन अंग्रेज़ी अफ़सरों को बहुतही कम मालूम है; क्योंकि यह बात कही जाती है कि अंग्रेज़ी अफ़सरों को देखते ही वे गुण जो प्रतिदिन के जीवन में और गाँव की पंचायत करने में प्रकट होते हैं जाते रहते हैं। यदि किसी मनुष्य को ग्रामीण समाज में से हटा लो तो यह समझो कि वह सामाजिक नियम से अलग ही हो गया है। ऐसी दशा में वह अपने जीवन की मर्यादाओं को भूलकर कुपथगामी हो जायगा। गाँव गाँव के बीच में भी राष्ट्रीय नीति का इतना प्रभाव नहीं रहता है। उसी चीज़ को गाँव में चोरी या डकैती कहेंगे; परन्तु वही चीज़ जब दूसरे दूर के गाँव में की जायगी तो वह एक बहादुरी का काम गिना जायगा और उसे विजय या सफल आक्रमण

* मेगस्थनीज़ और एरियन का भारतवर्ष का वर्णन देखिए जो मेक क्रिन्डल साहब-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है।

के नाम से पुकारेंगे। जिस चीज़ को आपस के वर्ताव में चालाकी या छल-फरेब कहेंगे उसी चीज़ को जब अन-जानों के साथ किया जाय तो नीति या राजनीति पुकारेंगे। दूसरे गाँव के आने-वाले लोगों के साथ आतिथ्य-व्यवहार किया जायगा; लेकिन उसी गाँव के लोगों में कोई अतिथि या महमान नहीं कहलायेगा। *

कर्नल स्लीमन ने इन ग्राम-समाजों के मनुष्यों के सदाचार के विषय में जो लिखा है उसे भी सुनिए, और इस बात को भी याद रखिए कि ये साहब ठगी बंद करने के मुहकमे के कमिश्नर थे जिन्हें हिन्दुस्थानियों के चाल-चलन में अच्छी-बुरी सभी बातें देखने का अवसर मिला था।

वे विश्वास दिलाते हैं कि गाँव-वाले आपस में झूठ नहीं बोलते हैं। गोंड़-सरीखी असभ्य जातियों के विषय में वे लिखते हैं कि किसी गोंड़ को झूठ बोलने के लिए चाहे कैसाही लोभ क्यों न दिया जाय, पर वह झूठ कभी नहीं बोलेगा। वह किसी दूसरी जगह से मवेशी चुरा लाना चाहे कुछभी पाप न समझे; पर झूठ बोलने को भारी पाप समझता है। इन आदमियों के विषय में कह सकते हैं कि ये झूठ की क़ीमत नहीं जानते; लेकिन ऐसी अनभिज्ञता सभी जातियों को लाभदायक हो सकती है। मैं आपसे गोंड़, भील, संथाल या दूसरी अनार्य

---

* वशिष्ठ-संहिता, अध्याय ८, श्लोक ८।

जातियों की कुछ प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। मैं तो आर्य अथवा भारतवर्ष के अन्य सभ्य निवासियों के विषय में कह रहा हूँ। जब किसी गाँव में ऐसा मामला आ पड़े कि लोगों के कर्त्तव्य क्या हैं और उनकी स्वार्थ-चेष्टाएँ क्या हैं, तो ऐसी दशा में भी गाँव में कोई मनुष्य झूठ नहीं बोलेगा; क्योंकि लोकमत उसके विरुद्ध होता है। देवताओं का डर अभी चला नहीं गया है। बहुधा गाँवों में कोई न कोई पवित्र वृक्ष होता है; जैसे पीपल, और लोग समझते हैं कि इसपर देवगण बैठकर इसकी पत्तियों की झँझनाहट की मधुर ध्वनि सुना करते हैं। कहनेवाला एक पत्ती को अपने हाथ में लेकर और देवता को पुकारकर कहता है कि जिस तरह मैं अपने हाथ की पत्ती को कुचल सकता हूँ उसी तरह यदि मैं सच के सिवा और कुछ कहूँ तो देवता मुझे और मेरे प्यारे को इसी तरह कुचल डाले। फिर वह पत्ती को उखाड़कर कुचल डालता है और अपना बयान देना शुरू करता है। पीपल के वृक्ष पर हिन्दुओं के देवताओं में से कोई देवता रहता है और जंगली जातियों में यह विश्वास है कि कपास के वृक्ष पर उनके देवता रहते हैं। ये देवता बड़े भयंकर होते हैं; क्योंकि उन्हें उस जगह की हिफ़ाजत करनी पड़ती है। स्लीमन साहब कहते हैं कि पंचायतों में आदमी स्वाभाविक धर्म से सच ही बोलते हैं और वे लिखते हैं कि मेरे सामने सैकड़ों ऐसे मुक़द्दमे आये हैं जिनमें झूठ बोलने से माल, मत्ता और जान सब बचती थी, लेकिन तब भी लोग झूठ नहीं बोले। क्या कोई

अंग्रेज़ जज भी ऐसी बात कह सकता है?

पीपल या कपास-वृक्षों के नीचे अपने गाँव की पंचायतों में इन लोगों की कल्पना वही काम कर दिखाती है जिसके करने की आशा देवताओं से की जा सकती है। यदि वह मनुष्य झूठ बोल देता है तो उसके मन में हमेशा खुटका लगा रहता है कि मुझसे बदला अवश्य लिया जायगा। यदि उसे या उसके किसी घरवाले को कोई दुर्घटना हो जाय, तो वह समझता है कि यह उसी देवता के कोप का परिणाम है। अगर कोई ऐसी दुर्घटना भी नहीं होती तब भी वह अपने संदिग्ध विचारों से कोई बुराई कल्पित कर लेता है। पुराने न्याय-ग्रन्थों में * लिखा है कि साक्षी के उत्तर को उसके पितर देखा करते हैं और उस उत्तर के सच-झूठ होने पर उनका स्वर्ग या नरक में जाना निर्भर रहता है।

कर्नल स्लीमन ने एक अंग्रेज़ी अफ़सर और एक दूसरे क़ानून-कर्मचारी का सम्वाद लिखा है। इसका थोड़ा अंश मैं आपको सुनाता हूँ।

देशी वकील से पूछा गया—अगर क़ुरान या गंगाजल की शपथ खाना बन्द कर दिया जाय और उसकी जगह ईश्वर का नाम लेकर एक साधारण शपथ रखी जाय, और इस शपथ तोड़ने का वही दण्ड है जो

* वशिष्ठसंहिता, १६ अ०, ३२ श्लोक।

कुरान और गङ्गा की शपथ खाने का है तो इसका क्या असर होगा ?

वकील—मैं तीस वर्षों से अदालतों में काम करता रहा हूँ और मैंने तीन तरह के गवाह देखे हैं जिनमेंसे दो तरह के गवाहों पर तो इस शपथ-परिवर्तन का कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा, वे जैसे हैं तैसेही बने रहेंगे; पर एक प्रकार के गवाह इस नई शपथ के होने से एक परम उपयोगी बंधन से छूट जायेंगे।

साहब—ये तीन तरह के गवाह कौन हैं ?

व०—पहली क़िस्म के गवाह वे हैं जो हमेशा सत्य ही कहते हैं चाहे उन्हें शपथ दिलाई जाय या न दिलाई जाय।

सा०—क्या इस क़िस्म के बहुत गवाह होते हैं ?

व०—हाँ, मेरे ख़याल में बहुत होते हैं। इन गवाहों में मैंने बहुतोंको ऐसा पाया है कि जिन्हें सत्य बोलने से दुनिया की कोई भी चीज़ नहीं हटा सकती। इन्हें चाहें डरवाओ, चाहे किसी तरह का प्रलोभन दो लेकिन वे जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलेंगे।

दूसरी तरह के ऐसे गवाह होते हैं जिन्हें शपथ एक बंधन है और जो अपने मतलब के लिए झूठ बोलने में कोई संकोच नहीं करते। शपथ लेने में उन्हें केवल दो बातों का डर रहता है—एक तो ईश्वर का कोप और दूसरे, मनुष्यों की निन्दा।

तीन रोज़ हुए एक ख़ान्दानी स्त्री से मुख़्तार-रनामा कराना था; क्योंकि मुझे उसकी तरफ़ से अदालत में एक मुक़द्दमे की पैरवी करनी थी। उसके भाई ने मुझे मुख़्तार-नामा दिया और दो गवाहों ने इस बात की तसदीक कर दी कि मुख़्तारनामा उसका ही दिया हुआ है। मैंने इन गवाहों से कहा कि यह स्त्री तो पर्दानशीन है और जब जज साहब तुमसे पूछेंगे कि क्या तुमने उस औरत को मुख़्तारनामा देते देखा है तो तुम क्या जवाब दोगे ? दोनों ने जवाब दिया कि अगर जज साहब बिना शपथ दिलाये पूछेंगे तो हम कह देंगे कि हाँ; 'हाँ' कह देने से बहुतसी दिक़्क़त बचेगी; क्योंकि हम इस बात को जानते हैं कि यह काग़ज़ उसीने दिया है, यद्यपि हमने यह काग़ज़ उसे देते नहीं देखा है। लेकिन अगर हमारे हाथ में कुरान रख दिया जायगा तो हम 'ना' कहेंगे; क्योंकि सब गाँव-वाले हमें झूठा बतावेंगे और हमारे दुश्मनों को कहने के लिए ख़ूब अवसर मिलेगा कि इन्होंने झूठी क़सम खा ली है।

वकील साहब ने कहा कि शपथ दिलाने से इस क़िस्म के आदमियों पर एक भारी रोक है।

तीसरे प्रकार के ऐसे आदमी हैं, जब कि उनका कोई मतलब होगा तो चाहे उनके हाथ में कुरान दे दो या गंगाजल दे दो वे झूठ बोलने से कभी नहीं रुकेंगे उन्हें झूठ बोलने से कोई चीज़ नहीं रोक सकती है औ॰

जैसी शपथ आप प्रचलित करना चाहते हैं उसमें और किसी प्रकार की अन्य शपथ में उनकेलिए कोई अन्तर नहीं है।

प्र०—तुम्हारी राय में इन तीनों में से किस क़िस्म के आदमी ज़्यादा हैं?

उ०—मेरे ख़याल में दूसरे क़िस्म के मनुष्य अधिक हैं और इनकेलिए शपथ जारी रखनी चाहिए।

प्र०—क्या तुम्हारा मतलब है कि जो अदालतों में गवाही देते हैं उनमें अधिक आदमी ऐसे हैं कि यदि कुरान या गंगाजली उनके हाथ में नहीं रखी जाय तो वे स्वार्थवश झूठ कहेंगे?

उ०—हाँ।

प्र०—क्या तुम्हारी राय में इन दूसरे क़िस्म के मनुष्यों में बहुतसे ऐसे आदमी नहीं हैं जो किसान हैं और गाँव से आये हैं?

उ०—हाँ।

प्र०—तुम्हारी यह राय नहीं है कि बहुतसे वे आदमी जो कुरान या गङ्गाजली दिये बिना सच न कहेंगे अपने गाँव के आदमियों के सामने कभी झूठ न बोलेंगे?

उ०—बेशक यही बात है। उन आदमियों में से जो अदालतों में झूठ बोलने से नहीं डरते कोई

तीन-चौथाई ऐसे हैं जो अपने पड़ोसियों या गाँव के मुखियों के सामने झूठ बोलने में शरमायेंगे।

प्र०—क्या तुम्हारा यह मतलब है कि गाँव-वाला आदमी अपने पड़ोसियों के सामने शहर-वाले आदमियों की अपेक्षा झूठ बोलने में अधिक लज्जित होता है ?

उ०—बहुत ज्यादा। कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

प्र०—हिन्दुस्थान में शहर और क़स्बों में रहने-वाले आदमियों की अपेक्षा क्या गाँव के मनुष्यों की संख्या अधिक है ?

उ०—बेशक, बहुत अधिक है।

प्र०—तो तुम्हारा यह मतलब है कि हिन्दुस्थान में पिछले दो प्रकार के आदमियों की अपेक्षा पहले प्रकार के आदमी अर्थात् वे आदमी जिनके हाथ में क़ुरान या गङ्गाजली रखी जाय या न रखी जाय सदैव सच बोलेंगे, अधिक हैं ?

उ०—हाँ, यही मतलब है। अगर इनसे इनके पड़ोसियों या बड़ों के सामने पूछा जाय और इनको यह मालूम हो कि हम जो कुछ कहते हैं उसे ये लोग सुन रहे हैं तो वे सदैव सच बोलेंगे।

कर्नल स्लीमन-द्वारा किया हुआ भारतवासियों की सच्ची चाल-चलन की बात का उल्लेख मैंने यहाँ

इसलिए किया है कि भारतवासियों के चरित्र-वर्णन में अन्याय न हो। मैं उन्हीं भारतवासियों से सम्बन्ध रखता हूँ जो अपने प्रतिदिन के जीवन का सद्व्यवहार करते हैं। मैं सन् १००० के पीछे और पहले के भारत-वासियों में भेद मानता हूँ। उस समय से जब कि भारत को जीतनेवाले मुसलमान बादशाहों ने अत्याचार करना शुरू किया उस समय तक जब इँगलैंड ने भारतवर्ष में पदार्पण करके मनुष्यता के मूलाधार नियमों का फिर से प्रचार किया, इस अवधि में कोई जाति इस नर्क-काण्ड से और राक्षस होने से बचकर रह सकी, इसी बात का मुझे आश्चर्य है।

महमूद ग़ज़नवी से २००० वर्ष पहले भारतवर्ष में विदेशी आदमी बहुत कम आये तब भी यह बात आश्चर्यप्रद मालूम होती है कि यूनानी, चीनी, ईरानी अथवा अरबी ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी हम भारतवासियों का चरित्र पढ़ते हैं वहाँ उनके सम्बन्ध में सच और न्याय को पहला स्थान दिया गया पाते हैं।

आर्टक्सीज़ नेमिन (Artaxerxes Mnemon) बादशाह के दर्बार में प्रसिद्ध यूनानी हकीम कैसियस ने जो ईसा से ४०४ वर्ष पहले कुनेक्सा के युद्ध में मौजूद था और जो यूनानी लेखकों में से भारतवासियों के चरित्र-वर्णन में सबमें पहला है अपने ग्रन्थ में "भारतवासियों का न्याय" पर एक विशेष अध्याय लिखा है और उसमें जो कुछ वर्णन उसने किया है वह उन बातों के आधार पर किया

है, जो उसने ईरान के बादशाह के दर्बार में सुनी थीं।

सिल्यूकस निकेटर का एलची मेगस्थनीज़ जो पाटलिपुत्र के महाराजा चन्द्रगुप्त के दर्बार में रहा था, लिखता है कि हिन्दुस्थान के बीच चोरियाँ बहुत कम होती हैं और हिन्दुस्थानी सचाई और धर्म को बहुत पसन्द करते हैं।

एपिक्टेटस के शिष्य एरियन ने ईसा की दूसरी सदी में भारतवर्ष के कर्मचारियों के विषय में लिखा है—'ये लोग गाँव और शहरों में जो कुछ होता है उसकी निगरानी रखते हैं और सबकी रिपोर्ट अपने राजा को देते हैं। जहाँ राजा नहीं होता और मनुष्य स्वराज्य-प्रबन्ध करके रहते हैं वहाँ रिपोर्ट मजिस्ट्रेटों को दे दी जाती है। ये रिपोर्टें कभी झूठी नहीं होतीं। वास्तव में हिन्दुस्थानी झूठ बोलने का अपराध कभी करते ही नहीं'।

चीनी लोग जो इसके पीछे आये हिन्दुओं की सचाई और ईमानदारी के विषय में एक मत से प्रमाण देते हैं। ह्यून-शांग जो चीनी यात्रियों में अधिक प्रसिद्ध है हिन्दुस्थान में सातवीं शताब्दी में आया था। वह लिखता है कि "यद्यपि भारतवासी विलासप्रिय हैं तथापि उनमें ईमानदारी और सचाई के अच्छे गुण हैं। वे अन्याय से किसीका धन नहीं लेते और न्याय से बहुत कुछ देने के लिए उद्यत रहते हैं। उनके राज्य-शासन में सत्य की प्रधानता रहती है।"

यदि हम भारतवर्ष के विजेता मुसलमानों के लेखों को पढ़ें तो हमें इद्रीसी नामक लेखक की लिखी भूगोल की पुस्तक में (जो ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी गई थी) भारतवासियों के विषय में ये सम्मतियाँ मिलती हैं:—

"भारतवासी बड़े न्याय-परायण हैं और वे न्याय-पथ से कभी विचलित नहीं होते हैं। वे अपनी बात के बड़े पक्के होते हैं। अपने इस गुण के लिए वे ऐसे प्रसिद्ध हैं कि उनके देश में सभी देशों से अनेक मनुष्य आते रहते हैं।"

१३ वीं शताब्दी में हमें मार्कोपोलो के कथन से प्रमाण मिलता है। वह संभवतः उन ब्राह्मणों को, जो व्यापारी नहीं थे, परन्तु व्यापारी के काम-काजों के लिए राजा से नियुक्त किये जाते थे, एवरमैन के नाम से पुकारता है। यह बात उस समय की है जिसे ब्राह्मण आपत्ति-काल कहते थे और जिस आपत्ति-काल में बहुतसी धर्म-निषिद्ध बातों के करने की भी आज्ञा थी। मार्कोपोलो का कथन है कि ये ब्राह्मण संसार में सबसे अच्छे व्यापारी हैं और बड़े ईमानदार हैं। ये दुनिया की किसी चीज़ की लालच में आकर झूठ नहीं बोल सकते।

१४ वीं शताब्दी में फ्रायर्जोर्डेनस का प्रमाण मिलता है। वह लिखता है कि दक्षिणी और पश्चिमी भारत के मनुष्य बड़े सत्यवादी और न्यायप्रिय हैं।

संसार को भारत का सन्देश।]

१५ वीं शताब्दी में कमालुद्दीन, अबदुर्रज़ाक़ समरकन्दी (१४१३-१४८२) खुरान के राजा का दूत होकर कालीकट और विद्यानगर के दर्बार में (लगभग १४४०-१४४५ में) आया था। वह लिखता है कि इस देश (भारतवर्ष) में व्यापारी और दूकानदार खूब अमन-चैन से रहते हैं और चोरी-डकैती का डर नहीं है।

१६ वीं शताब्दी में अकबर बादशाह का वज़ीर अबुलफ़ज़ल आईन अकबरी में लिखता है कि "हिन्दू बड़े धार्मिक, शिष्टाचारी, प्रसन्नचित्त और न्याय-परायण हैं। वे ज्यादा मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते; अपने अपने कामों में सबही कुशल होते हैं; सबही सत्य-पथ ग्रहण करते हैं; दूसरों के उपकारों को नहीं भूलते; जो उनके साथ उपकार करते हैं उनके वे बड़े कृतज्ञ होते हैं, और वे पहले दर्जे के स्वामि-भक्त भी होते हैं। हिन्दू सैनिक समर-भूमि से भागना तो जानते ही नहीं।"

आधुनिक समय में भी मुसलमानों ने इस बात को मान लिया है कि मुसलमान मुसलमान के आपसी व्यवहार की अपेक्षा हिन्दू हिन्दू अपने आपसी व्यवहार में अधिक सच्चे होते हैं।

एक प्रतिष्ठित वृद्ध मुसलमान मीर सलामत अली जो कर्नल स्लीमन के कथनानुसार एक बड़ा योग्य राजकर्मचारी था यह स्वीकार करता है कि हिन्दू मुसलमान के साथ रहने ही को उद्यत नहीं है; बल्कि उसके

साथ रहना अच्छा समझता है; किन्तु मुसलमान में यह बात नहीं है। मुसलमानों में ७२ फिरक़े हैं और हर एक फिरक़े का आदमी अपने ही फिरक़े के साथ रहना पसन्द करता है।

मैं इस प्रकार एक के बाद दूसरे ग्रन्थ से बहुतसे प्रमाण दे सकता हूँ जिससे यह सिद्ध होगा कि जो मनुष्य हिन्दुस्थान में गये उनपर हिन्दुओं की सचाई का बड़ा प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिन्दुस्थान के रहनेवालों में सत्यपरायणता एक मुख्य लक्षण है। किसीने भी इन्हें झूठ बोलने का कलंक नहीं लगाया है। निस्सन्देह इसका कोई विशेष कारण है; क्योंकि इस समय में भी जो यात्री अक्सर अन्य देशों को जाया करते हैं यह नहीं कहते हैं कि उन देशों के रहनेवाले हमेशा सच ही बोलते हैं। जो अंग्रेज़ फ्रान्स की यात्रा करते हैं वे फ्रान्सवालों की ईमानदारी और सचाई की तारीफ़ बहुधा नहीं करते, परन्तु जो फ्रान्सवाले इँगलैंड में आते हैं वे अंग्रेज़ों पर धोखेबाज़ होने का आक्षेप ज़रूर करते हैं।

यदि ये सब बातें सही हैं तो आप पूछ सकते हैं कि इसका क्या कारण है कि इँगलैंड में सार्वजनिक सम्मति भारतवासियों के विरुद्ध है। इँगलैंडवासी उन्हें कृपा की दृष्टि से देख भले ही लें; लेकिन उनका भारतवासियों पर पूरा विश्वास कभी नहीं हो सकता और न वे उनके साथ बराबरी का बर्ताव ही करने के लिए कभी तैयार हो सकते हैं।

संसार को भारत का सन्देश।]

मैं अभी कुछ कारण बता ही चुका हूँ। भारतवासियों के विषय में जो विचार इँगलैंड में फैले हैं वे उन लोगों के द्वारा फैले हैं जो कलकत्ता, बम्बई, मद्रास अथवा भारतवर्ष के और किसी प्रधान नगर में अपना सारा समय व्यतीत करके लौटे हैं। इन शहरों के रहने-वालों में भारतवर्ष की जनता के बहुत बुरे नमूने हैं। इन शहरों में विदेशियों को उच्च कोटि के प्रतिष्ठित मनुष्यों की घरू बातें देखने के बहुत कम अवसर मिलते हैं और यदि ऐसा अवसर मिले भी तो उनके रीति-व्यवहारों को अपनी दृष्टि से देखकर यह जाँच करना कि उचित, शिष्ट-सम्पन्न और श्रेष्ठ बात क्या है, बड़ा कठिन है। ऐसी बातों के ठीक ठीक न समझने से बड़ी भयंकर भूलें होजाती हैं। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जब एक जाति के विषय में—उदाहरण-स्वरूप, हिन्दुओं के विषय में—भिन्न भिन्न और परस्पर-विरुद्ध बातें सुनने में आती हैं तो हममें से बहुतसे आदमी उनके छिपे हुए गुणों के अस्तित्व में सन्देह करने लगते हैं और उनके चाल-चलन के विषय में विरुद्ध बातें स्वीकार करने के लिए तैयार होजाते हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि इस मामले में, मैं भारतवर्ष के रहनेवालों का पक्षपात कर रहा हूँ और उनके गुणों की प्रशंसा करके उनके विषय में यथार्थ विचार करने को रोक रहा हूँ। मैं आपको इंडियन-सिविल-सर्विस के एक प्रसिद्ध विद्वान् और निष्पक्ष

अफ़सर की राय सुनाऊँगा। इनका नाम माउन्ट स्टुअर्ट एल्फ़िन्स्टन है। इन्होंने भारतवर्ष का इतिहास भी लिखा है। ये लिखते हैं, "भारतवर्ष में अंग्रेज़ों को, भारतवर्ष में रहने-वालों के चाल-चलन के विषय में ज्ञान-प्राप्त करने के अवसर कम मिलते हैं। इँगलैंड में भी बहुत कम आदमी ऐसे हैं जो अपने इष्ट मित्रों के सिवा दूसरों के विषय में अधिक जानते हैं, और जो कुछ जानकारी उन्हें दूसरों के विषय में होती है वह उन्हें समाचार-पत्र और पत्रिकाओं से ही हो सकती है; पर इस क़िस्म के समाचार-पत्र हिन्दुस्तान में छपते नहीं हैं। उस देश में भी धर्म और रहन-सहन के भिन्न व्यवहारों के कारण हिन्दुस्थानियों से हमारा मेल-जोल नहीं होता है, और न आपस में स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार-परिवर्तन ही होता है। बहुतसे कुटुम्बों का भीतरी हाल हमें रिपोर्टों के सिवा और कहीं से नहीं मालूम होता और हम जीवन के उन कामों में कोई भाग नहीं लेते हैं जिनमें मनुष्य के चरित्र के गुण मालूम हो सकें। इसके सिवा, पादरी, जज, पुलिस-मजिस्ट्रेट, माल और चुंगी के अफ़सर और राजनीतिज्ञ भी किसी देश के सबसे अच्छे मनुष्यों को नहीं देख पाते हैं। यदि वे मनुष्यों से मिलते भी हैं तो उनके मिलने का कारण या तो कोई व्यक्तिगत विरोध होता है, या स्वार्थ। हम जो कुछ देखते हैं उसकी जाँच हम अपनी दृष्टि के अनुसार करते हैं। हम समझते हैं कि जो मनुष्य छोटी छोटी बातों पर बच्चों की तरह रो उठता है वह

गम्भीरता-पूर्वक कोई काम नहीं कर सकता, और न दुःख के समय धैर्य ही रख सकता है। हम समझते हैं कि जो मनुष्य अपनेको झूठा कहलाने को तैयार है वह कोई भी नीच काम करने में नहीं शरमायेगा। हमारे लेखक देश-काल के भेदों को भी नहीं समझते हैं। वे एक ही चरित्र-वर्णन में मराठे और बंगालियों को मिला देते हैं और महाभारत के वीर पुरुषों के अपराध आजकल के मनुष्यों के माथे मढ़ देते हैं। हिन्दुस्थानियों के विरुद्ध तरह तरह की बातें सुनी जाती हैं; लेकिन इन सम्मतियों के विरोध में यह ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि जिन लोगों का संबंध हिन्दुस्थानियों से बहुत दिनों तक रहा है उनकी सम्मति इस विषय में बहुत अच्छी है। यह प्रशंसा हिन्दुस्थानियों ही की नहीं है, बल्कि मानवी स्वभाव की है; क्योंकि यह बात प्रत्येक जाति के लिए कही जा सकती है। यह कहना अधिक न होगा कि जो मनुष्य हिन्दुस्थान से नौकरी करके वापिस आगये हैं उनकी सम्मति प्रशस्त जातियों के मनुष्यों से उनकी तुलना करने पर उन मनुष्यों के विषय में जिनसे वे अलग होकर आये हैं, बहुत अच्छी पाई गई है।"

आश्चर्य की बात यह है कि जो सम्मति भारतवासियों के विरुद्ध दी जाती है उसे तो लोग जल्दी मान लेते हैं; पर जो सम्मति सिविल-सर्विस के अत्यन्त प्रतिष्ठित अफ़सरों और राज-प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने

भारतवासियों के विषय में अनेक अवसरों पर दी हैं उनका प्रभाव सार्वजनिक सम्मति पर कुछ भी नहीं पड़ता है। जिन्होंने भारतवासियों के विषय में अच्छी सम्मतियाँ दी हैं उनमें से कुछ यहाँ लिखी जाती हैं।

वारन हेस्टिंग्ज़ हिन्दुओं के विषय में लिखते हैं—"वे उपकारी और शिष्ट पुरुष हैं। उनके साथ मेहरबानी की जाय तो वे बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। उनके साथ बुराई की जाय तो वे उसका बदला लेने के लिए पृथ्वी भर के सब मनुष्यों की अपेक्षा बहुत कम उतारू होते हैं। वे ईमानदार, प्रेम करने-वाले और सब उचित आज्ञाओं को माननेवाले हैं।"

विशप हीबर लिखते हैं—"हिन्दुस्तानी बहादुर, बुद्धिमान्, शील-सम्पन्न, विद्यानुरागी और उन्नति के अभिलाषी होते हैं। वे नशा नहीं करते और मेहनती होते हैं। वे माता-पिता की सेवा करते हैं, बच्चों से प्रेम करते हैं, सदैव मृदु-स्वभाव-वाले और धैर्यवान् होते हैं। उनके साथ मेहरबानी करो अथवा उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान दो और उनके भावों के साथ सहानुभूति प्रकट करो तो उनपर इतनी जल्दी प्रभाव पड़ता है कि जितना मेरे देखे हुए और किन्हीं मनुष्यों पर नहीं पड़ा है।"

एल्फ़िन्स्टन साहब का कथन है—"हिन्दुओं में कोई आदमी ऐसे नीच और भ्रष्टाचार नहीं होते जैसे हमारे बड़े नगरों के नीचे दर्जे के आदमी होते

हैं ।- हिन्दुस्थान में; गाँववाले सब जगह बड़े प्रिय स्वभाव के होते हैं । वे अपने बाल-बच्चों से बड़ी प्रीति करते हैं; अपने पड़ोसियों से मेहरबानी का बर्ताव करते हैं । ठग और डाकुओं को भी मिलाकर हिन्दुस्तान में इँगलैंड की अपेक्षा कम जुर्म होते हैं । ठगों की तो जाति ही अलग है और डाकू भयंकर गुंडों के गिरोह हैं । हिन्दू सीधे और भोले होते हैं । क़ैदियों के साथ जैसा नम्र व्यवहार इनका होता है वैसा एशिया की किसी भी अन्य जाति का नहीं होता । वे व्यभिचार आदि घृणित बातों से अलग रहते हैं और इस बात में वे बिलकुल निराले ही हैं । आचार-विचारों की शुद्धता के विषय में वे हमसे भी बाज़ी मार ले जाते हैं । "

इतना लिखने पर भी एलफ़िन्स्टन साहब हिन्दुस्तान के आदमियों के दोष बताने में बड़े कड़े हैं। वे कहते हैं कि इस समय इनके प्रधान अवगुणों में से झूठ बोलना बड़ा अवगुण है; परन्तु इसके साथ साथ वे लिखते हैं कि -"धोखेबाज़ी की आदत उन लोगों में अधिक पाई जाती है जिनका सम्बन्ध गवर्नमेंट से है और ऐसे आदमियों की संख्या हिन्दुस्तान में सर्वत्र फैली हुई है; क्योंकि ज़मीन के लगान के कारण छोटे से छोटे गाँव में रहनेवाले को भी सरकारी कर्मचारियों की ज़बरदस्ती से बचने के लिए कपट और झूठ का आश्रय लाचार होकर लेना पड़ता है । "

[हिन्दुओं का सत्य व्यवहार।

सर जॉन मेलकम लिखते हैं—"मुझे ऐसा एक भी उदाहरण देखने को नहीं मिला जब कि कोई हिन्दुस्तानी आपकी बात को सीधो तरह समझ जाने पर भी झूठ बोलता हो। यदि वह झूठ बोला है तो उसका कारण या तो डर या नासमझी है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि हिन्दुस्तानी बराबर की दूसरी जाति के मनुष्यों से अधिक सच्चे हैं, बल्कि मेरा यह विश्वास है कि वे औरों के मुक़ाबले में ज़्यादा झूठे नहीं हैं।"

सर टामस मनरो इससे भी अधिक प्रशंसा करते हैं। वे लिखते हैं—"यदि कृषि-सम्बन्धी अच्छा प्रबन्ध करना, आराम और सुख भोगने की चीज़ों को बनाने की योग्यता रखना, गाँव गाँव में पढ़ने-लिखने और हिसाब सीखने के लिए पाठशालाएँ खोलना, आपस में मेहमानदारी तथा दान-पुण्य करना और स्त्रियों के साथ विश्वास, सम्मान, और शिष्टाचार-पूर्ण व्यवहार करना, ऐसी बातें हैं जो किसी सभ्य जाति के लक्षण बताती हों तो, हिन्दू यूरोप की जातियों से कदापि नीचे नहीं हैं। और, यदि इँगलैंड और भारतवर्ष के बीच सभ्यता-रूपी वस्तु का व्यवहार होवे तो मेरा विश्वास है कि इँगलैंड को इस व्यापारिक वस्तु के ख़रीदने से अधिक लाभ होगा।"

भारतवासियों के विषय में मेरा निजी अनुभव बहुत कम है। जिन हिन्दुओं से मुझे यूरोप में मिलने

का अवसर मिला है वे अपवाद-रूप समझे जा सकते हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि हिन्दुस्तान में जो अच्छे से अच्छे मनुष्य हो सकते हैं उनमें से ये अच्छे से अच्छे नमूने हैं। इसके अतिरिक्त मेरा उनके साथ ऐसा वर्ताव रहा है जिससे मुझे उनके दोष मालूम नहीं होसके हैं। पिछले २० वर्षों में मुझे कितने ही हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को देखने के ऐसे अच्छे अवसर मिले हैं कि मैं उनके सच्चे चालचलन को पहिचान सकता था। ये अवसर उनके विद्या-सम्बन्धी वाद-विवाद देखने के थे। मैंने उन्हें आपस में सम्वाद करते हुए और यूरोप के विद्वानों से भी सम्वाद करते हुए देखा है। इसपर से मैं कह सकता हूँ कि उनमें से कोई एक भी ऐसा नहीं था जिसको सत्य का अधिक आदर न हो और सच्चाई को लिये हुए और पक्षपात को छोड़े हुए बात न करता हो। ये बातें हम यूरोप और अमेरिका के लोगों में देखने के आदी नहीं हैं। उन विद्यार्थियों में तर्क-बल तो प्रकट होता है; परन्तु असभ्यता नहीं। जब यूरोप-वाले संस्कृत के विद्वान् उनपर असभ्य तानाबाज़ी करते हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। उन लोगों के मानवी स्वभाव की दृष्टि से असभ्य भाषण नीच अशिष्टाचार का लक्षण है, न कि पाण्डित्य-प्रदर्शन का। जब ये लोग भूल करते हैं तो वे अपनी भूल को तुरन्त मान लेते हैं। जब उनकी बात सही होती है तब वे अपने अंग्रेज़ मित्रों के साथ तानाज़नी कभी

नहीं करते । वे नुक़्ताचीनी भी नहीं करते और न अपनी बात रखने के लिए कभी हठ ही करते हैं । वे झूठ को सदैव त्याज्य समझते हैं । उनमें वैसी चालाकी नहीं है जैसी कभी कभी दूसरे लोगों में पाई जाती है; जैसे, किसी चीज़ को लिखकर छपवा देना, फिर उसी-को स्वयं झूठ समझना । इस तरह दूसरों को धोखा देकर अपनी प्रशंसा करना यह बात भी उनमें नहीं है । उन हिन्दुस्तानी छात्रों से हम लाभ उठा सकते हैं । मैं यह भी कहता हूँ कि अंग्रेज़ व्यापारियों ने मुझ से बार बार कहा है कि जैसी व्यापारिक साख भारतवर्ष में है वैसी और किसी दूसरे देश में नहीं है । भारत में हुन्डी बिना सकारे रहती ही नहीं ।

मैंने अन्त के लिए उन गवाहों को रहने दिया है जिनके विषय में कुछ भी शक हो सकता है—मेरा मतलब हिन्दुओं से है । उनके समस्त साहित्य में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सत्य की प्रशंसा और श्रद्धा है । सत्य के लिए वे जिस शब्द को काम में लाते हैं उसका बड़ा गम्भीर अर्थ है । यह शब्द है सत् या सत्य जो अस् धातु से बना है और जिसका अर्थ है होना । इसलिए सत्य के माने होना है—जो चीज़ जैसी है वैसी ही । अंग्रेज़ी शब्द 'सूथ' का सम्बन्ध सत्य से है । इसी तरह सत्य-सूचक यूनानी और लैटिन शब्दों का सम्बन्ध भी इस सत्य शब्द से है ।

हम सत्य का अर्थ यह समझते हैं कि जो बात अधिकांश मनुष्यों से मानी जाय वह सत्य है। इस प्रकार के सत्य को मान लेना सरल है; किन्तु जो मनुष्य अकेला खड़ा है और जिसके चारों ओर विरोध का आन्दोलन धूमधाम से हो रहा है और जिन आदमियों को ज्यादा समझना चाहिए वे लोग भी समझ से काम न लेकर इस आन्दोलन के गुल-गपाड़े में शामिल हो रहे हैं—वह जानता है—वह चाहे गेलोलियो हो या डारविन, कोलेन्सो हो या स्टैन्ले और चाहे अन्य कोई भी मनुष्य हो—जिस बात को मैं सत्य समझता हूँ उससे मेरे हृदय में कैसा आनन्द होता है। वास्तव में जो कुछ है वह यही है, यही सत्य है,—चाहे दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र अथवा पादरी, महन्त या पोप कुछ भी क्यों न कहें।

संस्कृत में सत्य के लिए दूसरा शब्द ऋत है, जिसका अर्थ है सीधा, और झूठ के लिए शब्द है अनृत।

वेद में देवताओं की अत्यन्त प्रशंसा में यही कहा गया है कि वे सच्चे और विश्वास-पूर्ण हैं (देखो ऋ० वे०, मं० १, ८७।४।१४५।५; १७४।१ और मं० ५, २३।२)। यह बात भलीभाँति जानी हुई है कि इस समय अथवा प्राचीन समय में मनुष्य अपने देवताओं में वही गुण बताते थे जिनका वे स्वयं अधिक आदर करते थे।

दूसरे शब्द जो देवताओं के गुण-वर्णन में आये हैं ये हैं-अद्रोघ इसका अर्थ है धोखा नहीं देना * । अद्रोघवाक् वह है जिसका वचन कभी झूठा नहीं हो । वैदिक ज्युपीटर (इन्द्र) की प्रशंसा में ‡ पितरों ने ये वाक्य कहे हैं—इन्द्र अपने शत्रु तक पहुँच उसपर विजय प्राप्त करता है और पर्वत के शिखर पर खड़ा रहता है । वह अद्रोघवाक् है और विचार करने में बड़ा शक्तिमान् है ।

द्रोघवाक् ‡ शब्द धोखेबाज़ आदमियों के लिए आता है । वेद के महर्षियों में से वशिष्ठ ने कहा है—"यदि मैं झूठ देवताओं को पूजता, अथवा देवताओं में निरर्थक विश्वास करता तो दूसरी बात थी; परन्तु हे जातवेदस्, तुम मुझसे क्यों अप्रसन्न हो ? जो झूठ बोलते हैं उनका नाश हो जाय । "

सत्यम् शब्द नपुंसक लिंग है और भाववाचक संज्ञा के रूप में इसका अर्थ सत्य बोलना है, और यह अर्थ ठीक है; लेकिन इसका अर्थ उस वस्तु से भी है जो वास्तव में हो । ऋग्वेद में कई ऋचाएँ ऐसी हैं जिनके अनुवाद में हमें सत्यम् का अर्थ सत्य भाषण न लेना चाहिए, बल्कि वास्तविक वस्तु लेना चाहिए । 'सत्येनोत्तभिता भूमिः- इसका अनुवाद है 'पृथ्वी सत्य पर स्थापित है' । यह अनुवाद कानों को अच्छा मालूम होता है और प्रत्येक

---

* ऋ० वे० ३, मं १४, ६; ३२, ६; ‡ ऋ० वे०, ६ मं० २२, २,

‡ ऋ० वे ७, मं० १०४, १४

अनुवादक ने सत्य का यही अर्थ लिया है। इस अनुवाद का यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो वह अर्थ इतना गम्भीर है कि उसे प्राचीन कवि और तत्ववेत्ता समझ नहीं सकते थे। उनका अभिप्राय केवल यही था कि पृथ्वी, जैसी हम देखते हैं, किसी ऐसी वस्तु पर स्थित है जो वास्तव * में है, वह चाहे हमें दिखाई देती हो वा न देती हो। इस वस्तु को उन्होंने कितने ही नामों से प्रकट किया है। ये नाम ऋत, ब्रह्म आदि हैं।

निस्संदेह जहाँ सत्य का इतना मान है वहाँ झूठ बोलने का अपराध भी बड़ा माना होगा। एक ऋषि की प्रार्थना है—जल, मुझे धोकर शुद्ध करदे और मेरे पापों को और जो कुछ मैंने झूठ बोला हो उसे दूर करदे।

हे † जल, जो कुछ पाप मैंने किया हो, जो कुछ धोखा मैंने दिया हो, जो कुछ बुराई मैंने की हो, जो कुछ अनृत मैंने किया हो उसको बहा ले।

अथर्ववेद के मं० ४ ऋचा १६ वीं में कहा है—जो झूठ बोलता हो उसे तेरे सतलड़े भयंकर पाश बाँध लें और सच बोलनेवालों से दूर रहें। अब मैं कुछ प्रमाण ब्राह्मण-ग्रन्थों से देता हूँ।

जो ‡ सच बोलता है उसकी वेदी पर अग्नि प्रज्वलित होती है, मानो उसने अग्नि में घी डाला हो।

---

* ऋ० वे०, १० मं० १९०, † ऋ० वे०, १ मं० २३, २२
‡ शतपथ ब्राह्मण (२) २, २, १९, शतपथ ब्राह्मण १, २, १०

उसका प्रकाश बढ़ता जाता है और वह दिन प्रति दिन अच्छा होता जाता है । जो झूठ बोलता है उसकी वेदी पर अग्नि बुझ जाती है, मानो उसने उसमें पानी डाल दिया हो । उसका प्रकाश कम होता जाता है और वह दिन प्रतिदिन दुष्ट होता जाता है । इसलिए मनुष्य को सदैव सच बोलना चाहिए । * झूठ बोलने से मनुष्य अपवित्र और पतित हो जाता है ।

तैत्तिरीय आरण्यक के १० वें अध्याय के ९ वें वाक्य में कहा है—जैसे गड्ढे के ऊपर रखी तलवार पर चलता हुआ मनुष्य सशंकित होता है कि अब गिरा, अब गिरा और बहुत सावधान रहता है वैसे ही मनुष्य को झूठ बोलनेवालों से सावधान रहना चाहिए ।

पिछले समय में सत्य का आदर एक अन्ततम सीमा पर पहुँच गया था । जो कोई अनजाने भी वचन दे देता उसे उसका पालन करना अत्यावश्यक हो जाता था ।

उदाहरण के लिए देखिए, कठोपनिषद् में एक ऐसा आख्यान आया है जिसमें पिता ने विश्व-यज्ञ किया है, अर्थात् ऐसा यज्ञ कि जिसमें यज्ञ करनेवाले को सब वस्तुएँ जो कुछ उसकी हों दे देनी पड़ती हैं । उसके लड़के ने जो पास खड़ा था बाप को ताना मारा कि तुमने अपने संकल्प के अनुसार पूरा कर्म नहीं किया है; क्योंकि तुमने यज्ञ में अपने पुत्र का बलिदान तो किया ही नहीं है । इसपर पिता ने

---

* शतपथ ब्राह्मण ३, १, ३, १०

क्रोध में आकर, इच्छा न रखते हुए भी, अपने लड़के का बलिदान कर दिया । जब बलिदान किया हुआ लड़का यमलोक में पहुँचा तो मृतकों के शासनकर्त्ता यम ने उससे तीन वर माँगने को कहा । उसने ये तीन वर माँगे—पहले तो मुझे पुनर्जीवित करदो, फिर मुझे यज्ञ-सम्बन्धी रहस्यों का ज्ञान दो और तीसरी प्रार्थना मेरी यह है कि मुझे बताओ कि जब मनुष्य मर जाता है तो उसका क्या होता है । यम ने तीसरे प्रश्न के उत्तर में बहुत टालमटूल की; परन्तु लड़का न माना । यम अपना वचन दे चुका था; अतः उसको इसका उत्तर देना ही पड़ा । इसपर यम ने मरने के पीछे जो अवस्था होती है उसपर अर्थात् अमरत्व पर व्याख्यान दिया । यह व्याख्यान भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में एक सर्वोत्तम अध्याय है ।

रामायण की समस्त कथा का मूलाधार अयोध्या के राजा दशरथ का कैकई को वचन देना है जो उन्होंने नासमझी से दे दिया था । राजा दशरथ ने कैकई को दो वचन दिये थे । अपने लड़के को राज्य-सिंहासन पर बिठाने के लिए कैकई ने कहा कि मेरी सौत के जेठे पुत्र, राम, को १४ वर्ष का बनवास दिया जाय । राजा को अपने वचन पर बड़ा शोक हुआ; लेकिन उसके ज्येष्ठ पुत्र राम ने वचन नहीं तोड़ने दिया और वे अपनी धर्मपत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण को साथ ले राज्य छोड़कर वन को चले गये । पिता के मरने पर सौत के लड़के ने राज्य-सिंहासन

पर बैठने से इनकार किया और वह रामचन्द्रजी के पास गया। उसने पिता का राज्य ग्रहण करने के लिए राम से बहुत कुछ कहा, लेकिन सब व्यर्थ हुआ।

रामचन्द्रजी ने कहा कि मैं १४ वर्ष वन में रहने की अपनी प्रतिज्ञा को रक्खूँगा और पिता के वचनों को झूठ नहीं होने दूँगा। इसके पश्चात् रामचन्द्रजी और जाबालि ऋषि में एक बड़ा विलक्षण सम्वाद हुआ जिसके अंश मैं नीचे उद्धृत करता हूँ। जाबालि ऋषि जो एक पुजारी और राजदरबारी भी थे कहते हैं—हे रघुवंशी, तुम्हारा चरित्र बड़ा शुद्ध है और तुम्हारे भाव बड़े उच्च हैं। लेकिन तुम्हें एक सामान्य मनुष्य की तरह इस निरर्थक विचार को मन में न रखना चाहिए। कौन किसका रिश्तेदार होता है? किसका किसके साथ रिश्ता है? मनुष्य अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। जिस किसीको यह मोह है कि यह बाप है और यह मेरी मा है उसे एक विक्षिप्त मनुष्य के समान समझना चाहिए; क्योंकि कोई किसीका नहीं है। तुम अपने पिता के राज्य को छोड़कर क्यों इस शोक और दुःखमय स्थान में रहते हो और इतने दुःख भोगते हो? ऐश्वर्य-सम्पन्न अयोध्या के राजा बनो, तुम्हारे पिता दशरथ तुम्हारे कोई नहीं थे और न तुम उनके कोई हो। राजा एक व्यक्ति थे, और तुम भी एक व्यक्ति हो। जो कुछ तुमसे कहा जाय वह करो। नियुक्त दिनों पर पितरों को श्राद्ध देना भी व्यर्थ है; क्योंकि यह अन्न का

दुरुपयोग-मात्र करना है। क्या मरा आदमी भी खा सकता है ? यदि एक मनुष्य का खाया हुआ दूसरे मनुष्य के शरीर में पहुँच जाय, अर्थात् मृत पुरुषों को पहुँच जाय तो लोग उनके लिए जो यात्रा में होते हैं श्राद्ध क्यों नहीं करते हैं ? यदि यही हो तो उन्हें यात्रा में अपने खाने की चिन्ता न करनी पड़े। ये धर्म-पुस्तकें अर्थात् वेद जिनमें मनुष्यों को यज्ञ करना, दान करना, तप करना और संसार को त्याग करना लिखा है चतुर मनुष्यों ने दान दिलवाने के उद्देश्य से बना ली हैं। प्रमाण-वाक्य कोई आकाश से उतरकर तो आते नहीं हैं। जो बात ज्ञान और बुद्धि-द्वारा सिद्ध हो उसीको हमें और तुम्हें दोनों को मानना चाहिए। जो कुछ इन्द्रियों को प्रत्यक्ष दिखाई देता है वही मानने-योग्य है और जो कुछ अदृष्ट है अर्थात् दिखाई नहीं देता वह मानने-योग्य नहीं है। इसी लोक को परलोक मानना चाहिए। इसलिए सुख भोगो; क्योंकि प्रत्येक धर्मात्मा को दुःख थोड़े ही प्राप्त हो जाता है। धर्मात्मा मनुष्य बड़े दुःख में रहते हैं और पापात्मा अपना समय बड़े आनन्द में व्यतीत करते हैं।

ये नास्तिक विचार विशेषकर एक ब्राह्मण के मुख के निकले हुए बड़े विलक्षण मालूम होते हैं; लेकिन कवि का यह उद्देश्य मालूम होता है कि वह एक ऐसे ब्राह्मण का रूप बताना चाहता है जो दरबार में रहा था और जिसके पास अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए हरएक बात सिद्ध करने की युक्तियाँ थीं।

अब सुनो, रामचन्द्रजी क्या उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—जो वाक्य आपने मुझसे कहे हैं वे प्रत्यक्ष में उचित और लाभदायक प्रतीत होते हैं; परन्तु उनसे एक विपरीत उपदेश होता है। वह पापी मनुष्य जो नास्तिक मतानुयायी है भले आदमियों में कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता है। सच्चरित्रता ही से मनुष्य उच्च या नीच, शुद्ध या पापी, शूरवीर या पोच कहा जाता है। राजा के चरित्र में सत्य और दया के लक्षण सनातन हैं, राज्य-शासन का मूल मंत्र सत्य है। सत्य पर संसार की स्थिति है। ऋषि, महर्षि और देवताओं ने सत्य का सम्मान किया है। जो संसार में भी सत्य बोलता है उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है और वह अमरत्व को प्राप्त करता है। मनुष्य झूठे से ऐसे ही डरते और भागते हैं जैसे किसी सर्प से। इस संसार में भी धर्म का प्रधान अंग सत्य है। प्रत्येक वस्तु का मूलाधार वही है। सत्य संसार का स्वामी है। सच्चरित्रता का आधार सत्य ही है, सब चीज़ों की स्थिति सत्य पर ही है; सत्य से बढ़ कर कोई चीज़ नहीं है। मुझे अपने वचन को सत्य क्यों न करना चाहिए, और जो आज्ञा पिताजी ने दी है उसका पालन क्यों न सचाई से करना चाहिए? लोभ, मोह और अज्ञान के द्वारा अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर मैं सत्य के बन्धन को कभी नहीं तोड़ूँगा और जो वचन मैंने अपने पिता को दिया उसका पूरा पूरा पालन करूँगा। उनको वचन देकर कि मैं

वन में रहूँगा उनकी आज्ञा को मैं कैसे भंग कर सकता हूँ, इसके विपरीत उपदेश को मैं कैसे मान सकता हूँ?

दूसरे महाकाव्य "महाभारत" में भी ऐसे आख्यान अनेक हैं जिनमें सत्य की बड़ी महिमा कही है और जिनमें दिये हुए वचन के पालन करने में बड़ी दृढ़ता दिखाई गई है। महाभारत के इतिहास में भीष्म की मृत्यु बड़ी घटनाओं में से एक है और इस मृत्यु का यही कारण है कि भीष्म ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं किसी स्त्री पर शस्त्र न चलाऊँगा। उनकी मृत्यु शिखंडी से हुई जिसे उन्होंने एक स्त्री समझ रखा था।

यदि मैं सब स्मृति-ग्रन्थों से और पीछे के बने हुए ग्रन्थों से वाक्य उद्धृत करूँ तो आपको ज्ञात होगा कि उन सभी में सत्य का मूल मंत्र प्रधान है।

हमें यह बात नहीं छिपाना चाहिए कि कुछ अवस्थाओं में झूठ बोलने अथवा झूठ को क्षमा करने की भी आज्ञा धर्म-रचयिताओं ने दी है। गौतम कहते हैं (५-२४):— क्रोध, अतिशय प्रसन्नता, भय, दुःख या शोक के वश होकर झूठ बोला जाय अथवा बच्चे, वृद्ध झूठ बोलें अथवा भ्रम में, या नशे में झूठ बोला जाय अथवा पागल आदमी झूठ बोले, तो उससे मनुष्य पतित नहीं होता, अर्थात् वह झूठ क्षम्य है; दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह महापातक नहीं है।

यह तो बड़ी रियायत है, लेकिन खुली रियायत में भी एक प्रकार की सचाई है। इस रियायत की सहायता महाभारत में जगह जगह ली गई है। देखो १ पर्व ३४१२; ३ पर्व, १३८४४; ७ पर्व, ८७४२; ८ पर्व, ३४३६, ३४६४.

महाभारत में (८ पर्व, ३४४८) सत्यवादी कौशिक का एक प्रसिद्ध आख्यान है जिसमें वह सत्य बोलने के कारण नरक में गया है। उसने एक दफ़ा डाकुओं के आगे कुछ मनुष्यों को जङ्गल में भागते देखा। डाकुओं ने कौशिक से पूछा कि वे किस तरफ़ भाग गये हैं। उसने सच कह दिया। तब डाकुओं ने उन मनुष्यों को पकड़कर मार डाला। ऐसा सच बोलने के अपराध में कौशिक को नरक में जाना पड़ा।

हिन्दू, पुजारियों के आज्ञाकारी हैं और यह बात भलीभाँति जानी हुई है कि यज्ञ, हवनादि क्रियाओं में उनकी अत्यन्त श्रद्धा है। तथापि महाभारत में ऐसा लिखा है—

यदि सहस्र अश्वमेध और सत्य, एक तराजू में, तौले जायँ तो सत्य का ही पलड़ा भारी निकलेगा और हज़ार अश्वमेधों से बढ़ जायगा।

अब शकुन्तला और उसके लड़के को दुष्यन्त ने नहीं पहिचाना और न उन्हें ग्रहण किया और वह उसकी बात को अनसुनी कर गया तो शकुन्तला ने अन्तःकरण की वाणी को सबसे बड़ा प्रमाण बताया

है । उसने राजा से कहा :—तुम यह मत समझो कि मैं अकेली हूँ, तुम अपने हृदयस्थ सत्पुरुष को नहीं जानते हो। वह तुम्हारे दुष्कर्मों को जानता है—उसके सामने तुम पाप कर रहे हो। पाप करनेवाला समझता है कि मेरे पापों को कोई नहीं देखता-यह बात झूठ है । उसे हृदयस्थ सनातन पुरुष (अन्तःकरण) और देवता देखते हैं । (देखो महाभारत, पहला पर्व, ३०१५-१६ श्लोक)।

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि हिन्दुस्तान के २५ करोड़ आदमी देवता हैं; परन्तु मैं आप को यह विश्वास दिलाना और समझाना चाहता हूँ कि भारतवर्ष के मनुष्यों पर—विशेषतः प्राचीन समय के हिन्दुओं पर—झूठ बोलने का दोष लगाना सर्वथा निर्मूल, अतएव मिथ्या है । आधुनिक काल के विषय में सुनिए। मैं आधुनिक काल ईसा के १००० वर्ष पीछे से मानता हूँ । मुसलमानों के राज्य-शासन के अत्याचारों का हाल पढ़ने पर मुझे इस बात का आश्चर्य होता है कि भारतवासियों में इतनी सचाई और सज्जनता रह कैसे गई ! बिल्ली के सामने चूहा सच नहीं बोलता। इसी तरह हिन्दू भी मुसलमान हाकिमों के सामने सच बोलने की हिम्मत नहीं रखते थे। यदि आप किसी लड़के को डरवा दें तो वह डर से झूठ बोलने लगेगा । इसी तरह जब आप लाखों आदमियों को भयभीत कर देंगे तब यह आश्चर्य की बात नहीं कि वे आपके पञ्जे से निकलने के लिए असत्य पथ का भी अवलम्बन करें। सच

बोलना एक बहुमूल्य वस्तु है । मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हमारे जीवन में सबसे बहुमूल्य पदार्थ सचाई है और जो मनुष्य उसका भोग बचपन में करता रहा है वह धन्य है । इन दिनों, खासकर इङ्गलैंड जैसे स्वतंत्र देश में, कभी झूठ नहीं बोलना एक सहज बात है । लेकिन ज्यों ज्यों हम वृद्ध होते जाते हैं त्यों त्यों हमें मालूम होता जाता है कि केवल सत्य ही सत्य बोलना कैसा कठिन है । हिन्दुओं को भी यह बात मालूम होगई थी । वे जान गये थे कि सर्वदा बिलकुल सच बोलना कितना कठिन है, बल्कि असम्भव है । शतपथ ब्राह्मण में एक छोटा आख्यान है जो मेरी सम्मति में बड़ा सार्थक है तथा सत्य के वास्तविक अर्थ और सत्य बोलने की कठिनाई के ज्ञान से भरा है । अरुण औपवेशी के एक रिश्तेदार ने कहा—तुम्हारी अब बहुत उमर होगई है; तुम गार्हपत्य अग्नि को रक्खो । उसने उत्तर दिया कि इससे आप अब से मौनव्रत धारण करने को कहते हो, क्योंकि जो गार्हपत्य अग्नि रखता है उसे असत्य बोलना बिलकुल त्याज्य है और सर्वथा असत्य तभी त्याज्य हो सकता है जब मौनव्रत का अवलम्बन किया जाय । गार्हपत्य अग्नि रखनेवाले को इसी सीमा तक सत्य बोलना पड़ता है । (देखो शतपथ ब्राह्मण) मुझे सन्देह है कि आपको संसार के और किसी प्राचीन साहित्य में शायद ही अन्तःकरण की सच्चाई का इतना अधिक ज्ञान मिले जो ऐसी निराशा से भरा हो कि हम सच कभी बोल ही नहीं सकते हैं और जो मौन को

सुवर्ण और वाक् को चाँदी, हमारी कहावत के अर्थ से भी उच्चतर अर्थ में, बताता हो।

जो लोग भारतवर्ष में लाखों मनुष्यों पर शीघ्र ही राज करनेवाले हैं उनको मैं उनका यह कर्तव्य बताना चाहता हूँ कि उन्हें अपने जातीय पक्षपात को छोड़ देना चाहिए जो उनमें एक तरह का पागलपन उत्पन्न कर देता है। मैं भूरे चमड़ेवाले ऐसे मनुष्यों से मिला हूँ जिन्हें मैं अपनेसे बड़ा और अच्छा समझता हूँ। भारतवर्ष में ऐसे मनुष्यों की खोज करो और वे तुम्हें मिल जायँगे और यदि इस विषय में तुम्हें निराशा हो जो तुम्हें अवश्य होगी, तो तुम्हें उन गोरे चमड़ेवाले मनुष्यों की याद करनी चाहिए जिनका तुम पहले विश्वास करते थे और जिनका विश्वास तुम अब नहीं कर सकते हो। अन्तर्जातीय मामले की व्यवस्था में हम सब दिखावटी और स्वार्थी बन जाते हैं ।

कुछ दिन हुए, मैंने एक विद्वान् राजनीतिज्ञ की लिखी हुई पुस्तक में ये शब्द पढ़े थे:—

"यह बात केवल अनुभव से ही मालूम हो सकती है कि जो चरित्र-पतित और भ्रष्ट-नीति मनुष्य हैं उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि कोई ऐसी मनुष्य-जाति भी हो सकती है जिसके वचन में पूर्ण विश्वास किया जा सकता है। (देखिए सर चार्ल्स ट्रेवेल्यन की ईसाई और हिन्दू-धर्म नामक पुस्तक)

हिन्दुस्थानियों को इस विषय की अपेक्षा किसी अन्य विषय में, अपना नीचापन ऐसा अधिक नहीं मालूम होता है। उन्हें साहित्य और विज्ञान की अपेक्षा सदाचार की शिक्षा अधिक देनी चाहिए।"

यदि तुम हिन्दुओं से इन भावों को रखते हुए मिलोगे तो तुम उन्हें न तो सदाचार की शिक्षा दे सकोगे और न साहित्य या विज्ञान की ही। वे अपने साहित्य बल्कि स्मृति-पुस्तकों में से हमें सचाई की शिक्षा देंगे, वे हमें विनय सिखावेंगे। देखिए याज्ञवल्क्य * क्या कहते हैं:—

"वन में, कुटी में रहने से अथवा साम्प्रदायिक विधियों का पालन करने से अथवा श्वेत-कृष्ण वर्ण होने से धर्म नहीं होता है। वह तो कर्म से ही होता है। जो काम तुम स्वयं अपने लिए नहीं करना चाहते वह दूसरों के लिए मत करो।"

मानवधर्मशास्त्र ‡ में जिसका मिल साहब ने ऐसा दुरुपयोग किया है यह लिखा है:—

"दुष्ट लोग यह समझते हैं कि हमें पाप-कर्म करते कोई नहीं देखता है। उन्हें उनका अन्तःकरण और देवता देखते हैं।"

---

* याज्ञवल्क्य संहिता, ३ अध्याय, ६५ श्लोक

‡ मनुस्मृति, ८ अ०, ८५ श्लोक

संसार को भारत का सन्देश।]

"आत्मा का साक्षी आत्मा ही है, आत्मा ही आत्मा का आश्रय है, अपनी आत्मा का तिरस्कार मत करो, वही मनुष्यों का सबसे बड़ा साक्षी है *।"

"हे मित्र, यदि तू यह समझता है कि मैं अकेला ही हूँ तो याद कर कि मेरे हृदय में परमात्मा बैठा हुआ चुपचाप विचार रहा है। वह अच्छा बुरा सब देखता है ‡। हे मित्र, जो कुछ भलाई तुमने अपने बचपन से की है वह तुम्हारे झूठ बोलते ही सब नष्ट हो जायगी। †"

वशिष्ठ-संहिता के ३० वें अध्याय का पहला श्लोक देखिए:—

"सत्य व्यवहार करो, असत्य नहीं; सच बोलो, झूठ नहीं; दूरदृष्टि रक्खो, संकुचित नहीं; परमात्मा की ओर देखो, नीचे मलिन पदार्थों की ओर नहीं।"

निस्संदेह भारतवर्ष में भी दुराचार है और संसार में ऐसी कौनसी जगह है जहाँ दुराचार नहीं है। लेकिन अन्तर्जातीय संख्या-सूचक नक़शों को बताना मेरी राय में बड़ी हानिकारक बात है। हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि सदाचार के विषय में हमारे सिद्धान्त भिन्न हैं और कुछ बातों में भारतवर्ष के सिद्धान्तों से अत्यन्त पृथक् हैं। जिन बातों को लड़कों के बाप-दादे अच्छा समझते थे उन्हें वे बुरा समझें. अथवा पाप-

* मनुस्मृति, ८ अध्याय, ८४ श्लोक
‡ मनुस्मृति, ८ अध्याय, ९२ श्लोक
† मनुस्मृति, ८ अध्याय, ९० श्लोक

गुल समझ कर दोष लगावें तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हमारी जो दृष्टि भलाई और बुराई की है उसी को दृढ़ रखना चाहिए, लेकिन जब हम दूसरों के विषय में जाँच करें, चाहे हम उनके सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत जीवन की जाँच करें, चाहे हम इतिहासज्ञ अथवा नीतिज्ञ की हैसियत से जाँच करें तो हमें यह बात नहीं भूल जानी चाहिए कि सद्भाव दिखाने से कोई हानि नहीं होती। मेरी सम्मति में भारतवर्ष में अंग्रेज़ी राज्य की स्थिति के लिए निस्संदेह कोई बात ऐसी हानिकारक, भयप्रद, और घातक नहीं है जैसी कि यह कि नवयुवक सिविल सर्वेन्ट लोग उस देश में इस विचार को लेकर जावें कि भारतवर्ष में दुराचार और झूठ है। जो मनुष्य सहसा यह कह उठता है कि सब आदमी झूठे हैं वह सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत जीवन में अवश्य ही भूलें करेगा।

***

३—संस्कृत-साहित्य में मानवी अनुराग।

मेरे पहले व्याख्यान का उद्देश इस पक्षपात को हटाने का था कि भारतवर्ष हमारे लिए एक विदेश है और सदैव विदेश सा रहेगा और जिन्हें वहाँ रहना पड़ता है वे आधुनिक विचारों और सामयिक घटनाओं से जो इँग्लैंड में या यूरोप के दूसरे देशों में होती रहती हैं दूर हो जाते हैं।

मेरे दूसरे व्याख्यान का उद्देश इस पक्षपात को हटाने का था कि भारतवासी जिनके साथ सिविल-सर्विस वाले नवयुवकों को अपने जीवन का श्रेष्ठ समय व्यतीत करना पड़ेगा, ऐसे आचार-भ्रष्ट और असत्यवादी हैं कि वे हमारे लिए हमेशा ही विदेशी से रहेंगे और उनके साथ सच्ची मित्रता या मेल-जोल करना असम्भव है।

आज के व्याख्यान में मुझे एक तीसरे पक्षपात का मुक़ाबला करना है और वह यह है कि भारतवर्ष का

साहित्य, विशेषकर प्राचीन संस्कृत-साहित्य, चाहे वह विद्वानों और पुरातत्त्व-वेत्ताओं के लिए कितना भी मूल्यवान् क्यों न हो, हमारे लिए ऐसा है कि हम उससे अन्य साहित्यों की अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं सीख सकते हैं और नवयुवक सिविल कर्मचारियों के लिए तो वह किसी काम का ही नहीं है; अतः यदि ये लोग संस्कृत न सीखकर हिन्दुस्तानी या तामिल में अपने विचार प्रगट करना सीख जायँ तो बस होगा। इन लोगों को सर्व साधारण मनुष्यों के साथ काम पड़ेगा और जीवन के प्रतिदिन के मामलों का निपटारा करना पड़ेगा। मतलब यह, इन्हें संसारी मनुष्य बनना होगा और संसार के प्रतिदिन के कार्य करने पड़ेंगे; इसलिए यदि ये लोग जटिल पांडित्य-पूर्ण बातों में फँस जायँ अथवा प्राचीन धर्म, पौराणिक कथाएँ और दार्शनिक विचारों की खोज में लग जायं, तो इससे इनकी बड़ी हानि होगी।

इन विचारों का खण्डन करता हुआ मैं प्रत्येक नवयुवक को जो भारतवर्ष में जाना चाहता है और वहाँ रहकर स्वयं लाभ उठाना चाहता और दूसरों को लाभ पहुँचाना चाहता है, संस्कृत सीखने और अच्छी तरह सीखने की सलाह देता हूँ।

मैं जानता हूँ कि लोग कहेंगे कि आजकल संस्कृत पढ़ने से क्या लाभ है? क्या संस्कृत एक मृत भाषा नहीं है? क्या, स्वयं हिन्दू अपने प्राचीन साहित्य

से लज्जित नहीं हैं? क्या वे अंग्रेज़ी नहीं पढ़ते? क्या वे अपने प्राचीन कवियों और दार्शनिक विद्वानों के ग्रंथ पढ़ने की अपेक्षा लॉक, ह्यूम और मिल के ग्रंथ पढ़ना अधिक पसन्द नहीं करते हैं?

निस्सन्देह संस्कृत, एक प्रकार से, मृत भाषा है। इतनाही नहीं, मेरे विचार से तो, यह दो हज़ार वर्ष पहले ही मृत भाषा हो चुकी है। इसीसे ईसा के ५०० वर्ष पहले गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी थी कि तुम लोग जनता को जो उपदेश दो वह उनकी ही भाषा में रहे। महाराज अशोक ने ईसा मसीह के तीन शताब्दि पूर्व जब अपने आदेशों को, जो सर्वसाधारण के पढ़ने और समझने के लिए थे, प्रचार करना चाहा तो उन्होंने उन आदेशों को उत्तर में काबुल से लेकर दक्षिण में वल्लभी तक, और गंगा-जमुना के उद्गम-स्थानों से लेकर इलाहाबाद, पटना बल्कि उड़ीसा तक विविध प्रान्तीय भाषाओं में ही चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवा दिया था। ये प्रान्तीय उपभाषाएँ संस्कृत से ऐसी ही भिन्न हैं जैसी इटेलियन भाषा लैटिन से है। इसलिए हमारा अनुमान ठीक है कि ईसा के कम से कम तीन शताब्दि पूर्व संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा नहीं थी।

कुलवग्ग में एक रोचक वाक्य है जिससे मालूम होता है कि बुद्ध के जीवन-काल ही में उसके कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने यह शिकायत की थी कि लोग आपके उपदेशों को अपनी अपनी उपभाषाओं में बोलकर दूषित कर देते

है। इसलिए हम लोग आपके वाक्यों का अनुवाद संस्कृत में करना चाहते हैं; परन्तु बुद्ध ने यह बात नहीं मानी और आज्ञा दी कि प्रत्येक मनुष्य को मेरा उपदेश अपनी ही भाषा में सीखना चाहिए।

हार्डी साहब की "बौद्ध-धर्म-सम्बन्धिनी" पुस्तक के १८६ वें पृष्ठ पर एक वाक्य है जिससे विदित होता है कि जब बुद्ध ने पहले-पहल उपदेश दिया तो उसके असंख्य श्रोताओं में से प्रत्येक को यही भास हुआ कि महात्मा बुद्ध मानों मेरी ओर देख रहे हैं और मेरी ही भाषा में बोल रहे हैं, यद्यपि वे मागधी भाषा में बोल रहे थे।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि ईसा से पहले तीसरी शताब्दि में संस्कृत बोलना, सर्व साधारण में बंद हो चुका था।

यह होते हुए भी भारतवर्ष में भूत और वर्तमान कालों के बीच ऐसी आश्चर्य-जनक परम्परा चली आती है कि सामाजिक विप्लव, धार्मिक सुधार और विदेशीय आक्रमण बारंबार होने पर भी संस्कृत ही एक ऐसी भाषा दिखती है जो इस विशाल देश में सर्वत्र बोली जाती है।

यद्यपि बौद्ध धर्म के महाराजाओं ने अपने आदेश प्रान्तीय भाषा में प्रचारित किये थे तौभी सार्वजनिक लेख और राज्य-सम्बन्धी पत्र अद्यापि संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते हैं। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्मा-

बलम्बियों के धर्म-ग्रन्थ, सर्वसाधारण की भाषा में, लिखे गये हैं, तथापि भारतवर्ष का साहित्य पाणिनि की संस्कृत में लिखा जाना कभी बन्द नहीं हुआ। कालिदास और दूसरे कवियों के नाटकों में स्त्रियाँ और साधारण जन 'प्राकृत' भाषा बोलते हैं जिससे एक आवश्यक ऐतिहासिक बात मालूम होती है।

अंग्रेज़ी राज्य और अंग्रेज़ी शिक्षा के सौ वर्षों से प्रचलित होने पर, आज भी, मेरे विचार से संस्कृत का प्रचार भारतवर्ष में उतना है जितना यूरोप में, डेन्टी के समय में, लैटिन भाषा का नहीं था।

जब कभी मेरे पास भारतवर्ष से किसी पंडित का पत्र आता है तो वह संस्कृत में ही लिखा हुआ होता है। जब कभी भारतवर्ष में धर्म और नीति के विषय में कोई वाद-विवाद होता है तो इस संबंध में संस्कृत में ही लिखी गई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। संस्कृत में पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं जिनका प्रचार ऐसे पढ़नेवालों पर निर्भर है जो बोलचाल की भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा को अधिक पसंद करते हैं। बनारस में "पंडित" नाम का एक पत्र निकलता है जिसमें प्राचीन ग्रन्थों की आवृत्तियाँ ही नहीं, वरन सामयिक विषयों पर निबन्ध, इँगलैंड में छपी हुई पुस्तकों की समालोचनाएँ और विवादास्पद विषयों पर लेख निकलते हैं और ये सब संस्कृत में लिखे हुए होते हैं। बनारस में संस्कृत की एक और पत्रिका छपती है जिसके नाम का अर्थ प्राचीन वस्तुओं के प्रेमियों को आनन्द देने

वाली पत्रिका है। यह पत्रिका अत्यन्त उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण रहा करती है । कलकत्ते में "विद्योदय" नाम का संस्कृत-पत्र छपता है। इसमें भी बड़े उपयोगी लेख रहते हैं । इनके सिवा और भी पत्र छपते होंगे जिनका नाम मुझे ज्ञात नहीं है।

बम्बई में एम० महेश्वर कुन्टे महाशय "सद्दर्शन चिन्तनिका" नामक मासिक ग्रन्थ-माला निकालते हैं जिसमें प्राचीन दर्शनशास्त्र का मूल भाष्य और उसपर निबन्ध संस्कृत में ही होते हैं। संस्कृत के साथ ही मराठी और अंग्रेज़ी में भी अनुवाद रहता है।

संस्कृत की सबसे पुरानी पुस्तक ऋग्वेद की आवृत्तियाँ मासिक पत्रों के रूप में निकल रही हैं, एक को बम्बई में एक विद्वन्-मंडली और दूसरी को प्रयाग में भारतीय वैदिक धर्म के मुखिया दयानन्द सरस्वती निकालते हैं। पहली आवृत्ति में संस्कृत-भाष्य के साथ मराठी और अँग्रेज़ी अनुवाद भी रहता है और दूसरी में केवल संस्कृत-टीका और हिन्दी-भाष्य रहता है। ये पुस्तकें ग्राहकों के चन्दे से छापी जाती हैं और भारतवर्ष में इनके ग्राहकों की संख्या भी काफी है।

इनके सिवा और कई पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो देशी भाषाओं में यथा, बंगाली, मराठी या हिन्दी में निकलती जाती हैं। पर इनमें कभी कभी संस्कृत के लेख भी रहते हैं। उदाहरणतः, बनारस में "हरिश्चन्द्र- चन्द्रिका" और कलकत्ते में "तत्त्वबोधिनी" छपती है। ऐसी ही और भी कई लेख-मालाएँ छपती हैं।

अभी हाल में मैंने केशवचन्द्र सेन के एल के "लिबरल" नामक पत्र में एक ऐसे शास्त्रार्थ का विवरण पढ़ा है जो नदिया के एक वैदिक विद्वान् ब्रह्मावर्त समाध्यायी और बम्बई यूनीवर्सिटी के एम. ए. उपाधिधारी काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग के बीच हुआ था। इनमें से प्रथम महाशय तो पूर्व के प्रतिनिधि से थे और दूसरे पश्चिम के, तब भी दोनों धारा-प्रवाह संस्कृत में बातचीत करते थे।

भारतवर्ष के देशी यन्त्रालयों में बहुत से संस्कृत-ग्रन्थ छपते रहते हैं और इनकी बड़ी माँग रहती है; क्योंकि जब हम वर्ष दो वर्ष पीछे इनमें से कोई पुस्तक इँगलैंड मँगाते हैं तो मालूम होता है कि सब पुस्तकें हिन्दुस्तान में ही बिक गई हैं। यह बात इँगलैंड में ऐंग्लो-सैक्सन भाषा की छपी हुई पुस्तकों के साथ अथवा इटली में लैटिन भाषा की पुस्तकों के साथ नहीं होती है।

इसके सिवा, हम सुनते हैं कि महाभारत और रामायण की प्राचीन कविता श्रोतागणों के लाभार्थ मन्दिरों में सुनाई जाती है; और गाँवों में जब प्राचीन संस्कृत-काव्यों की कथा होती है तो सुननेवालों की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो जाती है। ये लोग जब कथा-नायक के वनवास की बात सुनते हैं तो रोने लगते हैं और जब उसी नायक के, राज्य में लौटने की, बात सुनाई जाती है तो गाँवों के घरों में दीपदान होने लगता है और फूल-मालायें डाली जाती हैं। महाभारत की समस्त कथा बाँचने में ९० दिन और कभी कभी आधा वर्ष भी लग जाता है। इन कथाओं का अर्थ बहुत से मनुष्य तो कथा बाँचनेवाले से सुनना चाहते हैं; पर इनमें

कुछ ऐसे भी होते हैं जो व्यास और वाल्मीकि की प्राचीन कविता का अर्थ दूसरे के बिना सुनाये भी समझ जाते हैं।

आजकल भी बहुत से ऐसे ब्राह्मण हैं जिन्हें वेदाध्ययन के लिए कोई प्रलोभन न होने पर भी समग्र ऋग्वेद कंठाग्र है। यही बात अन्य ग्रन्थों के भी सम्बन्ध में कही जा सकती है।

वास्तव में संस्कृत * ऐसी मृत भाषा नहीं है जैसी कि लोग समझते हैं। थोड़ी देर को मान लें कि वह मृतभाषा ही है तब भी भारतवर्ष की बोलचाल की भाषाएँ, आर्य और द्राविड़, दोनों संस्कृत-भाषा ही के आधार पर जीवित हैं।

इस सम्बन्ध में कि थोड़ी संस्कृत भाषा के जानने से प्रान्तीय भाषाओं के सीखने में अधिक सुविधा होती है, मैंने और मुझसे अधिक योग्य विद्वानों ने, बार बार, कहा है, यद्यपि इसका कुछ फल नहीं हुआ है, इसलिए मुझे इस विषय में फिर कहने की आवश्यकता नहीं है। जो विद्यार्थी संस्कृत-व्याकरण की प्रारम्भिक बातें भी जानता है वह

* नोट—एच एच विलसन साहब "एशियाटिक जर्नल" के सन् १८३६ वीं जनवरी के अंक में लिखते हैं कि भारतवर्ष की प्रत्येक जीवित भाषा की उन्नति और उपयोगिता उसमें संस्कृत के शब्द आने से ही हो सकती है। जो अरबी और संस्कृत नहीं जानता है वह हिन्दुस्तानी और बँगला को कभी शुद्ध नहीं लिख सकता है। यदि इन प्राचीन भाषाओं को रद्दी समझकर छोड़ दिया जाय तो प्रान्तीय उपभाषाएँ बिलकुल निर्बल और निराधार हो जायँगी।

समझ सकता है कि मेरा क्या अभिप्राय है, चाहे उसकी वह भाषा जिसका वह अध्ययन करता है बंगाली, हिन्दुस्तानी या तैलंगी ही क्यों न हो। प्राचीन-भाषा-विद् विद्वानों से मेरा कहना यह है कि उन दो सिविल कर्मचारियों को जिनमें से एक संस्कृत और हिन्दुस्थानी दोनों जानता है और दूसरा जो केवल हिन्दुस्थानी जानता है भारतवर्ष के और उसके रहनेवालों के सम्बंध में विचार करने की शक्ति में उतना ही भेद है जितना कि उन दो यात्रियों की बुद्धि और शक्ति में है जिसमें से एक लैटिन पढ़कर इटली देश की यात्रा करता है और दूसरा, यात्रियों के उस दल के साथ जाता है जिसे मैसर्स कुक एण्ड कम्पनी यात्रा के लिए रोम ले जाती है ।

संस्कृत-साहित्य मृत है या कृत्रिम, इस शंका के समाधान के लिए हमें कुछ और अच्छी तरह इस दृष्टि से जाँच करनी चाहिए कि इसमें कुछ है या नहीं । कुछ लोगों का कहना है कि संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों में कुछ भी वास्तविक जीवन नहीं है । इसलिए हमें जिस बात की आवश्यकता है वह हम उससे कभी सीख नहीं सकते हैं, अर्थात् हम हिन्दुओं के मानवी ऐतिहासिक विकास का हाल संस्कृत पढ़कर नहीं जान सकते हैं । दूसरे कहते हैं कि इस समय अर्थात् अंग्रेजी राज्य के सौ वर्ष पीछे भारतवर्ष का संस्कृत-साहित्य शक्ति-हीन हो गया है, इससे हम यह नहीं जान सकते कि आजकल हिन्दुओं के मन में क्या बात है; और न यही जान सकते कि उसका उनपर कुछ अच्छा या बुरा क्या प्रभाव पड़ रहा है ।

हमें असली बातें देखनी चाहिए। संस्कृत-साहित्य बहुत बड़ा और विस्तृत है। यदि वेदों की रचना ईसा से १५०० वर्ष पहले हुई और यदि यह बात वास्तव में ठीक है कि अब भी बहुत से ग्रन्थ संस्कृत में लिखे जाते हैं तो हमारे सामने ३४०० वर्षों की साहित्य-शृंखला है। चीन को छोड़कर भूमंडल में और कहीं के साहित्य का ऐसा विस्तार दिखाई नहीं देता है। संस्कृत-साहित्य की विस्तृति और विविध-रूपता का दिग्दर्शन कराना कठिन कार्य है। हस्त-लिखित ग्रन्थों में अमूल्य भाण्डार भरा पड़ा है जिससे हमारा अब कुछ कुछ परिचय होता जाता है। जितने लिखे ग्रन्थ मिलते हैं उनसे कहीं अधिक ग्रन्थों के नाम के हवाले पिछली तीन या चार शताब्दियों में दिये गये हैं। *

हाल में, भारतवर्ष की गवर्नमेन्ट ने कुछ यूरोपियन और हिन्दुस्तानी संस्कृत विद्वानों को ऐसी जगह भेजा है जहाँ हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों का संग्रह है और उनको आज्ञा दी है कि वे उन ग्रन्थों को देखकर सूची बनावें। इस प्रकार भारतीय गवर्नमेन्ट एक प्रकार का ग्रन्थ-सम्बन्धी उल्लेपण करवा रही है। इन सूचियों में से कई छप गई हैं। इनसे हमें मालूम होता है कि हस्तलिखित पुस्तकें जो इस समय मौजूद हैं, लगभग दस हज़ार हैं। मेरा अनुमान है कि यदि यूनान और इटली का समस्त प्राचीन

* पिछले लेखकों ने जिन प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है और जो नहीं मिलते हैं उनकी सूची यदि कोई नवयुवक विद्वान् बना डाले तो बड़ा उपकार हो।

साहित्य इकट्ठा किया जाय तो वह भी इसके बराबर न होगा। लोग कहेंगे कि इसमें बहुतसी पुस्तकें रद्दी हैं; परन्तु आपको यह भी विदित होगा कि हमारे समय में भी एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् के लेख रद्दी कहे गये हैं। मैं आपको यह दिखाना चाहता हूँ कि भारतवर्ष के समस्त इतिहासों में ३-४ हज़ार वर्षों के साहित्य का एक ऊँचा पर्वत-मार्ग है। शहरों में रहनेवाले आदमियों को अपने प्रतिदिन के काम में लगे रहने के समय यह मार्ग भलेही न दिखाई दे, भले ही इस मार्ग में थोड़े से ही यात्री गये हों; परन्तु मनुष्य-जाति का इतिहास लिखनेवाले तथा मानवी विकास की खोज करनेवाले विद्वान् के लिए ये थोड़े आदमी ही प्राचीन-कालीन भारत के सच्चे प्रतिनिधि हैं। हमें सावधान होकर विचार करना चाहिए कि संसार का सच्चा इतिहास सदैव थोड़े मनुष्यों का इतिहास हुआ करता है, और जिस प्रकार हम हिमालय के सबसे ऊँचे शिखर की ऊँचाई पर से हिमालय की ऊँचाई नाप लेते हैं, वैसे ही हम भारतवर्ष का सच्चा हाल वेद के कवियों, उपनिषद् के ऋषियों, वेदान्त और सांख्य दर्शन के रचयिताओं और प्राचीन धर्म-पुस्तकों के बनाने वालों से जान सकते हैं, न कि उन लाखों आदमियों से जो अपने गाँवों में पैदा होकर मर जाते हैं और जो अपने जीवन की निद्रा से एक पल के लिए भी नहीं जागते हैं। भारतवर्ष में असंख्यों आदमियों के लिए संस्कृत-साहित्य केवल मृत साहित्य ही नहीं है, उनके लिए उसका होना न होने के बराबर है; किन्तु यही बात प्रायः सब ही साहित्यों के विषय में, विशेषतः प्राचीन संसार के साहित्यों के विषय में,

कही जा सकती है।

इतना सब होते हुए भी मैं इस बात के मानने को तैयार हूँ कि संस्कृत-साहित्य का एक बड़ा भाग ऐसा है जिसमें जातीय जीवन का कुछ भी प्रतिबिम्ब नहीं है। जिस प्रकार यूनान और रोम के साहित्यों में समस्त जाति के जीवन का प्रतिबिम्ब मिलता है उस तरह संस्कृत-साहित्य में नहीं है। इसके सिवा यह बातभी सही है कि संस्कृत-ग्रन्थ जिनसे सर्वसाधारण अच्छी तरह परिचितहैं भारतीय साहित्य के माध्यमिक काल के लिखे हुए हैं। इस समय के संस्कृत लिखनेवालों को संस्कृत वैसी ही पढ़ना पड़ती थी जैसे हमें लैटिन पढ़ना पड़ती है और वे यह भी जानते थे कि जो ग्रन्थ हम लिख रहे हैं वे पढ़े-लिखे लोगों के लिए हैं; न कि सर्वसाधारण के लिए। इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हम समस्त संस्कृत साहित्य को वैदिक काल से लगाकर दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेद भाष्य भूमिका के समय तक के साहित्य को (यह ऋग्वेद-भूमिका किसी तरह कम मनोरञ्जक नहीं है) दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वह जो तुरानियन आक्रमण के पहले का है और दूसरा वह जो इसके पीछे का है। पहले भाग में वैदिक तथा प्राचीन बौद्ध साहित्य शामिल है और दूसरे में शेष सब साहित्य है।

यदि मैं इस शक या सिदियन या इन्डोसिदियन या तुरुष्क लोगों के आक्रमण को तुरानियन आक्रमण कहूँ तो इसका अभिप्राय यही है कि मैं उन लोगों की जाति के विषय में जिन्होंने भारतवर्ष को अपने अधिकार में

कर लिया था, अथवा उस भारतीय राज्य-शासन के विषय में जो ईसा के एक शताब्दि पहले से लेकर उसके पीछे तीन शताब्दि तक रहा था कुछ भी नहीं कह सकता हूँ ।

ये लोग चीनवालों के इतिहास में हयूची नाम से संबोधित किये गये हैं । भारतवर्ष पर आक्रमण करने के पहले अथवा उससे पीछे का जो कुछ हाल हमें इन जातियों के सम्बन्ध में मालूम हुआ है वह इन्हीं चीनी इतिहास-ग्रन्थों से मालूम हुआ है । दूसरी जातियों के साथ इनका सम्बन्ध किस प्रकार का था इस विषय में बहुत से मत हैं। इनके विषय में लिखा गया है कि इनका रंग गुलाबी और सफ़ेद था और ये घोड़े पर से निशाना मारते थे। हयूची और गौथी या गौथ नामों का एकसा होना बताया गया है। रेम्यूसट ने इन्हें गौथ जर्मन जातियों में से माना है।' दूसरों ने इन लोगों को गोथों के समीप रहनेवाली गेटी जातियों से मिलाया है । टाड सा० एक कदम और भी आगे बढ़े हैं और उन्होंने इन जातियों को हिन्दुस्तान के जाटों से मिलाया है और राजपूतों का सम्बन्ध हयूची और गेटियों से बताया है । सम्भव है, इस विषय में भविष्य काल में कुछ प्रकाश पड़े; परन्तु इस समय तो हमें इसी बात से सन्तोष करना पड़ेगा कि ईसा की पहली शताब्दि और उसके पीछे की दो शताब्दियों के बीच में तुरानियन यानी उत्तरी जातियों के लगातार आक्रमण होते रहने से भारतवर्ष में बड़ा राष्ट्र-विप्लव हुआ है । चीन के इतिहासज्ञ इनका हिन्दुस्तान में होना लिखते हैं और यह बात सिक्कों, लेखों और भारतवर्ष के परम्परा-गत इतिहास से भी प्रमाणित

होती है। मेरे ख़्याल में इन विदेशी आक्रमण करनेवालों का हिन्दुस्थान में आने का इससे स्पष्टतर प्रमाण क्या हो सकता है। ईसा से एक सदी पहले से दो सदी पीछे तक ब्राह्मणों का साहित्य शिथिल रूप में ही रहा और यह त्रुटि वैसी बनी है। यदि हम इस देश की राष्ट्रीय और सामाजिक दशा का विचार करें तो हम समझ सकेंगे कि जब कोई युद्ध-प्रिय जाति इस देश पर आक्रमण करे और उस पर विजय पावे तो क्या होगा। आक्रमण करनेवाले, क़िलों और गढ़ों पर अधिकार कर लेंगे और या तो पहले राजाओं को हटायेंगे या उन्हें अपना जागीरदार और कार्यकर्त्ता बना लेंगे। इतना हो चुकने पर सब काम यथापूर्व चलने लगेंगे। लगान और टैक्स बराबर वसूल होते रहेंगे और भारतवर्ष के अधिकांश ग्रामीण मनुष्यों का जीवन, गवर्नमेन्ट के बदलने से वैसे ही निर्विघ्न चला जायगा जैसे पहले था। यदि किन्हीं मनुष्यों को हानि होगी तो वह पुजारियों और ब्राह्मणों को होगी। यदि वे भी नये आनेवालों से समझौता कर लेंगे तो उन्हें भी कुछ हानि न होगी। ब्राह्मण जाति प्रायः पढ़ी-लिखी थी और जब उस जाति के संरक्षक राजा न रहे तो उनके पढ़ने-लिखने के कामों में धक्का लग सकता था। बौद्ध धर्म के उदय होने से और महाराज अशोक के उसे अंगीकार कर लेने से ब्राह्मणों का प्रभाव और उनकी शक्ति बहुत कुछ घट गई थी। उत्तर दिशा से आकर विजय करनेवाली जातियों का धर्म चाहे कुछ भी रहा हो; पर इतनी बात तो निश्चित है कि वे वेद के अनुयायी नहीं थे। उन्होंने बौद्ध धर्मवालों से

एक तरह का समझौता कर लिया था और इस समझौते के कारण अथवा शक जाति का बौद्ध धर्म में मिल जाने के कारण, बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ था, विशेषकर अमिताभ उपासना का, जिसका अन्तिम रूप कनिष्क राजा के समय बौद्ध धर्म की महासभा में निश्चित हो गया था। यह राजा भारतवर्ष के तुरानियन राजाओं में से ईसा से एक सदी पीछे हुआ है। महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि के समय में बौद्ध धर्म के भिक्षुक श्रमण और ब्राह्मणों में ऐसी शत्रुता हो गई थी कि ये काक, उलूक, श्वान और शृगालों के समान स्वाभाविक शत्रु माने गये हैं।

यदि हम संस्कृत-साहित्य के दो भाग करें अर्थात् एक भाग तो तुरानियन आक्रमण से पहले के समय का और दूसरा उससे पीछे का, तो हम पहले समय के साहित्य को प्राचीन और स्वाभाविक पायेंगे और दूसरे समय के साहित्य को आधुनिक और कृत्रिम ।

पहले समय के साहित्य में वेद मुख्य हैं । वेद का व्यापक अर्थ ज्ञान है । वैदिक साहित्य बहुत बड़ा है; लेकिन पहले वह इससे भी बड़ा था। वर्तमान साहित्य तो उसका अवशिष्टांश है । दूसरा साहित्य वह है जो बौद्ध धर्म के त्रिपिटक ग्रन्थों में शामिल है, और यह साहित्य पाली, गाथा और संस्कृत भाषाओं में लिखा है और इसमें पीछे से भी बहुत मेल किया गया है।

दूसरे समय के संस्कृत-साहित्य में और सब कुछ शामिल है । इन दोनों समय विभागों के और भी

भाग किये जा सकते हैं; परन्तु इससे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है ।

अब मैं यह मानने को तैयार हूँ कि दूसरे समय का साहित्य यानी आधुनिक संस्कृत-साहित्य कभी भी जीताजागता जातीय साहित्य नहीं रहा है। इसमें पहले समय की बातों के यत्र-तत्र अंश अवश्य हैं; परन्तु इनमें भी पिछले समय के मनुष्यों की साहित्यिक, धार्मिक और नैतिक रुचि के अनुसार परिवर्त्तन कर दिया गया है। जब कभी हम इन प्राचीन अंशों को पृथक् कर लेते हैं तो उनसे हम प्राचीन समय का कुछ कुछ हाल जान लेते हैं और जिन बातों का लोप वैदिक काल के साहित्य में हो गया है उनका इनसे कुछ पता लगा लेते हैं। श्लोक-बद्ध स्मृतियों में बहुतसी प्राचीन सामग्री भरी पड़ी है। यह वैदिक काल में कुछ तो सूत्रों और कुछ गाथाओं के रूप में थी। प्राचीन इतिहास और आख्यानों का स्थान "महाभारत" और "रामायण" ने ले लिया है। वैदिक साहित्य में जिन्हें पुराण कहा गया है उनके आधार पर बहुत कुछ परिवर्तन करके आजकल के पुराण लिखे गये हैं।

किन्तु पिछले समय का साहित्य कृत्रिम और पांडित्य-प्रदर्शक है। इसमें मनोरञ्जक कथायें भरी हैं और कहीं कहीं मौलिकता और वास्तविक सौन्दर्य्य का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। इन सब बातों में विलक्षणता अवश्य है; परन्तु इतिहासज्ञ और दार्शनिक पंडितों की उदार सहानुभूति को उत्पन्न करने के लिए बहुत कम सामग्री है।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बात ही दूसरी है। यह साहित्य वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रभावित है। इस साहित्य में मनुष्य-जाति की शिक्षा का पता लगता है जिसका हाल हम और कहीं नहीं मालूम कर सकते हैं। जिस किसी को हमारी भाषा अर्थात् ऐतिहासिक विचारों की परवाह है, जिस किसी को धर्म और पौराणिक कथाओं की। उत्पत्ति की परवाह है, जिस किसी को ज्योतिष शास्त्र, छन्दःशास्त्र, व्याकरण और निरुक्त के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की परवाह है, जिस किसी को दार्शनिक विचारों के उदय की परवाह है, जिस किसी को पारवारिक, ग्रामीण और राष्ट्रीय जीवन के मूलाधार नियमों के जानने की परवाह है, जो धर्म, याज्ञिक विधियाँ, परम्परा और सामयिक सन्धि के नियमों पर निर्भर है उसे वैदिक समय के साहित्य की ओर वैसाही ध्यान देना चाहिए जैसा कि वह यूनान, जर्मनी और रोम के साहित्य की ओर देता है।

बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य से हम क्या सीख सकते हैं इस विषय में मैं अभी कुछ नहीं कहूँगा। मेरे पास अनेक ऐसे प्रश्न आते हैं जो बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म की ऐक्यता के विषय में होते हैं। लोगों के ऐसे प्रश्न पूछने से मालूम होता है कि लोगों में बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर बहुत कुछ रुचि हो गई है और यह रुचि दिन प्रति दिन बढ़ती ही जाती है। इस छोटी पुस्तक में बौद्ध धर्म के साहित्य का विवरण करना असम्भव है। इसमें वैदिक साहित्य और उससे सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य बातों का

दिग्दर्शन कराना भी कठिन है । इन्हें हम वेद की ऋचाओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्रों से जान सकते हैं ।

यह खेद की बात है कि यूरोप में पहले-पहल संस्कृत-साहित्य उन पुस्तकों के द्वारा प्रकट हुआ जो इस साहित्य के दूसरे समय-विभाग का है । भगवद्-गीता, कालिदास के नाटक जैसे शकुन्तला या विक्रमोर्वशी, महाभारत और रामायण की कथायें जैसे नल और यज्ञदत्तवध, हितोपदेश की कहानियाँ, और भर्तृहरि के नीति वाक्य—ये सब अत्यन्त उपयोगी और विलक्षण हैं । जब लोगों को पहले-पहल यूरोप में इनका परिचय हुआ तो वे इन्हें अत्यन्त प्राचीन काल की समझने लगे और पहले जिन मनुष्यों को समझते थे कि वे उच्च कोटि के साहित्य-ग्रन्थ नहीं लिख सकते हैं उन्हीं के रचे हुए इन ग्रन्थों को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और ऐसे ऐसे विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ जैसे इंगलैंड में सर विलियम जोन्स, जर्मनी में हर्डर और गेथी, जिन्होंने इन ग्रन्थों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है । उन दिनों में कालिदास को वर्जिल और हॉरिस का समकालीन समझते थे जैसा कि अलेकजेन्डर वान हमबोल्ट ने अपने आधुनिक ग्रन्थ "कौसमस" में लिखा है । उन्होंने लिखा है कि कालिदास कवि जो वर्जिल और हॉरिस के समकालीन थे विक्रमादित्य की प्रभावशालिनी सभा में रहते थे । उन्होंने यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य ने ईसा से ५६ वर्ष पहले एक सम्वत् प्रारम्भ किया है । अब ये सब बातें जाती रहीं । जिस विक्रमादित्य ने शकों को पराजित करके ईसा से ५६ वर्ष पहले सम्वत् आरंभ

किया वह निस्सन्देह ईसा से पहली शताब्दि में नहीं हुआ था, न अब भारतनिवासियों के विषय में ऐसी धारणा है कि उनकी जाति अशिक्षित है और उनकी कविता कलाहीन और और साधारण है। अब उनकी जाँच उन्हीं प्रमाणों द्वारा की जाती है जिनसे ईरानी, अरबी, इटेलियन या फ्रेन्च लोगों की की जाती है और इस दृष्टि से जाँच करने पर कालिदास के नाटक उन अनेक नाटकों से जो हमारे पुस्तकालयों की आलमारियों में शान्ति-पूर्वक पड़े पड़े सड़ते हैं बढ़कर नहीं हैं और न उनकी प्राचीन में ही किसी तीक्ष्ण बुद्धिवाले संस्कृत पंडित का विश्वास है। एक शिला-लेख में जो सन् ५८५-५८६ ईस्वी (शक सम्वत् ५०७) का है कालिदास का नाम प्रसिद्ध कवि भारवि के नाम के साथ लिखा है और इस समय में उन्हें अधिक प्राचीन समय का मानने का कोई कारण नहीं देखता हूँ। भारवि के किरातार्जुनीय के १५ सर्गों पर जिन 'अविनीत' ने टीका की है वे सन् ४७० ही में हुए थे। यदि हम इस समय को मान लें तो भारवि और कालिदास चौथी या पाँचवीं शताब्दि से पहले हुए थे ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। मनुस्मृति * के विषय में, बहुत से लोग उसे प्राचीन समय की बनी हुई मानते थे। और अब भी कुछ लोग जो दूसरों की देखादेखी या योंही बिना सोचे-समझे लिख बैठते हैं उसे बहुत प्राचीन समय की

* सर विलियम जोन्स मनुस्मृति को ईसा से १२८० वर्ष पहले की बनी मानते हैं। एल्फिस्टन साहब उसे ईसा से ९०० वर्ष पहले की समझते हैं; पर अब यह कहा जाता है कि वह ईसा से ५०० वर्ष पहले से अधिक प्राचीन नहीं है।

बताते हैं; परन्तु जिस रूप में यह ग्रन्थ इस समय है उसमें यह चौथी शताब्दि से पूर्व का नहीं हो सकता है। मैं तो इसे और भी पिछले समय का बताने को तैयार हूँ। भले ही यह बात बहुत से संस्कृत-पंडितों को नास्तिकता से भरी मालूम हो; परन्तु हमें सत्य की रक्षा करनी चाहिए। क्या कोई ऐसा प्रमाण है कि जिससे हम इस समय के श्लोक-बद्ध मानव-धर्मशास्त्र को तीसरी शताब्दि से पहले का मानने को बाध्य हों? यदि नहीं है तो हम इस बात को क्यों न खुल्लमखुल्ला स्वीकार करें, जिस किसी को इसके विरुद्ध कहना है उसकी सुनें और यदि इस विषय में हमारी शंकाएँ दूर हो जायँ तो हम कृतज्ञता प्रगट करें?

धर्म-विषय में मनु का प्रमाण उस समय के पहले भी बहुत ऊँचा समझा जाता था और यह बात बिलकुल ठीक है कि प्राचीन धर्मशास्त्र में भी मनु और मानव का उल्लेख है; परन्तु इससे इसी बात का समर्थन होता है कि जो साहित्य तुरानियन आक्रमण के पीछे का है वह इससे पहले समय के साहित्य का भग्नांश है। यदि मनुस्मृति जस्टीनियन के धर्मशास्त्र के समान पहली शताब्दि में होती तो यह सम्भव नहीं कि उसका कहीं न कहीं उल्लेख या प्रमाण न दिया जाता।

वाराहमिहिर जिनका मृत्यु-काल सन् ५८७ ईस्वी है मनु का उल्लेख कई जगह करते हैं; परन्तु वे मानव-धर्म-शास्त्र का हवाला कहीं भी नहीं देते हैं और एक स्थल पर जहाँ उन्होंने मनु के जो कतिपय श्लोक लिखे हैं वे ऐसे हैं जो

हमारे मूल ग्रन्थ में * नहीं मिलते हैं।

मेरा विश्वास है कि चौथी, पाँचवीं, और छठवीं शताब्दियों का समय भारतवर्ष में साहित्य की पुनर्जागृति का समय था। उस समय कालिदास और भारवि प्रसिद्धि-पथ पर बहुत अग्रसर हो चुके थे। इसका प्रमाण हमें शिलालेखों से मिला है। छठवीं शताब्दि में भारतीय साहित्य की प्रसिद्धि ईरान देश तक पहुँच गई थी और वहाँ के खुसरोनो शेरवान बादशाह ने (जिसका राजत्व-काल ५३१ से ५७९ ईस्वी तक है) हिन्दुस्तान में अपने हकीम बारजोई को "पञ्चतंत्र" की कहानियों का संस्कृत से पहलवी भाषा में अनुवाद करने के लिए भेजा था। प्रसिद्ध 'नवरत्न' भी इसी समय हुए हैं। मेरी राय में वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों को छोड़कर संस्कृत के सब ग्रन्थ इसी समय के लिखे हुए हैं। इस आधुनिक संस्कृत-साहित्य के नमूनों से जब उनका प्रथम परिचय हुआ तो लोगों को बड़ा मनोरञ्जन हुआ और इनके कारण बहुत से लोगों का भारतीय साहित्य के साथ

* मानव-धर्मशास्त्र की प्राचीनता इसीसे ज्ञात होती है कि उसमें ऋणादि लेने के सम्बन्ध में लिखी हुई दस्तावेज़ों का ज़िक्र नहीं है; पर मनुस्मृति के ८ वें अध्याय के १६८ वें श्लोक में लिखी हुई दस्तावेज़ों का ज़िक्र है और कहा है कि जो पत्र छल, कपट या धोखे से लिखवा लिये जाते हैं वे अप्रामाणिक हैं। जोली साहब का ख़्याल है कि यह श्लोक पीछे से मिला दिया गया है; क्योंकि वह नारदस्मृति में मिलता है (४—५५); पर, यह ठीक नहीं है। मनुस्मृति ऐसे समय की लिखी हुई प्रतीत होती है जब व्यापारिक सम्बन्ध में पत्रों की लिखा-पढ़ी होती थी। मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति से पुरानी है।

ऊपरी सहानुभूति हुई । यद्यपि अच्छे अच्छे विद्वानों ने इन ग्रन्थों का मर्म शीघ्र ही जान लिया, पर वे सहर्ष यह मानते हुए कि ये ग्रन्थ सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं इस बात के लिए तैयार नहीं हुए कि संस्कृत-साहित्य संसार के बड़े साहित्यों में गिना जाय और उसे यूनानी, लैटिन, इटेलियन, फ्रेन्च, इंगलिश या जर्मन साहित्य के बराबर स्थान दिया जाय ।

एक समय ऐसा था, जब मनुष्य यह ख़याल करने लगे थे कि संस्कृत-साहित्य में जो कुछ जानने की बात है वह मालूम हो गई है और यदि संस्कृत भाषा को किसी विश्व-विद्यालय के पाठ्य विषयों में स्थान दिया जाय तो यह इसी कारण दिया जाय कि यह भाषा-शास्त्र सीखने में बड़ी उपयोगी है ।

उस समय, अर्थात् लगभग ४० वर्ष पूर्व, संस्कृत-विद्या के पढ़ने का एक नया ढँग आविष्कृत किया गया जिससे संस्कृत के पांडित्य-पूर्ण अध्ययन की दिशा ही बदल गई । इसके प्रधान नेता बर्नौफ़ थे । ये पेरिस के " कालेज डी फ्रांस " के प्रोफ़ेसर थे । ये उच्च कोटि के विद्वान् तथा बड़े उदाराशय थे । इन्हें सच्चा ऐतिहासिक अनुभव था और ये ऐसे विद्वान् न थे कि अपना जीवन-समय नैषध, शकुन्तला आदि के पढ़ने में ही बरबाद कर दें । ये एक होनहार नवयुवक बैरिस्टर थे तथा फ्रांस के प्राचीन-साहित्य-सम्बन्धी विद्यालय की प्राचीन मर्यादाओं से परिचित थे । इनके गुज़ट, थीअर्स, मिगनेट, विलेमैन आदि बड़े बड़े नामी पुरुष मित्र थे जो इनको सहायता देने के लिए उद्यत थे । इनके सामने

एक बड़ा उज्ज्वल भविष्य था। सम्भव न था कि ऐसा मनुष्य अपने जीवन को कतिपय सुहावनी संस्कृत-कविताओं ही के पढ़ने में व्यतीत कर दे। इनके पिता ने यूनानी भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण लिखा था। जब ये संस्कृत पढ़ने में लगे तो इनका उद्देश्य इतिहास का अध्ययन करना था, और यह इतिहास भी कैसा कि जो मनुष्य-जाति क्या, समस्त संसार का, इतिहास हो। इन्होंने अपने अकुंठित बुद्धि-बल से वैदिक और बौद्ध साहित्य पर अधिकार प्राप्त कर लिया। क्योंकि ये ही दो साहित्य भारतीय साहित्य के तारतम्य को बतानेवाले प्रारम्भिक साहित्य हैं। खेद की बात है, ये युवावस्था ही में चल बसे। ये जिस विशाल भवन को खड़ा करना चाहते थे उसका थोड़ा ही भाग बनाकर छोड़ गये; पर इनकी उत्साह-शक्ति इनके शिष्यों और मित्रों में बनी रही और ऐसा कौन है जो यह न कहेगा कि तब से वैदिक और बौद्ध साहित्य के विद्वानों ने जो कुछ किया है उसकी प्रेरणा पहले-पहल, किसी न किसी रूप में, बर्नौफ़ और फ्रांस के कॉलेज में दिये गये उनके उन व्याख्यानों से ही नहीं मिली है?

अब शायद तुम यह पूछोगे कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य में हम ऐसी कौनसी बात पाते हैं जो और कहीं नहीं मिल सकती है। मेरा उत्तर है कि हम उसमें आर्य जाति के मनुष्यों को पाते हैं जो यूनानी, रोमन, जर्मन, सैल्ट और स्लेव के विविध रूपों में दिखाई देते हैं और जो पहले सर्वथा एक भिन्न रूप में थे। यह बात हमें संस्कृत-साहित्य से विदित होती है कि जब ये मनुष्य उत्तर दिशा को

बढ़े तो उनके राष्ट्रीय उत्साह और औद्योगिक भावों का विकास हुआ और यह विकास अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच गया। इनके विपरीत जब ये लोग भारतवर्ष की तरफ़ बढ़े तो उनके शान्तिमय और गम्भीर विचारशील चरित्र का पूरा विकास हुआ। हम ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में इस प्राचीन रूप को अब भी देख सकते हैं। हम देखते हैं कि आर्य जाति इन्द्र और मरुत आदि वीर देवताओं के नेतृत्व में बढ़कर देश पर अधिकार कर लेती है और देश के कृष्ण वर्ण मूल निवासियों तथा पीछे आनेवाले आर्य लोगों के आक्रमण से अपने नये घरों की रक्षा करती है। यह युद्ध-काल शीघ्र ही समाप्त हो गया और जब मनुष्यों के बड़े बड़े दल एक बार आकर अपने घरों में बस गये तो उनके सैनिक और राष्ट्रीय कार्य एक जाति के हाथ में आ गये। आर्य लोगों की संख्या बहुत नहीं थी। इनमें से अधिकांश मनुष्यों ने गाँवों में रहकर छोटे छोटे काम करके अपने दिन व्यतीत करने में संतोष माना। इन्हें बाहरी दुनियाँ की कुछ परवाह नहीं रह गई और थोड़ा परिश्रम करने से, प्रकृति की उदारता से, जो कुछ उन्हें प्राप्त हो जाता था उसीपर ये संतोष करने लगे।

भर्तृहरि लिख गये हैं —

" फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयम्।
शयनमवनिपृष्ठे वाससी वल्कले च ॥
धनलवमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥

[वैराग्यशतकम् ३, २१]

पहले-पहल हमें यह मालूम होता है कि जीवन का ऐसा शांतिमय उपभोग करना जीवन को नष्ट करना है, न कि इसका सुधार करना। जीवन के विषय में हमारे जो विचार हैं उनसे यह बात सर्वथा भिन्न है; परन्तु उच्च दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि दक्षिण में आनेवाले आर्यों ने जीवन का एक अच्छा रूप, बल्कि ऐसा रूप जो उनके लिए अच्छा था, ग्रहण कर लिया है और उत्तर में रहनेवाले हम आर्यों ने अपने साथ अनेक वस्तुओं की चिन्ता और आवश्यकता लगा ली है।

यह बात विचार करने-योग्य है कि जिस प्रकार प्रकृति में दक्षिण और उत्तर दो दिशाएँ होती हैं क्या उसी प्रकार मानवी प्रकृति में दो भाग नहीं हो सकते हैं, और क्या दोनों ही की उन्नति नहीं की जानी चाहिए? एक ओर तो उद्योग-परायण, युद्धशील और राष्ट्रीय कर्त्तव्य हैं, और दूसरी ओर शान्तिमय, विचार-शील और दार्शनिक भाव हैं; और, इस जटिल प्रश्न के हल करने के लिए किसी साहित्य में इतनी अधिक सामग्री नहीं है जितनी कि वेद में है। हम एक नूतन संसार में प्रवेश करते हैं जो कम से कम हमारे लिए हमेशा चित्ताकर्षक नहीं है; परन्तु उसमें एक बात है, और वह है—वास्तविक और स्वाभाविक विकास। मेरे विचार से इसमें कुछ गुप्त रहस्य था और इससे हमें सीखने-योग्य ऐसी शिक्षा मिलती है जो निःसन्देह अन्यत्र नहीं मिल सकती है। हमें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम प्राचीन वैदिक साहित्य की प्रशंसा करें या निन्दा ही करें; हमें तो आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उसे पढ़ें, मनन

करें और समझने की चेष्टा करें ।

बहुत से ऐसे अनजान मनुष्य हो चुके हैं जिन्हों-ने भारतीय मानसिक विकास को दूसरे देशों के मानसिक विकासों से उत्कृष्ट प्रमाणित करने की चेष्टा की है । इन लोगों का कहना है कि वैदिक और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने से हमें अपने धर्म से अधिक सच्चा धर्म, अधिक उज्ज्वल नीति, और उच्चतर दार्शनिक विचार मिलेंगे । मैं इन लेख-कों के नाम और उनके ग्रन्थों के नाम बताना नहीं चाहता । इसके विपरीत, कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य की आलोचना इस प्रकार करते हैं मानो वह १९ वीं शताब्दि में निर्मित किया गया हो और यह दिखाते हैं कि यह एक ऐसा शत्रु है जिसपर हमें अवश्यही विजय प्राप्त करनी चाहिए और जिसपर दया-मया करना हमारा काम नहीं है । इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि वेदों में बच्चों और अनजानों के से अनेक ऊटपटाँग विचार * भरे हुए हैं ? फिर भी, ये विचार मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद हैं और यदि हम इस बात को मान लें कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न विचार हुआ करते हैं, तो हमें मालूम होगा कि उसमें सत्य के अंकुर और प्रकाश की किरणें हैं जो हमारे लिए और भी आश्चर्यजनक इसलिए हैं कि वे हमें घोरतम अन्धकार-मय रात्रि के पश्चात् दिखाई पड़ी हैं । भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में मनुष्यों की

* वैदिक विचारों को ऐसा समझना मोक्षमूलर साहब का धार्मिक पक्षपात है और यह उनके पाण्डित्य में बट्टा लगाता है ।
—अनुवादक ।

सच्ची रुचि का यही कारण है और इसी कारण संस्कृत के विद्वानों अथवा प्राचीन इतिहास के अनुरागी पंडितों का नहीं, वरन प्रत्येक शिक्षित मनुष्य और स्त्री का भी, ध्यान इस ओर आकर्षित होना चाहिए ।

कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनपर हम, जीवन-समस्याओं को हल करने में लगे रहने के कारण, विचार नहीं कर सकते; किन्तु ये बार बार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं और हमपर इतना प्रभाव डालते हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। हमारे यहाँ ७ दिनों में से एक दिन (रविवार) विश्राम और ध्यान करने के लिए रक्खा गया है। यूनानियों के मतानुसार परमावश्यक वस्तुओं पर विचार करने के लिए यह दिन रक्खा गया है; किन्तु हममें से बहुत से इस सातवें दिन को गिरजा जाने में या विचार-हीन बातों में व्यतीत कर देते हैं। रविवार हो अथवा कोई दूसरा दिन हो, युवावस्था या वृद्धावस्था में, कुछ दिन ऐसे अवश्य आते हैं, चाहे वे बहुत थोड़े क्यों न हों, जो हमारे जीवन के परमावश्यक परीक्षा-काल हैं। उस समय मनुष्य-जाति के प्राचीन सरल प्रश्न हमारे मन में बड़ी उत्तेजना से उठते हैं और हम पूछने लगते हैं कि हम क्या हैं? पृथ्वी पर यह जीवन किस लिए है? क्या हमें यहाँ कभी आराम नहीं मिलेगा? क्या हम अपने पड़ोसियों के सुख का नाश करते हुए अपने ही सुख को बढ़ाने में रातदिन परिश्रम करते रहेंगे? जब हमने पृथ्वी पर अपने घर को स्टीम, गैस और बिजली के यंत्रों की सहायता से विलास-भवन बना लिया है तो क्या हम वास्तव में उन हिन्दुओं से अधिक सुखी हैं जो अपनी

पुरानी कुटियों में साधुओं के साथ रहते थे ?

जैसा मैंने अभी कहा है, उत्तरीय देशों में हमारा जीवन जीवन-चर्य्या के कठिन परिश्रमों में और वृद्धावस्था के दुःखों का निवारण करने अथवा अत्यन्त जटिल सामाजिक जीवन की दशाओं का प्रवन्ध करने के लिए धन-संचय करने में ही सदैव लगा रहता है; इसलिए हमारी वर्तमान सामाजिक स्थिति में हमारे पास आराम करने और शान्ति-पूर्वक विचार करने के लिए वहुत ही कम समय वच रहता है। जहाँ तक हमें ट्यूटेनिक जातियों के विषय में मालूम हुआ है उनका भी यही हाल था और यही हाल रोमन और यूनानियों का भी था। यूरोप की जल-वायु में जहाँ वहुत दिनों तक अत्यन्त शीत ऋतु रहती है, जहाँ अनेक स्थानों में जमीन जोतने में वड़ी कठिनाई होती है और जहाँ छोटे छोटे जन-समूहों में जीवन-सम्बन्धी लाभ-हानि के वहुत से झगड़े होते रहते हैं, वहाँ आत्म-रक्षा (न कि आत्म-लिप्सा) का भाव इतना वढ़ गया है कि यूरोपीय समाज में जितने गुण और दोष मिलते हैं उनकी उत्पत्ति वहुत कुछ इन्हीं कारणों से हुई है। हमारा चरित्र-सङ्गठन शिक्षा, आवश्यकता और पैतृक परम्परा के कारणों से प्रभावित हुआ है। हमारा जीवन युद्ध करते करते ही वीतता है और हमारे जीवन का उच्चतम आदर्श युद्ध-परायणता है। जब तक हम काम करने में असमर्थ नहीं हो जाते हैं, तवतक हम काम करना नहीं छोड़ते और वुड्ढे घोड़े के समान ज़ीन-तङ्ग कसे हुए मरने में अपना गौरव समझते हैं। हम हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए

कहते हैं कि हमने और हमारे पूर्वजों ने कठिन परिश्रम करके कुटुम्ब, व्यापार, नगर या राज्य की स्थापना की है। जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसके चमत्कारों को भी हम बड़े अभिमान से बताते हैं, अर्थात् ये हैं हमारे बड़े बड़े शहर, हमारी बड़ी बड़ीसड़कें और पुल, हमारे जहाज़, हमारी रेलें, हमारे तार-घर; हमारी बिजली की रोशनी, हमारी तसवीरें, हमारी मूर्तियाँ, हमारा संगीत, और हमारी नाट्यशालाएँ। हम समझते हैं कि हमने अपने जीवन को पृथ्वी पर सब तरह पूर्ण बना लिया है। कभी कभी तो हम यहाँ तक विचार करने लगते हैं कि हमारा जीवन ऐसा सुख-सम्पत्ति-पूर्ण हो गया है कि उसे छोड़ने में हमें बड़ा दुःख मालूम होता है; परन्तु जिस शिक्षा को ब्राह्मण और बौद्ध लोग बार बार सिखाते हैं वह यह है कि यह जीवन एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने के समान एक यात्रा-मात्र है, न कि एक विश्राम करने का कोई स्थान। वे लोग यह उपदेश करते हैं— "जैसे कोई मनुष्य किसी गाँव को जाते समय, एक रात, खुले स्थान में व्यतीत करे और उस विश्राम-स्थान को छोड़ कर दूसरे दिन आगे चलने लगे वैसे ही माता, पिता, स्त्री और धन हमारे लिए रात के बसेरे के समान है। विचारवान् मनुष्य इनसे अपना सम्बन्ध हमेशा के लिए नहीं जोड़ते।"

जीवन के सम्बन्ध में भारतीय जनों के जो ये विचार हैं उन्हें बुरा समझने के बदले हमें थोड़ी देर उनपर विचार करना चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि जीवन के सम्बन्ध में भारतीय जनों के सिद्धान्त ठीक हैं अथवा हमारे सिद्धान्त

ठीक है ? क्या यह पृथ्वी वास्तव में परिश्रम करने ही के लिए बनाई गई है ? क्या यह निरन्तर दौड़-धूप करने के लिए ही है ? (क्योंकि हम लोगों ने सुख को भी काम करना समझ रखा है।) क्या उत्तर के रहनेवाले हम आर्य लोग थोड़े ही काम से और थोड़े ही आनन्द से सन्तोष नहीं प्राप्त कर सकते हैं ? क्या हम लोग अपने जीवन में कुछ मात्रा विचार करने की और कुछ आराम करने की नहीं बढ़ा सकते हैं ? हमारा जीवन अल्पायु अवश्य है; परन्तु तब भी हम मई महीने की मक्खियों के समान नहीं हैं जो प्रातःकाल उत्पन्न होकर रात्रि में मर जाती हैं। हमारे पीछे भूतकाल और आगे भविष्यत् काल है जिनका हमें निरीक्षण करना है; और क्या यह बात सम्भव नहीं है कि हम भविष्यत् काल के कुछ जटिल प्रश्नों को भूतकाल के अनुभव से हल कर सकें ?

यदि यह बात है तो फिर हम वर्तमान काल पर ही अपनी दृष्टि सदैव क्यों लगाये रक्खें ? धन, बल और यश की खोज में हम हमेशा क्यों दौड़ते फिरें ? हम क्यों न कभी कभी विश्राम करके ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रगट किया करें ?

मैं यह नहीं कहता कि यूरोप के राष्ट्रों में मानवी बल, गम्भीर सहिष्णुता, सार्वजनिक परोपकार-वृत्ति और सदाचार के गुण नहीं हैं। मनुष्य को संसार में अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए ये बातें परमावश्यक हैं; किन्तु हमारे लिए एक दूसरी बात भी आवश्यक है, इस जीवन-यात्रा का एक दूसरा उच्च लक्ष्य भी है; और इस लक्ष्य पर

हमें सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। यदि हम पूर्वीय देशों की ओर विशेषकर भारतवर्ष की ओर, दृष्टि डालें जहाँ जीवनचर्य्या के लिए इतना कठिन परिश्रम नहीं करना पड़ता, जहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है, जहाँ की पृथ्वी उपजाऊ है, जहाँ थोड़ा शाक-पात खाने से ही शरीर में स्वास्थ्य और बल बना रहता है, जहाँ किसी वन में सादी झोपड़ी या गुफा बनाकर मनुष्य रह सकता है, जहाँ सामाजिक जीवन लन्दन और पेरिस की तरह विशाल और भयङ्कर होने के बदले इतना सादा है कि मनुष्य गाँवों की संकुचित सीमाओं के भीतर रहकर अपना जीवन बिता सकता है, तो क्या हमें यह बात स्वाभाविक मालूम न होगी कि सब स्थानों पर मानवी प्रकृति का सर्वथा एक ही रूप में विकास नहीं है। इतना ही नहीं, उसका ऐसा भी रूप हो सकता है जिसमें निरन्तर काम करने, लड़ते-झगड़ते रहने और द्रव्य-सञ्चय करते रहने के बदले शान्ति, विश्राम, विचारशीलता, ध्यान और अनुशीलन हो। क्या हमें यह जानकर आश्चर्यान्वित होना चाहिए कि आर्य लोग जो सिन्धु अथवा गङ्गा की घाटियों के सुन्दर खेतों में विदेशी बनकर आये थे जीवन को रविवार के समान एक विश्राम का दिन, या छुट्टी का दिन, अथवा एक लम्बी छुट्टी का काल ही समझते थे और उनका यह सिद्धान्त था कि जब तक यह काल रहे तबतक आनन्दपूर्वक जीवन बिताना और यह विचारते रहना कि इसका किसी न किसी दिन अन्त अवश्य होगा। उन्हें धन-सञ्चय करने की क्या आवश्यकता थी? उन्हें महल बनाने की क्या आवश्यकता थी?

उन्हें रात-दिन परिश्रम करने की क्या आवश्यकता थी ? वे प्रतिदिन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के पश्चात् यह विचार किया करते थे कि हमारा अधिकार है, चाहे वह कर्तव्य ही हो, कि हम इस क्षणिक जीवन को प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करें, अपने भीतर के चमत्कार को देखें, अपने से ऊँची किसी वस्तु का विचार करें और यह देखें कि जिसे हम इस पृथ्वी पर जीवन कह कर पुकारते हैं उसका यथार्थ रहस्य क्या है।

निस्संदेह हम जीवन के ऐसे विचारों को स्वप्नवत् मिथ्या और कर्तव्य-हीन कह सकते हैं; किन्तु क्या वे हमारे जीवन के विचारों को इसी प्रकार अदूरदर्शी, निरन्तर श्रम-बद्ध, अन्ततः अत्यन्त कर्तव्य-शून्य, नहीं कह सकते हैं? क्या यह ऐसा जीवन नहीं है जिसमें जीवन-रक्षा के लिए जीवन के उद्देश्य का बलिदान देना पड़ता हो ?

वस्तुतः ये दोनों विचार बहुत ऊँचे हैं। पूर्व या पश्चिम में किसी जाति ने इन विचारों को अन्तिम रूप में कार्य-परिणत नहीं किया है। हम सदैव परिश्रम नहीं करते रहते बल्कि कभी कभी एक घण्टे के लिए विश्राम भी लेते हैं और शान्तिपूर्वक विचार करते हैं। यह भी नहीं है कि भारतवर्ष के प्राचीन मनुष्य सर्वदा जीवन के पारमार्थिक प्रश्नों पर विचार करते रहते थे। हमें मालूम है कि जब कभी आवश्यकता पड़ी है तो वे शूरवीरों के समान लड़े हैं और कलों के विना भी उन्होंने छोटी छोटी दस्तकारी की चीज़ें बराबर परिश्रम करके एक उत्तम कलाकौशल के नमूने

की बनाई हैं। ये ऐसी चीज़ें हैं जिनसे बनानेवाले और ख़रीदनेवाले दोनों को हार्दिक प्रसन्नता होती है।

मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ कि उन आर्य लोगों में जिन्हें भारतवर्ष में अपना कर्त्तव्य पूरा करना पड़ा है कार्य-साधन और युद्ध-सम्बन्धी वे गुण जो उत्तरीय देशों में रहनेवाले आर्यों में निरन्तर परिश्रम करने के कारण प्राप्त हो गये हैं, वास्तव में कम थे; किन्तु पृथ्वी पर उनका जीवन सर्वथा ही व्यर्थ नहीं था। इस प्रकार की जीवन-प्रणाली चाहे हम उत्तरीय देशों में काम में न ला सकें लेकिन तब भी हमें उससे शिक्षा मिलती है और इस बात की सूचना मिलती है कि हमें जीवन के उच्च उद्देशों को छोड़ न देना चाहिए।

प्राचीन समय का सबसे बड़ा विजेता भारतवर्ष के नंगे साधुओं के सामने चुप होकर आश्चर्य से खड़ा रहा और पश्चात्ताप करता रहा कि मैं इनसे इनकी भाषा में बातचीत नहीं कर सकता हूँ और न इनके सिद्धान्त कच्चे भाषानुवाद करनेवालों के बिना, मुझ तक पहुँच सकते हैं।

इस समय यह बात नहीं है। संस्कृत अब ऐसी कठिन भाषा नहीं रही है और मैं भारतवर्ष में जानेवाले प्रत्येक नवयुवक सिविल सर्वेन्ट को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि वह भारतीय ज्ञान के उद्गम-स्थान तक जाना चाहे तो उसे बहुतसी विलक्षण और व्यर्थ बातों के सिवा जीवन की ऐसी शिक्षा भी मिलेगी जो सीखने-योग्य है और

जिसे हम अपनी जल्दी में तिरस्कार करने लगते हैं या भूल जाते हैं।

मैं अब आपको कुछ ऐसी कहावतें सुनाऊँगा जो हिन्दुस्थान में अब भी बार बार कही जाती हैं। जब दिन की दौड़-धूप का काम समाप्त हो जाता है तब गाँव के बुड्ढे और जवान किसी वृक्ष की घनी छाया में इकट्ठे होते हैं और वे लोग आपस में ये कहावतें कहते हैं। यद्यपि हमें वे मामूली बातें मालूम होती हैं; पर इनमें उनके लिए बहुत कुछ सत्य भरा है:—

जब सभी मनुष्यों को एक साथ नीचे पृथ्वी पर सोना पड़ता है तो मूर्ख आदमी एक दूसरे को हानि पहुँचाने की क्यों इच्छा करते हैं। (महाभारत ११-१२१)

मूर्ख मनुष्य को धन-सञ्चय में जितने दुःख उठाने पड़ते हैं उनके सौवें हिस्से से यदि वह चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। (पञ्चतंत्र २-१२७-११७)

धनवानों की अपेक्षा ग़रीब आदमी बढ़िया भोजन करते हैं, क्योंकि भूख के कारण वह भोजन बड़ा स्वादिष्ट हो जाता है। (महाभारत ५-११४४)

हमारा शरीर समुद्र के फेन के समान है, हमारा जीवन पक्षी के समान है, जिन्हें हम प्रेम करते हैं उनका साथ हमेशा के लिए नहीं है। हे वत्स! तब तू क्यों अचेत सोता है। (महाभारत १२-१२०५०)

संसार को भारत का संदेश।]

जैसे समुद्र में लकड़ियों के दो लट्ठे आकर मिल जाते हैं और अलग अलग हो जाते हैं ; वैसे ही प्राणियों का मिलन इस संसार में है। (महाभारत १२-८६६)

यात्रा के समय में हमारा मिलना स्त्रियों से, रिश्तेदारों से और मित्रों से होता है, इसलिए मनुष्य को अच्छी तरह विचार करना चाहिए कि मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा; और मैं क्या हूँ, यहाँ क्यों ठहरा हुआ हूँ और क्यों किसी वस्तु के लिए शोक करता हूँ। (महाभारत १२-८७२)

कुटुम्ब, भार्य्या, बच्चे, बल्कि हमारा शरीर और धन भी सब नाशवान् हैं, वे हमारे नहीं हैं, तो हमारा क्या है? अच्छे बुरे कर्म ही हमारे हैं और कुछ नहीं। (महाभारत १२-१२४५३)

जब तुम यहाँ से जाओगे तो तुम्हारे साथ अच्छे, बुरे कर्म ही जावेंगे। (महाभारत १२-१२४५६)

जो कुछ भी अच्छा बुरा कर्म मनुष्य करता है उस का उसे अवश्य फल मिलता है। (महाभारत ३-१३८४६).

वेद कहते हैं कि आत्मा अमर है लेकिन सब प्राणियों की देह नाशवान् हैं। (महाभारत ३-१३८६४)

शरीर के नाश होने पर जीव अपने कर्मों के बंधन से बँधा हुआ और कहीं चला जाता है। यदि मैं यह जानूँ कि मेरा शरीर भी मेरा नहीं है और तब यह ध्यान करूँ कि समूची पृथ्वी मेरी है और फिर यह विचार करूँ कि यह मेरी

तेरी दानों की है तो कोई हानि नहीं हो सकती है। (काम० नीति० १—२३)

जैसे पुराने कपड़ों को फेंक कर मनुष्य संसार में नये कपड़ों को पहिन लेता है उसी प्रकार जीव अपने कर्मानुसार नये शरीरों को धारण करता है। (विष्णु-सूत्र २०-५०-५३)

मनुष्य की आत्मा को न कोई शस्त्र छेद सकता है, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है, न वायु सुखा सकती है। जीव छेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता और न भिगोया जा सकता है। वह अनादि, अविनाशी, अचल और अव्यय है। वह बुद्धि से परे आत्मतत्व है और विकार-रहित है। यदि तुम आत्मा को इस प्रकार जानते हो तो क्यों शोक करते हो ?

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से बढ़कर कोई चीज़ नहीं है। (आपस्तम्ब धर्म-सूत्र १-८-२२)

आत्मा अमर और निष्कलङ्क है और प्रकृति में छिपी हुई है, सब प्राणियों के शरीर उसके रहने के घर हैं। जो इस निश्चल आत्मा को इस नाशवान् शरीर में रहते हुए पूजता है वह अमर हो जाता है। विचारवान् मनुष्य को सब विचार छोड़कर आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए।

संसार को भारत का संदेश ।]

हमें इस विषय पर फिर लौटना पड़ेगा, क्योंकि आत्म-ज्ञान ही सच्चा वेदान्त है, अर्थात् वेदों का उच्चतम लक्ष्य है। यूनान देश का उच्चतम सिद्धान्त 'अपने आपको जानना' है और भारतवर्ष का उच्चतम सिद्धान्त "अपनी आत्मा को जानना" है।

यदि मैं एक शब्द से भारतीय चरित्र के मुख्य लक्षण को प्रकट करना चाहूँ जैसा कि मैंने यहाँ दिखाने की कोशिश की है, तो वह एक शब्द 'परमार्थ' या 'परा' होगा। इस शब्द का वह नियमित अर्थ नहीं लिया गया है जो कान्ट ने बताया है, बल्कि वह साधारण प्रचलित अर्थ लिया गया है जो उस मानवी वृत्ति को बताता है जो इन्द्रिय-द्वारा ज्ञान की सीमाओं के ऊपर जाने की चेष्टा करती है। बहुत से ऐसे लोग हैं, जो इन्द्रियों-द्वारा ज्ञान-प्राप्ति से ही सर्वदा सन्तुष्ट हो जाते हैं अर्थात् बाहरी उन घटनाओं के ज्ञान से जो भलीभाँति निश्चित हो गई हैं और जिनके नाम और भेद अच्छी तरह जान लिए गये हैं। यह ज्ञान भी बड़े महत्व का है और यदि ज्ञान एक शक्ति है, तो उस मनुष्य को जो उसका प्रयोग करना जानता है वह एक वास्तविक मानसिक प्रचुर बल देती है। इस प्रकार के ज्ञान का हमारे युग के लोगों को बड़ा अभिमान है और इससे सन्तुष्ट हो जाना और उसके परे देखने की चेष्टा न करना मेरे विचार से मानसिक दशाओं में से एक आनन्द-पूर्ण दशा है।

ऐसा होने पर भी इसके परे एक लक्ष्य और भी है, और

जिसने उस लक्ष्य की एक झलक भी देख ली है वह उस मनुष्य के समान है, जिसने सूर्य को आँख खोलकर अच्छी तरह देख लिया है—जहाँ कहीं वह देखता है उसे सर्वत्र सूर्य का प्रतिबिम्ब ही दिखाई देता है। यदि ऐसे मनुष्य से सीमान्त वस्तुओं की चर्चा करो तो वह कहेगा कि निस्सीम-अनन्त-वस्तु के बिना सीमान्त वस्तु का होना असम्भव और निरर्थक है। यदि उसे मृत्यु का नाम सुनाओ तो वह उसे जन्म कहेगा, वह उसे काल की छाया बतावेगा। हमारे लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञान-प्राप्त करने के लिए प्रबल साधन और यंत्र हैं। उसके लिए ये वास्तव में धोखा देनेवाली चीज़ें हैं। वे ऐसे बन्धन हैं जो उसके आत्म-ज्ञान की गति को रोकते हैं। हमारे लिए यह पृथ्वी, यह जीवन और जो कुछ भी हम देखते, सुनते और स्पर्श करते हैं सत्य है। हमारे लिए यही हमारा घर है, यही हमारे कर्त्तव्य हैं और यही हमारे सुख हैं। उसके लिए पृथ्वी एक ऐसी चीज़ है जो न पहले थी और न फिर रहेगी। जीवन एक छोटा स्वप्न है जिससे जागृति होगी। जो वस्तुएँ दूसरों को सर्वथा सत्य दिखाई देती हैं, अर्थात् जो वस्तुएँ जिन्हें हम देखते, सुनते और छूते हैं उनको वह सबसे अधिक मिथ्या बताता है और घर के विषय में वह कहता है कि वह कहीं भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह यहाँ पर नहीं है।

ऐसे आदमियों को केवल स्वप्न-देखनेवाले ही मत समझो। वे इस बात से बहुत दूर हैं। यदि हम अपने लिए सत्य-रूप से देखते हैं तो हमें कहना पड़ेगा कि कभी कभी हममें भी ऐसी पारमार्थिक इच्छा उत्पन्न होती हैं और

वर्ड्सवर्थ ने जिन बातों का उल्लेख किया है उनको हम कुछ कुछ समझ सके हैं। यह कवि लिखता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान और बाहरी चीज़ों की स्थिति सत्य दिखाई देने पर भी मिथ्या सी है। प्राणी ऐसे संसार में रहता है जिसका असली तत्त्व मालूम नहीं हो सकता। इन पारमार्थिक विचारों की जैसी अधिकता भारतवर्ष के लोगों में है वैसी और कहीं नहीं; पर हम कह सकते हैं कि कोई जाति और कोई मनुष्य पारमार्थिक वाञ्छा-रहित नहीं है और हम इसे सर्व-साधारण-धर्म के नाम से पुकारते हैं।

जिस प्रकार भाषा और किसी विशेष भाषा अथवा उपभाषाओं में अन्तर मालूम करने की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार धर्म और किसी विशेष धर्म में भेद मालूम करने की आवश्यकता है। कोई मनुष्य किसी विशेष धर्म को ग्रहण कर ले, चाहे वह ईसाई धर्म को मान ले, और समय समय पर अपने धर्म को भिन्न भिन्न भाषा के बोलने के समान बदलता रहे; पर उसे किसी न किसी एक धर्म का स्वीकार करना ही पड़ेगा; क्योंकि उसे किसी भी एक धर्म का अनुयायी होना ही चाहिए। उसने कभी न कभी अपने जीवन में इस संसार के परे देखने की चेष्टा की होगी और उसके मन में अनन्त शक्ति का प्रभाव पड़ा होगा जो उससे दूर नहीं हो सकता। जो मनुष्य इस इन्द्रियज ज्ञान-विशिष्ट संसार से सन्तुष्ट हो गया है, जो उसकी अल्पज्ञता को नहीं जान सकता है, जिसे इन्द्रिय-ज्ञान के सीमा-बद्ध रूप होने का परिचय नहीं है उसके मन में कोई भी धार्मिक विचार नहीं हो सकते। जब मनुष्य के ज्ञान की अल्पज्ञता मालूम

हो जाती है तभी मनुष्य के मन में उसके जानने की वाञ्छा होती है जो अनन्त और असीम है। उसे किसी नाम से क्यों न कहो, चाहे उसे अन्तिम लक्ष्य कहो, चाहे अदृष्ट कहो, चाहे अनन्त कहो, चाहे प्राकृतिक कहो और चाहे दैवी शक्ति कहो। ये विचार तभी हो सकते हैं जब किसी न किसी प्रकार के धार्मिक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। यह धर्म किस प्रकार का होगा? यह बात उस धर्म बनानेवाली जाति के चरित्र, उसकी प्राकृतिक परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक अनुभव पर निर्भर है।

हम बहुत से धर्मों को भले ही जान लें। मेरा अभिप्राय यहाँ उन्हीं प्राचीन धर्मों से है जो जातीय धर्म थे, न कि उन धर्मों से जो पीछे किसी पैग़म्बर या सुधारक के नाम से प्रचलित हुए हैं।

इन प्राचीन धर्मों में हम यह नहीं जानते जो जानना बहुत आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई और शनैः शनैः इनका विकास कैसे हुआ। यहूदी धर्म हमें पहले ही से पूरा बना हुआ मिलता है। उसका प्रारम्भ किस तरह हुआ और उसका ऐतिहासिक विकास किस तरह हुआ यह बात जानना हमारे लिए बहुत कठिन है। इसी तरह यूनान और रोमवालों के अथवा ट्यूटेनिक, स्लेवौनिक या सैल्टिक जातियों के धर्मों को लीजिए तो मालूम होगा कि हमारे जानने के पहले उनके बनने और विकास होने का समय समाप्त हो चुका था। जबसे हम उन्हें जानने लगे हैं तबसे उनमें यदि कोई परिवर्तन हुआ है तो वह कुछ बाहरी

रूप में ही है, न कि उनके मार्मिक तत्वों में जो पहले ही से सञ्चित किये हुए थे।

अब भारतवर्ष के प्राचीन रहनेवालों की ओर देखिए। उसमें धर्म और बहुतसी बातों के साथ एक चेष्टा नहीं थी बल्कि उनमें धर्म ही प्रधान चेष्टा थी। इस धर्म में केवल उपासना और प्रार्थना ही नहीं है बल्कि दार्शनिक विचार, नीति, धर्मव्यवस्था और राजनीति सब कुछ है। उनका समूचा जीवन ही धर्म था और सब वस्तुएँ इस जीवन की रात-दिन की आवश्यकता मात्र ही समझी जाती थीं।

अब तनिक यह सोचिए कि भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक साहित्य अथवा वेद से हमें क्या शिक्षा मिलती है।

यूनान के देवताओं में प्राकृतिक देवताओं के वास्तविक रूप जानने के लिए हमें यूनानी धर्म और यूनानी भाषा का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। पाठशाला में पढ़नेवाला प्रत्येक लड़का जानता है कि यूनान के ज्यूस देवता में कुछ न कुछ आकाश से सम्बन्ध रखनेवाले लक्षण हैं। इसी प्रकार पौसिडन देवता में समुद्र से संबंध रखनेवाले लक्षण हैं। हेड्स में नीचे के लोक, अर्थात् नर्क से सम्बन्ध रखनेवाले लक्षण हैं और एपौलो, अर्टेमीज़, हैपेस्टौस देवताओं में सूर्य, चन्द्र, अग्नि के क्रमशः रूप हैं। इतने पर भी यूनानवालों की दृष्टि से ज्यूस देवता और आकाश में, पौसिडन देवता और समुद्र में, एपौलो और सूर्य में, अर्टेमीज़ और चन्द्रमा में बड़ा अन्तर है।

अब हमें यह बताना है कि वेदों से हमें क्या मालूम होता है। लोगों ने दर्शन सम्बन्धी इधर उधर के कुछ वेद-मंत्रों को पढ़कर यह मान लिया है कि वेद एक प्रकार के प्राचीन देवी-देवताओं के भजनों का संग्रह है। हमें कुछ ऐसे मंत्र भी मिलते हैं जिनमें केवल कथाएँ हैं और जिनमें होमर के गीतों के समान देवताओं के रूप बन गये हैं।

किन्तु, अधिकांश वैदिक मंत्रों में अग्नि, वरुण, आकाश, सूर्य, वायु शक्तियों का आह्वान है और इनके यही नाम हैं जो पीछे हिन्दू देवताओं के नाम हो गये हैं; पर अभी तक इनमें पौराणिक कथाओं का अंश नहीं आया है। अभी तक इनमें कोई निरर्थक या असम्भव बात नहीं है, अर्थात् कोई बात ऐसी नहीं है जिसके साथ हम सहानुभूति नहीं दिखा सकते। क्योंकि प्रचण्ड वायु के वेग को रोकने के लिए, आकाश से वर्षा करनेके लिए, या सूर्य से प्रकाश करने के लिए प्रार्थना करने में कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। जो मनुष्य मानवी बुद्धि अथवा बच्चों की प्रारम्भिक बुद्धि के शनैः शनैः विकास-क्रम को जानते हैं उन्हें इस बात में कुछ भी आश्चर्य नहीं मालूम होता है। बच्चे कारण को कार्य और कार्य को कर्त्ता कैसे समझ लेते हैं इसके निर्णय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम इसे चाहे प्राकृतिक पदार्थों को ईश्वर मान लेना कहें, या उन्हें मनुष्य मान लेना कहें, या उपमा अथवा कविता से इनके रूप बाँधना कहें; पर इसका जो कुछ अभिप्राय है वह हम जानते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि इन सब नामों का साधारण अर्थ क्या है।

हम जानते हैं बच्चों में ऐसी बातों के करने की वृत्ति होती है। कोई छोटा बच्चा जो कि किसी कुर्सी से ठोकर खाकर गिर पड़ा है, कुर्सी को मारता है या अपने कुत्ते को झिड़कता है, या भींगी धोती को सुखाने के लिए यह कहता है कि "नदी का पानी नदी में जाय, मेरी धोती सूख जाय" तो वह हमें यह बात सिखाता है कि ये सब बातें हमें कैसी ही ऊटपटाँग क्यों न दिखाई दें, लेकिन उनमें पूरी स्वाभाविकता और प्रारम्भिक नियम-व्यवस्था है, बल्कि मानवी बुद्धि की बाल्यावस्था में अथवा उसके प्रारम्भिक काल में ऐसी बातें अनिवार्य्य हैं।

प्राचीन धर्म के विकास में यही काल है जो पहले-पहल हुआ होगा और जिसका वर्णन और कहीं नहीं है। इसका स्पष्ट वर्णन हमारे सामने ऋग्वेद के मंत्रों में ही है। मानवी बुद्धि के इतिहास में यह प्राचीन प्रकरण हमारे लिए भारतवर्ष के साहित्य में संरक्षित रहा है। यूनान, रोम, अथवा और किसी देश के साहित्य में इसकी खोज करना व्यर्थ है।

जो लोग मनुष्य की उत्पत्ति और उसके विकास संबंधी शास्त्र को पढ़ते हैं उनका बार बार कहना यही है कि यदि हम मनुष्य के विकास-क्रम में प्रारम्भिक अथवा इतिहास से पूर्व की अवस्थाएँ जानना चाहें तो हमें एशिया, आफ्रीका, पौलेनीशिया और अमेरिका के कुछ भागों में रहनेवाली हबशी जैसी असभ्य जातियों के जीवन का अवलोकन करना चाहिए।

इसमें बहुत-कुछ तथ्य है। वाट्ज, टेलर, लंबोक और अन्य लेखकों के ग्रन्थों में जो जो देखी हुई बातें लिखी हैं, उनसे अधिक उपयोगी बातें और क्या हो सकती हैं! किन्तु हमें सत्य-प्रिय हो सर्व-प्रथम यह स्वीकार करना चाहिए कि जिन आधारों पर हमें यहाँ निर्भर रहना है, वे अत्यन्त अविश्वसनीय हैं।

केवल यही बात नहीं है। हम असभ्य जातियों के इतिहास के अन्त-तम प्रकरण के पहले का हाल कुछ नहीं जानते। क्या, इससे पहले की बातें हम जान सकते हैं? क्या, हम यह जान सकते हैं कि जैसे वे अब हैं वैसे वे कैसे हुए? इसका जानना परमावश्यक और शिक्षाप्रद है। अवश्यही उनकी भाषा है और इस भाषा में हम उनके,ऐसे विकास-क्रम के चिह्न देखते हैं, जिनसे उनकी प्राचीनता का हाल उसी तरह मालूम होता है जैसे होमर की ग्रीक भाषा से हो सकता है। उनकी भाषा से यह प्रामाणित होता है कि ये असभ्य मनुष्य जो ईश्वर को नहीं जानते हैं, जिनकी पौराणिक कथाएँ बड़ी उलझन की हैं, जिनकी प्रथाएँ कृत्रिम हैं, विचार अबोध्य हैं और प्रवृत्तियाँ बर्बर की-सी हैं, आज या कल के पैदा हुए नहीं हैं। यदि हम यह बात न मानें कि इन सब असभ्य जातियों की सृष्टि पृथक् है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वे भी हिन्दू, यूनानी, रोमन, एवम् हमारे समान अत्यन्त प्राचीन काल के हैं। हम यह मान सकते हैं कि उनका जीवन एक-सा ही बना रहा है और जो अवस्था हिन्दुओं की तीन-हज़ार वर्ष पहले भी नहीं थी, वह उनकी वर्तमान अवस्था है; किन्तु यह केवल कल्पना-मात्र ही है। उनकी भाषा के प्रमाणों से यह बात कट जाती है।

सम्भव है कि उनकी बहुत-सी परिवर्तित अवस्थाएँ हुई हों और जिस अवस्था को अब हम प्रारम्भिक अवस्था कहते हैं, वह प्राचीन समय की सभ्य और अच्छी अवस्था हो और उसका यह विकृत रूप होकर बर्बर अवस्था में परिवर्तित हो गयी हो। निकृष्ट से निकृष्ट असभ्य जातियों के वैवाहिक नियमों को लीजिए; ये नियम ऐसे जटिल हैं कि समझ में नहीं आते। वे पक्षपात, मिथ्या विश्वास, अभिमान, दम्भ और मूर्खता के पुञ्ज हैं। तब भी उनमें हमें ऐसी झलक मिलती है, जिनसे यह मालूम होता है कि जिसको हम इस समय बिलकुल व्यर्थ समझते हैं, उसमें कुछ न कुछ आशय अवश्य था। हम देखते हैं कि सार्थक बातें निरर्थक कैसे हो जाती हैं! सामाजिक प्रथाओं का रीतिव्यवहार में कैसे परिवर्तन हो जाता है और यह रीति-व्यवहार उपहास-रूप में कैसे बदलजाता है! इससे मालूम होगा कि बर्बर लोगों के वर्तमान जीवन से हमें मानवी जीवन की सब में नीची तह का पता नहीं लगता है, न इससे सभ्यता के विकास का प्रारम्भ ही मालूम होता है। उनकी उस अवस्था के पहले की अवस्था जब हमें मालूम नहीं है, तो हम कैसे मानलें कि यही अवस्था प्रारम्भिक है।

मेरे कहने का अर्थ और का और ही नहीं समझ लिया जाय! जिस प्रकार बर्बर जातियों के गीत, कहानियाँ और परम्परा की बातें, जो आज भी हम, उनके बर्बर हालत में रहने के कारण, मालूम कर सकते हैं, उसीप्रकार प्राचीन भारतवर्ष के साहित्य को भी मैं प्रामाणिक मानता हूँ। मनुष्य जाति के इतिहास जानने वालों के लिए ये दोनों बातें बड़ी आवश्यक हैं, किन्तु

मेरा यह कहना है कि मनुष्यों की प्रारम्भिक अवस्था का बोध जैसा वेदों में होता है, वैसा हुटेन्टोट या बुशमैन के जँगली गीतों से नहीं होता। जब मैं प्रारम्भिक दशा के विषय में कहता हूँ, तो मेरा मतलब सब से पहले की प्रारम्भिक दशा से अथवा सब के प्रारम्भ से नहीं है। बार बार यह प्रश्न किया जाता है, कि क्या हम इस बात का विश्वास करलें कि ज्योंही मनुष्य अपने हाथ-पैरों से रेंगने वाली अवस्था को छोड़कर अपने पैरों से चलने लगा, त्योंही उसने वेदों की ऋचाएँ कह डालीं ? यह बात कही ही किसने ! जिस किसी के आखें हैं वह प्रत्येक वैदिक मन्त्र और प्रत्येक वैदिक शब्द में देखले कि उसके भीतर ऐसे ही अनेक चक्कर पर चक्कर हैं, जैसे प्राचीन से प्राचीन वृक्ष के भीतर जो जंगल में काटकर डाला जाता है, होते हैं।

इसके सिवा, मैं यह कहूँगा, जो कि पहले भी कहा है, कि कल्पना करो कि वैदिक मन्त्रों का संकलन ईसा से पहले १५०० और १००० वर्षों के बीच में हुआ है। तब हमारी समझ में यह नहीं आता कि ऐसे प्राचीनकाल में भारतवासी ऐसे विचारोंतक कैसे पहुँच गये थे, जो हमें आधुनिक प्रतीत होते हैं! यदि मेरा यह अनुमान कि, वैदिक ऋचाएँ जो दस ग्रन्थों में संकलित हैं, ईसा से १००० वर्ष पहले, अर्थात्, बौद्ध धर्म के विकास के ५०० वर्ष पहले बन चुकीं थीं अप्रमाणित हो सकें, तो मैं इसके लिए सब कुछ देने को तैयार हूँ। मैं यह नहीं कहता कि कोई बात भविष्य में ऐसी नहीं मालूम हो सकती है कि जिसमें वेदों का प्रणयन-समय कुछ पीछे का सिद्ध हो। जो कुछ मैं कहता हूं वह यह है कि जहां तक हमें और जहां तक सब

सच्चे संस्कृत विद्वानों को अब तक मालूम है, बौद्ध धर्म के पूर्व का साहित्य ५०० वर्ष पहले से कम का नहीं हो सकता है।

क्या किया जावे ? हमें चाहिए कि प्रारम्भिक मनुष्य जाति के विषय में जो विचार हमने पहले से सञ्चित किये हैं कि ये लोग बड़े असभ्य होंगे, उन्हें थोड़े काल के लिए दूर कर दें। जब हम तीन हज़ार वर्ष पहले के मनुष्यों को उन विचारों और बातों से सुपरिचित पाते हैं, जो हमें नवीन और उन्नीसवीं शताब्दि के मालुम होते हैं, तो हमें प्रारम्भिक असभ्य मनुष्यों के विषय में अपने विचारों में कुछ परिवर्तन करदेना चाहिए। और समझना चाहिए कि जो बातें बुद्धिमान और ज्ञान-सम्पन्न मनुष्यों से छिपी रही हैं, वे कभी कभी बच्चों को मालूम हो गई हैं।

मेरा कहना है कि मनुष्यों के विचारों के विकास-क्रम को जानने के लिए, विशेष कर आर्य जाति के विचार-विकास-क्रम को जानने के लिए, संसार में वेद से बढ़कर कोई चीज़ नहीं है। मैं यह भी कहता हूँ कि जो कोई अपनी, अपने पूर्वजों की, अथवा अपने विचार-विकास की परवाह करता है, उसके लिए वैदिक साहित्य का परिशीलन परमावश्यक है।

उच्च और औदार्यप्रद शिक्षा के अंश-रूप में बेबीलोनियन और पर्सियन सम्राटों के शासन-इतिहास, प्रत्युत जूडाह और इसराइल के बहुत से राजाओं के कार्य और उनके काल-सम्वतों के अध्ययन की अपेक्षा यह वैदिक साहित्य अधिक उपयोगी और आवश्यक है।

यह आश्चर्य की बात है, कि वे लोग, जिनके लिए यह ज्ञान बड़े काम का है और जिन्हें इसका अवश्य आदर करना चाहिए—अर्थात् मानवी विकास-शास्त्र के विद्वान,—उसकी उपयोगिता स्वेच्छया स्वीकार नहीं करते हैं! इन लेखों के पढ़ने में दत्तचित्त होने के बदले वे इन्हें न पढ़ने के लिए बहाने ढूढ़ने में लगे हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि ऋग्वेद के कई अनुवाद अँग्रेजी, फ्रेन्च और जर्मनी में होगये हैं, इसलिए उससे जो कुछ शिक्षा हमें प्राप्त हो सकती है,वह सब प्राप्त हो चुकी है। यह बात नहीं है। इनमें का प्रत्येक अनुवाद काम चलाने लायक परीक्षा रूप में है। मैंने गत तीस वर्षों में प्रसिद्ध प्रसिद्ध वेद-ऋचाओं का ही केवल अनुवाद किया है। मेरी सम्मति के अनुसार वेद का कैसा अनुवाद होना चाहिए उसका अभी मैं एक उदाहरण ही प्रकाशित कर पाया हूँ और इन द्वादश सूक्तों के उदाहरणमात्र के अनुवाद से ही एक जिल्द भर गई है। हम अभी वैदिक साहित्य की केवल ऊपरी तह पर ही हैं। तब भी दोषान्वेषण-तत्पर-विद्वान अनेक तर्कों द्वारा यह बात बताने के लिए उद्यत हैं कि मनुष्य को प्रारम्भिक अवस्था के विषय में हम वेद से कुछ भी नहीं सीख सकते हैं! यदि प्रारम्भिक अवस्था से उनका अभिप्राय उस अवस्था से है जो सब से पहले पहल थी, तो वे ऐसी बात प्राप्त करना चाहते हैं, जो उन्हें कभी नहीं प्राप्त होगी, चाहे वे आदम और हौवा अथवा प्रथम होयो और फमीना सेप्रीन्स के निजी पत्र-व्यवहार ही का क्यों न पता लगा लें! प्रारम्भिक अवस्था से हमारा अभिप्राय मनुष्य की उस

प्राचीनतम अवस्था से है, जिसका कुछ ज्ञान हमें हमारी वर्तमान परिस्थिति में हो सकता है। इस विषय में उन गुप्त भाण्डारों को छोड़कर जो भाषा के भीतर अथवा आर्य जातियों के पर्यायवाची-शब्द कोशों में छिपे हैं, और जिनके मार्मिक तत्वों में प्रत्येक शब्द सम्मिश्रित है, कोई साहित्य खण्ड ऐसा नहीं है जो मानव-विकास-शास्त्र के सच्चे विद्वान को ऋग्वेद से अधिक शिक्षा-प्रद और उपयोगी हो।

चतुर्थ अध्याय ।

शंका-समाधान ।

यह बात सच हो सकती है कि विवाद करने से जितनी हानि होती है, उतना लाभ नहीं होता। उससे विवाद करनेवालों में एक बुरी आदत यह पैदा होती है कि मनुष्य जैसे बने वैसे अपने पक्ष के समर्थन करने की चेष्टा करता है। इसका परिणाम यह होता है कि लोग विवाद के पहले जिस अंधकार में थे, विवाद के पश्चात् उससे कहीं अधिक अंधकार में पड़ जाते हैं। कहा गया है कि यदि चतुर वकील को यह बात सिद्ध करने को दी जाय कि पृथ्वी समस्त विश्व का केन्द्र है तो वह इसे सिद्ध करने के लिए उद्यत हो जायगा। मैं अंग्रेज़ जूरियों की योग्यता का आदर करते हुए, यह कह सकता हूँ कि यह बात इन दिनों असम्भव नहीं है कि ऐसे चतुर वकील गेलीलियों के सिद्धान्त के विरुद्ध इन अदालतों से व्यवस्था प्राप्त कर सकें, तथापि मैं यह बात अस्वीकार नहीं करता कि सत्य में एक

ऐसी शक्ति और बल है कि जिससे सत्य पक्ष वाला ही अन्त में जीतता है और उसके विरोधी पराजित हो जाते हैं। गैलीलियो के सिद्धान्त को इस समय सैकड़ों नहीं किन्तु हज़ारों आदमी मानते हैं, और ये उसके समर्थन में कोई युक्ति भी नहीं दे सकते। मैं इस बात के मानने को तैयार हूँ कि जिनने अच्छा काम किया है और जिनने ज्ञान और सत्य की वृद्धि की है, उनने अपना समय विवाद में व्यर्थ नहीं खोया है, वे अपने मार्ग में सीधे चले गये हैं और उनने इस बात की कुछ भी परवा नहीं की कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं या निन्दा। इन सब बातों को सर्वथा सत्य मानते हुए भी मुझे पूरा एक प्रबन्ध उन शंकाओं के उत्तर देने में लिखने की आवश्यकता है जो मेरे उन विचारों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई हैं, जो मैंने वैदिक साहित्य की ऐतिहासिक आवश्यकता और उसके स्वरूप के विषय में प्रकट की हैं।

हमें यह बात भूल जानी चाहिए कि यह विषय नया है, इस विषय में व्यवस्था देने वाले योग्य पुरुष बहुत कम हैं और भूलों का होना सम्भव ही नहीं है किन्तु अनिवार्य है। इसके सिवा भूलें भी अनेक प्रकार की होती हैं और योग्य पुरुषों की भूलें तो बहुधा शिक्षाप्रद हुआ करती हैं; बल्कि यह कह सकते हैं कि सत्य प्रकट करने में ऐसी भूलें कभी-कभी, अत्यन्त आवश्यक हैं। तब भी कुछ आक्षेप और दोष ऐसे होते हैं जिनका उत्तर देना किसी प्रकार आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसे आक्षेप दोष निकालने ही की दृष्टि से किये जाते हैं। कभी-कभी कुछ आक्षेप और भी नीच अभिप्रायों से किये

जाते हैं; किन्तु कुछ शंकाएँ और कठिनाइयाँ ऐसी होती हैं जो स्वाभाविक हैं। ऐसी शंकाओं का उत्तर देना आवश्यक है; जिनके समाधान करने से सत्य का निर्णय होता है। शंका-समाधान के ढंग और नियम जैसे भारतीय साहित्य में पाये जाते हैं, वैसे और कहीं नहीं मिलते। जब किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है, तो पहला नियम यह है कि जो कुछ विषय के विरुद्ध कहना हो, वह कहा जाय। इसे पूर्वपक्ष कहते हैं। सर्वथा निरर्थक और निस्सार शंकाओं को छोड़कर सब प्रकार की शंकाएँ सुनी जाती हैं। इनके सुनने के पश्चात् उत्तर पक्ष शुरू होता है, जिसमें पूर्व शंकाओं का समाधान और प्रतिपादित विषय का समर्थन रहता है। जब ये दोनों पक्ष समाप्त हो जाते हैं, तब सिद्धान्त पक्ष उठाया जाता है।

इसलिए वेद विषय पर व्याख्यान देने के और भारतवर्ष के प्राचीन निवासियों के काव्य, धर्म और दर्शन शास्त्रों का वर्णन करने के पहले मैंने यह बात उचित ही नहीं किन्तु आवश्यक समझी कि प्रारम्भ में उन बातों को मैं सिद्ध कर दूँ, जिनके बिना वैदिक ऋचाओं के ऐतिहासिक महत्व की यथार्थ प्रशंसा करना एवं इतने काल पश्चात् हमारे लिए उनकी उपयोगिता क्या है, जानना असम्भव है।

हिन्दू जाति प्राचीन और आधुनिक काल में भी एक ऐसी जाति है, जिसके प्रति हमें केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करनी चाहिए, किन्तु उन्हें अपना विश्वास-पात्र भी

समझना चाहिए। यह बात पहली और केवल भूमिका-रूप है। असत्य बोलने की आदत का दोष जो उन पर बिना सोचे-विचारे लगाया जाता है, सर्वथा निर्मूल है।

दूसरी बात यह है, कि भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य एक खिलौने के समान अनोखा पदार्थ नहीं है जो पूर्वीय देशों के विद्वानों की इच्छा पर छोड़ दिया जाय। परन्तु संस्कृत भाषा के कारण और वेद जैसे प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों के कारण उससे हमें ऐसी ऐसी गूढ़ बातें प्राप्त हो सकती हैं जैसी कहीं से भी नहीं जानी जा सकतीं; यथा,—अपनी भाषा की उत्पत्ति, अपने आदि विचारों का विकास, उन स्वाभाविक और सत्य तत्वों का ज्ञान जो हमारी सभ्यता में, अर्थात् उस आर्य जाति की सभ्यता में विद्यमान है, जिसमें संसार की सभी बड़ी बड़ी जातियाँ—हिन्दू, ईरानी, यूनानी, रोमन, स्लेवस, सैल्टस, ट्यूटन आदि—सम्मिलित हैं। कोई आदमी भूगर्भ-विद्या का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी एक चतुर कृषक हो सकता है। उसे यह भले ही न मालूम हो कि जहाँ मैं खड़ा हूँ, रहता हूँ, काम करता हूँ, वह पृथ्वी की कौनसी तह है, उसके नीचे और कितनी तहें हैं; और जिसमें से उसके खाने-पीने की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वह तह कितने नीचे है? बिना इतिहासज्ञ हुए भी कोई मनुष्य सच्चा और अच्छा नागरिक बन सकता है। उसे यह बात जानने की आवश्यकता नहीं है कि यह जगत् जिसमें वह रहता है, किस प्रकार बना और मनुष्य के भाषा, धर्म एवं दार्शनिक विचारों में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए!

ऐसे उच्च विद्वान् प्रायः थोड़े होंगे जो ऐसी बातों का पता लगावें जो आजकल हम लोगों में अच्छी समझी जाती हैं, और यह पता किसी नारमेन, कौन्ट, अथवा किसी स्कैन्डी नेविया वाले समुद्री लुटेरे या किसी सेक्शन सरदार के समय में नहीं, किन्तु और भी प्राचीन समय के मनुष्य जाति के उपकार करने वाले उन प्राचीन पूर्वजों के समय के इतिहास में लगाया जावे जो हज़ारों वर्ष पहले हमारे लिए पसीना बहाकर परिश्रम करते थे और जिनके बिना हम वर्तमान अवस्था में नहीं हो सकते थे। मेरा अभिप्राय समस्त आर्य जाति के उन प्राचीन पूर्वजों से है, जिन्होंने पहले-पहल हमारे बोलने के शब्द बनाये, हमारे हार्दिक-मानसिक भावों को कविता के साँचे में ढालने का पथ निर्माण किया। हमारी धर्म-मर्यादाओं को सुसंगठित किया; और जो हमारे देवताओं के ही नहीं, किन्तु सब देवताओं के देव ईश्वर के आदि धर्म-पथ-प्रदर्शक थे।

ऐसी बातों के जानने का अधिकार उन सब लोगों को प्राप्त है, जो जानना चाहते हैं, जिन्हें हमारे विचारों के विकास-क्रम जानने की अभिलाषा है, जिन्हें हमारे ज्ञानोत्पत्ति विषय का सादर अनुराग है, जो सब प्रकार सच्चे इतिहासज्ञ हैं अर्थात् ऐसे मनुष्य जो उन बातों की खोज किया चाहते हैं, जो प्राचीन समय में हुईं थीं और जो सर्वथा नष्ट नहीं हो गई हैं।

तीसरी बात यह है, कि मैंने आपका ध्यान भारतवर्ष के प्राचीन वैदिक साहित्य की ओर आकर्षित किया, और

यह बताया कि इस साहित्य को केवल प्राच्य पण्डितों को ही नहीं, किन्तु ऐसे प्रत्येक शिक्षित स्त्री-पुरुष को पढ़ाना चाहिए जो यह जानना चाहते हैं कि हम इंग्लैण्ड में और इस १६ वीं शताब्दि में कैसे हुए; फिर मैंने उस स्वाभाविक और अनिवार्य अन्तर बतलाने की चेष्टा की जो भारतवर्ष और यूरोप की भिन्न भिन्न जलवायु और परस्थितियों में होने से मनुष्यों के चरित्रों के विकास में है। मैंने यह भी बताया कि हिन्दुओं में व्यावहारिक कार्यशीलता और बहुत से उन पौरुष गुणों की कमी है जिनको हम लोग बढ़कर मानते हैं; किन्तु उनमें मानसिक उद्योगी सम्बन्धी कुछ दूसरे विशिष्ट गुण हैं और वे हैं—ईश्वराधना एवं परमार्थ। इस विषय की बहुतसी बातें जिनका हमें या तो ध्यान ही नहीं है या जिन्हें हम तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, हिन्दुओं से सीख सकते हैं।

चौथी बात यह है, कि कहीं मैंने वैदिक धर्म, वैदिक ज्ञान, और वैदिक दर्शन-शास्त्र के विषय में बहुत उच्च आशाएँ उत्पन्न न करदी हों, यह बतला देना भी अपना कर्तव्य समझा कि एक प्रकार से वैदिक धर्म आदि काल का अवश्य है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें उन मनुष्यों के शब्द हैं, जो तत्काल ही उत्पन्न हुए थे और जिन्हों ने पहले-पहल अपनी विस्मय-पूर्ण आंखों से इस अद्भुत संसार को देखा था। वेद आदि-काल का इस कारण कहा जाता है कि उससे पहले का लिखा हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है। किन्तु वेद की भाषा, उसकी पौराणिक कथाएँ, उसका धर्म और उसके दार्शनिक विचार

एक ऐसे प्राचीन समय को बताते हैं, जिसकी माप वर्षों द्वारा नहीं की जा सकती। वेद में सादे, स्वाभाविक और बच्चों के-से विचार हैं और उसके साथही साथ ऐसे विचार भी हैं जो आधुनिक मालूम होते हैं या जिन्हें मैं गौण कहता हूँ। साथ ही यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि ये विचार इतने पुराने हैं कि जिनके समान विचार किसी लिखे हुए ग्रन्थ में कहीं नहीं पाये जाते। इनसे हमें मनुष्य के विचारों के इतिहास में उस प्राचीन काल की यथार्थ सूचना मिलती है जिसके सम्बन्ध में हमें वेदों के प्राप्त करने के पहले कुछ भी हाल मालूम नहीं था।*

इतना कह देने पर भी अभी शंकाओं का समाधान पूरी-पूरी तरह नहीं होता। वेद को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानने में किसी किसी को शंकाएँ हैं। इनमें से कुछ शंकाएँ आवश्यक हैं और वे कभी कभी मुझे भी उठी हैं। अन्य शंकाएँ भी शिक्षाप्रद हैं और इनसे हमें उस भूमि की परीक्षा करने का अवसर मिलता है, जिस पर हम खड़े हैं।

पहली शंका तो यह है कि वेद ऐतिहासिक ग्रन्थ इस कारण नहीं है कि उसमें जातीय चरित्र का दृश्य नहीं है और उससे भारत वर्ष के सब मनुष्यों के विचार प्रकट नहीं

* यदि हम बेबलिन के बेलनों को और मिश्र के पेपीरी अर्थात् कागज़ों को साहित्य मानें तो हमें कहना पड़ेगा कि ऋग्वेद के दस मण्डलों में कोई भी सूक्त इतने प्राचीन नहीं हैं जितने कि ये बेलन और कागज़ हैं।

होते, प्रत्युत बहुत ही थोड़े मनुष्यों की बातें मालूम होती हैं और ये थोड़े मनुष्य ब्राह्मणों में भी वे ही ब्राह्मण जिनका व्यवसाय पूजा करना था।

जिन बातों का वर्णन ही नहीं किया गया उनके विषय में शंका करना अनुचित है। क्या उन लोगों ने, जो यह कहते हैं कि वेद में समस्त प्राचीन भारत वर्ष के मनुष्यों के विचार नहीं हैं, या जो यह कहते हैं कि बाइबिल में केवल यहूदियों के ही विचार हैं, या होमर में केवल यूनानियों के ही विचार हैं, कभी यह भी विचार किया है कि हम किस बात की खोज में हैं? वेदों में केवल भारत वर्ष के प्राचीन मनुष्यों में से केवल पुजारी-वर्ग के लोगों के विचार हैं। इस बात को अस्वीकार करने के बदले सच्चा इतिहासज्ञ येही शंकाएँ प्राचीन बाइबिल और होमर कृत काव्यों के विषय में पूछ सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि जब प्राचीन बाइबिल के अध्याय संकलित किए गए थे तो उनमें से अधिकांश अध्याय यहूदियों को ही मालूम थे। जब हम यहूदियों के आदि काल की अवस्था के विषय में कहना चाहें, अर्थात् यह मालूम करना चाहें कि मैसोपोटामियां अथवा मिश्र में जब ये लोग रहते थे तब इनकी मानसिक, नैतिक और धार्मिक अवस्था क्या थी? तो हमें मालूम होगा कि प्राचीन बाइबिल की भिन्न भिन्न पुस्तकों से हमें इनके सामाजिक भेद और व्यवस्थाओं के विषय में बहुत कम ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार होमर के काव्यों से यूनानी जातियों का और वेद की ऋचाओं से भारत वर्ष के निवासियों का हाल मालूम होता

है। जब हम यूनानी अथवा रोमन लोगों के इतिहास की चर्चा करते हैं, तब हम जानते हैं कि हमें इन इतिहासों में एक जाति के सामाजिक, मानसिक और धार्मिक जीवन का पूरा चित्र कभी नहीं मिल सकता है। हमें माध्यमिककाल की ही नहीं, प्रत्युत इस काल की ही किसी एक जाति के मानसिक जीवन का बहुत ही कम हाल मालूम है। हम सेनापतियों या प्रधान सेनापति का कुछ हाल भले ही जान सकें, किन्तु लाखों सैनिकों के जीवन के विषय में कुछ भी नहीं जान सकते। जो कुछ हाल हमें राजाओं से अध्यक्षों या मन्त्रियों का मालूम हुआ है, वह केवल उतना ही है जितना कुछ थोड़े से यूनानी कवियों अथवा यहूदी पैग़म्बरों ने अपने विचारानुसार बताया है और इन लोगों को अपने समकालीन मनुष्यों में ऐसा ही समझना चाहिए जैसे लाखों में एक मनुष्य की गणना करना। किन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि लिखने-वाले थोड़े थे, पढ़नेवाले तो बहुत थे। क्या, बात ठीक ऐसी ही है? मुझे विश्वास है कि मेरी बात को सुनकर आप को आश्चर्य होगा कि आज कल के समय में भी पढ़नेवालों की संख्या बहुत कम है। फिर, प्राचीन समय में जब पढ़ने का अधिकार थोड़े ही लोगों को था तब तो संख्या बहुत ही कम थी। हाँ, यह हो सकता है कि सार्वजनिक और घरेलू उत्सवों के अवसर पर, यज्ञों के समय, और पीछे नाटकघरों में सुननेवाले कितने ही अधिक हों, किन्तु जिन्हें हम पढ़नेवाले कह सकते हैं, वे अभी थोड़े ही दिनों से देखने में आ रहे हैं।

पढ़ने का प्रचार जितने विस्तृत क्षेत्र में आज कल पाया जाता है, उतना कभी नहीं था। यदि आप पुस्तक

प्रकाशक से पूछें कि उन पुस्तकों की कितनी प्रतियाँ बिकी हैं जिन पुस्तकों के विषय में हम समझते हैं कि इनको सभी ने पढ़ा होगा;—जैसे मैकाले का लिखा हुआ इंग्लैण्ड का इतिहास, प्रिन्स कन्सोर्ट का जीवन-चरित्र, अथवा डारविन की जीवोत्पत्ति। तो, आपको मालूम होगा कि तीन करोड़ बीस लाख मनुष्यों की जन-संख्या में से दस लाख मनुष्यों के पास भी ये पुस्तकें नहीं मिलेंगी। हाल ही में जिस पुस्तक की सबसे अधिक बिक्री हुई है वह है न्यूटेस्टामेन्ट का नवीन संस्करण। किन्तु बिक्री की संख्या आठ करोड़ अंग्रेज़ी बोलने वाले मनुष्यों के बीच में चालीस लाख से अधिक नहीं है। सामयिक पुस्तकें जिन्हें हम समझते हैं कि बहुत अधिक बिकती हैं उनके विषय में यह हाल है कि यदि उनकी तीनचार हज़ार प्रतियाँ बिक जायँ तो इंग्लैंड में कोई भी लेखक या प्रकाशक ऐसा नहीं, जो उसे असन्तोष-दायक समझे। यदि आप दूसरे देशों की ओर देखें, उदाहरणतः रूस, तो ऐसी पुस्तकों के नाम बताना बड़ा कठिन होगा जो समस्त मनुष्यों के विचारों को बताने वाली समझी जायँ, अथवा ऐसी पुस्तकें जिन्हें थोड़े मनुष्यों के सिवा और कोई जानता हो।

यदि हम यूनान और इटली अथवा ईरान और बैविलोनिया की प्राचीन जातियों की ओर ध्यान दें तो कदाचित् होमर के काव्यों के सिवा और कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जिसके विषय में हम यह कह सकें कि हज़ार मनुष्यों ने इसे पढ़ी या सुनी है। हम यूनानियों और रोम वालों को शिक्षित मनुष्य समझते हैं और यथार्थ में वे थे भी शिक्षित,

किन्तु कुछ दूसरे ही रूप में। जिन्हें हम यूनानी और रोमन कहते हैं, वे विशेष कर ऐथिन्स और रोम के रहने वाले मनुष्य थे। इनमें ऐसे लोग बहुत कम थे जो प्लेटो के डाइलाग्स अथवा हारेस की ऐपीसिल्स पढ़ सकते हों, या इनके सदृश ग्रन्थ लिख सकते हों। जिसे हम इतिहास कहते हैं, अर्थात् प्राचीन काल का स्मारक वह सदा थोड़े ही मनुष्यों का कार्य रहा है। लाखों मनुष्य यों ही जीवन व्यतीत कर देते हैं, पर ऐसे बहुत ही कम होते हैं, जो अपने स्वाभाविक विशेष विचारों और भावनाओं को सुन्दर रीति से अपने समय का स्मारक बना जाते हैं।

जब हम उस प्राचीन काल की खोज करते हैं, जब कि ऋग्वेद बना था और भारतवर्ष बहुत से भागों में विभक्त था, तो हमें थोड़ा ही विचार करने पर मालूम हो जाता है कि वेद में हम केवल थोड़ी सी हिमाच्छादित शिखरों का दृश्य देखते हैं जो हमें बहुत दूर से एक ऐसी जाति की विशाल पर्वत-श्रेणियों का पता बताते हैं जो इतिहास की दृष्टि से सर्वथा लोप हो गई हैं। जब हम वेद के तीन हज़ार वर्ष पहले के भारतवर्ष का धर्म, उसके विचार और रीति व्यवहार के विषय में कहते हैं तो हम भारतवर्ष को एक अज्ञात संख्या के समान जानते हैं, जिस अज्ञात संख्या का जाना हुआ अंश केवल वेद के ऋषि हैं। आज कल जिस भारतवर्ष के विषय में हम कहते हैं उस भारतवर्ष में २५ * करोड़ आदमी रहते हैं, जो समस्त

* अब भारत की जन संख्या ३३ करोड़ है।

मनुष्य जाति का ६ वाँ भाग है। वे अब ऐसे प्रायद्वीप में रहते हैं जो सिन्धु और गंगा नदियों के बीच होकर हिमालय के पर्वतों से लेकर कन्या कुमारी और लंका तक फैला हुआ है तथा विस्तार में योरप के बराबर है। वेद में अंकित प्राचीन राजाओं और कवियों के जीवन चरित्र का हाल केवल सिन्धु और पञ्जाब की घाटी के मध्य का है। पञ्जाब का नाम सप्त सिन्धव है अर्थात् वैदिक ऋषियों की सात नदियों की भूमि। जिस भूमि में गङ्गा बहती है वह उन्हें नहीं मालूम थी और न उन्हें दक्षिण का ही कोई भाग मालूम था।

जब हम यह कहते हैं कि वेदों की ऋचाएँ थोड़े से ब्राह्मणों की बनायी हुई हैं और समस्त देश की जाति के उद्गार' नहीं हैं, तो इसका क्या अभिप्राय है? यदि हम इन प्राचीन ऋषियों को पुजारी कहें तो अनुचित नहीं है; क्योंकि उनकी कविता में केवल धार्मिक, पौराणिक और दार्शनिक भाव ही नहीं व्याप्त हैं; किन्तु उसमें यज्ञ और अनुष्ठान सम्बन्धी विषय भी वर्णित हैं। यदि हम पुजारी शब्द के पिछले इतिहास को देखें तो मालूम होगा कि उसका अर्थ एक प्रधान मनुष्य या नेता कहा गया है। और इस रूप में वैदिक ऋषियों को अपनी समस्त जाति की तथा अपने ग्राम की ओर से बोलने का अधिकार था। आप चाहें तो वशिष्ठ को एक पुजारी कहें किन्तु हमें उनके विषय में यह विचार नहीं करना चाहिए कि वे कार्डिनैल मैनिंग के समान थे।

जितने तर्क-वितर्क हो सकते हैं और जिनमें अधिकांश कपोल कल्पित हैं, उन सब के पक्ष में जहाँ तक कहा जा सकता था, कह दिया; किन्तु यह प्रधान बात रह जाती है कि

ऋग्वेद में हमें ऐसी कविताएँ मिलती हैं जो निर्दोष भाषा में विविध छन्दों में की गई हैं। इस से हमें देवता और मनुष्य, यज्ञ और युद्ध, प्रकृति के विभिन्न स्वरूप और समाज की परिवर्तनशील दशाएँ, कर्तव्य और आनन्द-भोग, दर्शन शास्त्र और नीति-धर्म, इन सब ही का हाल मालूम होता है और यह हाल एक ऐसे प्राचीन समय का मालूम होता है जिसका पहले हमें कुछ भी ज्ञान न था। इस आश्चर्यजनक आविष्कार पर हार्दिक प्रफुल्लता प्रकट करने के स्थान पर कुछ समालोचक दूर रह कर सिवा दोष-दर्शन के कुछ नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि इन वैदिक ऋचाओं से आदि काल के मनुष्यों का तो हाल मालूम ही नहीं होता। ये पपूवास अथवा बुशमैन के समान नहीं हैं, इनकी जंगली आदतें और अर्द्ध पाशविक बोलियाँ नहीं हैं। न ये ईंट पत्थरों को ही पूजते और न उनमें विश्वास ही करते, जैसा कि कूँट के मतानुसार इन मनुष्यों को करना चाहिए। यह कहना पड़ता है कि ये ऐसे मनुष्य हैं जिनके साथ हम कुछ सहानुभूति कर सकते हैं और जिनको हम मानवी बुद्धि की ऐतिहासिक उन्नति में प्राचीन यहूदी और यूनानियों से बहुत पीछे स्थान नहीं दे सकते। यदि हम प्राथमिक काल के मनुष्यों से उन मनुष्यों को समझें जो पृथ्वी पर पहले ही पहल हुए, अर्थात् उस समय जब कि बर्फ़ हट जाने से पृथ्वी मनुष्यों के रहने योग्य हो गई थी; तो वैदिक ऋषि निश्चय ही ऐसे मनुष्य नहीं हैं। यदि प्राथमिक काल के मनुष्यों से हमारा अभिप्राय ऐसे मनुष्यों से है, जिन्हें अग्नि का परिचय नहीं था, जो बिना घिसे चकमक पत्थरों

को काम में लाते थे, जो कच्चा मांस खाते थे, तो निस्सन्देह वैदिक ऋषि ऐसे आदिकालीन नहीं थे। यदि प्राथमिक कालके मनुष्यों का हम यह अर्थ लेते हैं कि जो पृथ्वी को जोतना-बोना नहीं जानते थे, जिनके रहने के मकान नहीं थे, जिनमें राजा नहीं थे, जो यज्ञ करना नहीं जानते थे और जिनमें धर्म शास्त्र नहीं थे, तो मैं फिर कहूँगा कि वैदिक ऋषि ऐसे आदि काल के मनुष्य नहीं थे। किन्तु यदि प्राथमिक काल के मनुष्यों से ऐसे मनुष्यों से हमारा अभिप्राय है, जो आर्य-जाति के ऐसे पहले मनुष्य थे, जो पृथ्वी पर अपने जीवन-काल के विषय में साहित्यिक ग्रन्थों के कुछ अंश छोड़ गये हैं; तो मैं कहूँगा कि वैदिक ऋषि आदिकालीन मनुष्य थे, वैदिक-भाषा प्रथमकालीन भाषा थी, वैदिक धर्म प्रथमकालीन धर्म था। और सभी बातों को सोच-विचार कर यही कहा जा सकता है कि मनुष्य जाति के समस्त इतिहास में जो कुछ भी हम और नई बातें मालूम कर सकते हैं, उन सब में पहले की बातें यही हैं जो हमें वेदों से मालूम हो सकती हैं।

जब सब शंकाएँ निष्फल प्रमाणित हुईं, तब अन्त में यह चाल चली गई कि यदि प्राचीन वैदिक कविता विदेशीय उत्पत्ति की नहीं है तो कम से कम यह बात तो अवश्य है कि उस पर विदेशीय, विशेष कर, सेमिटिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। संस्कृत पण्डितों ने इस बात को सर्वदा कहा है कि हमारे वैदिक साहित्य की यही तो प्रधान विलक्षणता है कि उससे हमें अपने धार्मिक विचारों के अत्यन्त प्राचीन रूप की

झलक ही नहीं मालूम पड़ती है, किन्तु वैदिक धर्म ही ऐसा है जिसके बनने और विकास होने में अन्य देशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है और जिसके विकास-क्रम का पता अन्य किसी धर्म की अपेक्षा अनेक शताब्दियों तक लगा सकते हैं। तब, पहली बात के उत्तर में मैं यह कहता हूँ कि प्राचीन रोम के धर्म में यह भेद बताना कि उसमें इटली और ग्रीक, प्रत्युत एट्रस्कैन और फोनीसियन बातों का कितना मेल है और उनका कितना प्रभाव है, अत्यन्त कठिन है। यूनानियों के धर्म में यह बात खोज निकालना कि केवल यूनान का धर्म कितना है और उसमें मिश्र, फोनीसिया और सीरिया के धर्मांश कितने मिल गये हैं अथवा इन विदेशी विचारों का इस पर कितना प्रभाव पड़ा है, बड़ी कठिन बात है। यहूदी धर्म तक में बेबीलोनियन, फौनीसियन और पीछे से ईरानी धर्म का प्रभाव पड़ना सिद्ध हुआ है और ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों हमें विचारों का मिश्रण होना और भी अधिक मालूम होता जाता है; अतएव यह बतलाना कि संसार के सार्वजनिक मानसिक विचारों में प्रत्येक जाति का कितना कितना भाग है, अत्यन्त कठिन है। केवल भारतवर्ष में ही और विशेष कर वैदिक भारतवर्ष में हम एक पौधा को सर्वथा देशी भूमि पर उत्पन्न हुआ और सर्वथा देशी वायु से ही परिवर्धित हुआ देखते हैं। इस कारण, क्योंकि वैदिक धर्म विदेशीय प्रभावों से सर्वथा सुरक्षित है, वेद से ऐसी शिक्षाएँ मिल सकती हैं, जो धार्मिक शिक्षार्थी को और कहीं से नहीं प्राप्त हो सकतीं।

अब सुनिए, वैदिक साहित्य के छिद्रान्वेषी इस विषय में क्या कहते हैं ? वे कहते हैं, कि वेदों में बेबीलोनिया देशके प्रभावों के चिन्ह मिलते हैं। इस विषय को मैं कुछ विस्तार-सहित बतलाना चाहता हूँ। यद्यपि ये बातें विशेष महत्व की नहीं हैं, तथापि इनका परिणाम बड़ा प्रभावशाली है। ऋग्वेद में एक ऋचा है (८ वाँ मं०, ७८। २) जिसका अनुवाद यह किया गया है,—हे इन्द्र, हमें उज्वल रत्न, गाय, घोड़ा, आभूषण और सुवर्ण का 'मना' दो।

सुवर्ण का 'मना' क्या है ? यह शब्द न तो वेद ही में फिर आया है और न और ही कहीं मिलता है। इसकी वैदिक विद्वानों ने लैटिन के मीना, ग्रीस के एक सिक्का और फोनेसिया के मना से तुलना की है। ये वे सिक्के हैं जो हमें बेबीलोनिया और निनेवा स्थानों से मिले हैं और ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखे हुए हैं *। यदि ये दोनों सिक्के एक ही हैं तो अति प्राचीन समय में भारतवर्ष और बेबिलोनिया में व्यापारिक-सम्बन्ध होने का एक सबल प्रमाण मिलता है, चाहे इससे यह बात प्रमाणित न हो कि भारतीय विचारों पर सैमिटिक जाति का प्रभाव पड़ा है। किन्तु क्या यह बात वास्तव में ऐसी ही है ? यदि हम 'सका मना हिरण्यया' का सोने के मीना

* ब्रिटिश म्यूज़िम में जो सिंह और बरक रूपी बाँट धरे हैं, उन के देखने से असीरिया का मीना तोल में ७७४७ ग्रेन के होता है। यही अन्तर आज तक भी है, क्योंकि शीराज और बगदाद का मन तबरेज़ और बुशिर के मन से ठीक दूना है। पहले का वज़न १४,० है, और दूसरे का ६, ९८५ है।

से अनुवाद करते हैं, तो हमें 'मना हिरण्यया' को करण कारक में मानना पड़ेगा। किन्तु 'सका' कभी करण कारक से सम्बन्ध नहीं रखता है। इसलिए यह अनुवाद असम्भव सा है। यह वाक्य कठिन है, क्योंकि मना शब्द फिर ऋग्वेद में कहीं नहीं मिलता है। मेरी सम्मति में 'मना हिरण्यया' को द्विवचन समझना चाहिए और इस वाक्य का अनुवाद यह होता है कि हमें दो सोने के भुजबन्ध भी दो। यह मान लेना कि वैदिक ऋषियों ने इस शब्द को और इस माप को बैबीलोनियां वालों से ले लिया है, तो यह बात ऐतिहासिक समालोचना के नियमों से विरुद्ध होगी। मना शब्द समस्त संस्कृत साहित्य में फिर कहीं नहीं आया है और न उसमें बबीलोनियां देश के माप का और कोई शब्द आया है। यह बात समझ में नहीं आती कि जो ऋषि गौ और घोड़े की प्रार्थना कर रहा है, वह उसी समय एक विदेशीय सोने के सिक्के की प्रार्थना क्यों करेगा जो लगभग ६० पौंड के होता है।

बैबीलोनियां का प्रभाव केवल इस शब्द के द्वारा ही नहीं बतलाया जाता, प्रत्युत यह भी कहा जाता है कि भारतवर्ष में चन्द्र-राशि चक्र के सत्ताईस नक्षत्र भी बैबीलोनियां से आये हैं। पहली बात तो यह है कि बैबीलोनियां का राशिचक्र सौर्य था और दूसरे, बार बार खोज करने पर भी बैबीलोनियां लिपि-लिखित लेखों में चन्द्र-राशि-चक्र का कहीं चिन्ह नहीं मिला है, यद्यपि और-और बहुत सी बातें मिली हैं। मान भी लो, कि बैबीलोनियां में चन्द्र-राशि-चक्र

का आविष्कार कर लिया गया था, किन्तु तब भी, जो कोई वैदिक साहित्य अथवा प्राचीन वैदिक कर्म-काण्ड को जानता है, वह यह मानने को तैयार नहीं हो सकता कि हिन्दुओं ने आकाश को साधारण भागों में विभक्त करना वैबीलोनियां से सीखा हो! यह बात भलीभांति मालूम है कि वेद के अधिकांश यज्ञ सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। जैसे बाइबिल के भजन लिखने वाले ने कहा है कि उस (ईश्वर) ने चन्द्रमा को ऋतुओं के लिये नियुक्त किया है।और सूर्य अपने अधोगमन को जानता है, वैसे ही हम ऋग्वेद की एक ऋचा में * जो सूर्य और चन्द्रमा की स्तुति में कही गई हैं, यह पढ़ते हैं, वे अपने बल से एक दूसरे के पीछे (अथवा पूर्व से पश्चिम को) घूमते हैं, जैसे खेलते हुए लड़के यज्ञ के चारों ओर घूमते हैं। एक तो अर्थात् सूर्य समस्त लोगों पर दृष्टि डालता है और दूसरा अर्थात् चन्द्रमा बार बार उत्पन्न होकर ऋतुओं का नियम बाँधता है। जब-जब वह उत्पन्न होता है, तब-तब वह नया होता है। दिनों के हरकारे के समान वह उषाकाल के समय जाता है, वह अपने आगमन से देवताओं के लिए उनके भागों का नियम बाँधता है, चन्द्रमा आयु की वृद्धि करता है।

चन्द्रमा ऋतुओं का नियम निर्धारण करता है, समस्त देवताओं के यज्ञ-भागों का निर्णय करता है। प्राचीन हिन्दुओं के विचारों में ऋतु और यज्ञ का ऐसा गाढ़ सम्बन्ध था कि उनके पुजारी का साधारण नाम ऋत्विक् था, अर्थात् ऋतु पर यज्ञ कराने वाला।

* (मं० १०, ८५, १८।१९)

नित्य-प्रति की क्रियाओं के सिवा अर्थात् पञ्च महा यज्ञ में और प्रातःकाल एवं सायंकाल में अग्नि-होत्र करने के सिवा, पूर्णमासी और अमावास्या के दिन दर्श पूर्ण-मास श्राद्ध,* चतुर्मास श्राद्ध और अर्द्ध वार्षिक यज्ञ भी जो सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायण होने के समय होते हैं, आवश्यक थे। इनके अतिरिक्त और यज्ञ आग्रायनादि भी होते हैं, जिनमें से कुछ वसन्त और ग्रीष्म में, कुछ शीत और शिशिर में होते हैं जब धान्य पकने पर आते हैं।

ऋतु-नियन्त्रण, जो एक प्रारम्भिक काल के समाज में आवश्यक बात है और ऋतु-पालक तथा शान्ति और न्याय के रक्षक देवताओं की उपासना का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। ऐसी दशा में यह बतलाना कठिन है कि यज्ञों के लिए तिथिसूचक पत्रे का रखना अथवा देवताओं का पूजन करना, प्राचीन वैदिक पुजारियों के मन में अधिक प्रधान था।

सत्ताइस नक्षत्रों की उत्पत्ति चन्द्रमा की चाल से हुई है। दिन, मास अथवा ऋतुओं की गणना के लिए चन्द्र-कक्षा में आकाश के कोई भी स्थान से लेकर फिर उसी स्थान तक सत्ताइस स्थानों को निश्चित कर लेना एक स्वाभा-

* वैश्वदेव फाल्गुण की पूर्णमासी को, वरुण प्रघासा आसाढ़ की पूर्णमासी को, और साक-मेध कार्तिक की पूर्णमासी को होता है।

विक बात थी। सूर्य की चाल को दिन-प्रतिदिन अथवा मास-प्रतिमास निश्चय करना कठिन था, क्योंकि जब सूर्य उदय और अस्त होता है, उस समय तारागण कठिनाई से दिखाई देते हैं; और सूर्य का सम्बन्ध कुछ तारों से भी है। यह बात किसी साधारण देखने वाले के ध्यान में नहीं आ सकती। इसके विपरीत, चन्द्रमा प्रति रात्रि को बढ़ता हुआ और एक के पीछे एक कुछ तारकों से सम्पर्क करता हुआ आकाश-डायल पर चारों ओर घूमती हुई, एक के पीछे एक अङ्क का सम्पर्क करती हुई घड़ी की सुई के समान है। उस समय के स्थूल और सीधे गणितज्ञों के मन में इस का भ्रम भी नहीं हो सकता था कि एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक सत्ताइस नक्षत्रों के सिवा चन्द्र-राशि के तृतीयांश भाग की भी गणना करनी है। उन्हें केवल इन सत्ताइस नक्षत्रों के स्थान का, जो चन्द्रमा की गति से मालूम हो गये थे, ज्ञान करना था। ये स्थान मील के पत्थरों के समान थे, जिन से आकाश के सब चलते हुए तारों की गति, ऋतु, दिन और वर्ष विषयक नियमों का निर्णय हो सकता था। किसी वृत्त के सत्ताइस भाग कर लेने अथवा किसी घर के चारों ओर सत्ताइस बाँस वृत्ताकार समान दूरी पर गाड़ देने से प्राचीन वैदिक ग्रह-शाला का काम चल सकता था। जो कुछ मालूम करना था, वह इतना ही था कि किन दो बाँसों के बीच में चन्द्रमा, अथवा सूर्य भी उदय और अस्त होने के समय दिखाई देता है। दर्शक प्रत्येक दिन उन्हीं बाँसों के बीच के स्थान में बैठा रहता था।

यदि हम यह समझने लगें कि दिन, ऋतु और वर्षों की गणना कैसे प्रारम्भ हुई तो हमें ज्योतिष-शास्त्र का कुछ-कुछ ज्ञान होने लगेगा। आजकल जितना कि एक भेड़ चराने वाला सूर्य-चन्द्रमा और तारों के विषय में जान सकता है, उतना उन दिनों के मनुष्यों को जानना असम्भव था। जब तक उस समय के प्रारम्भिक समाज पर किसी आकाश सम्बन्धी घटना का प्रभाव नहीं पहुँचा था, तब तक अन्य आकाशीय बातों के विषय में और विशेष जानना हम उनसे आशा नहीं कर सकते।

हम भारतवर्ष में यह बात देखते हैं कि आकाश को बराबर के सत्ताइस भागों में स्वाभाविक रीति से विभक्त किया है और प्रत्येक भाग में कुछ तारों का स्थान बताया है। इन तारों को इस प्रकार से काम में लाने से पहले वे देख लिए जातेथे और नामाङ्कित कर दिये गये थे। यदि हम इस बात को समझलें कि भारतवर्ष में चान्द्र राशियाँ चान्द्र मास और चान्द्र ऋतुओं का ज्ञान हिन्दुओं के कर्म-काण्ड-सम्बन्धी- क्रियाओं से कितना सम्बन्ध रखता था, तो यह बात सहज ही में समझ में आजायगी कि वेद के समय के गड़रिये और पुजारी एक ऐसी बात जानने के लिए जो सिन्धु नदी के किनारे पर जानी जा सकती थी, बैबीलोनियां को क्यों जाते; और उस देश से लौट कर जिसमें ऐसी भाषा बोली जाती थी कि कोई हिन्दू नहीं समझ सकता था! वे अपने वैदिक मंत्रों की रचना और सामान्य-यज्ञादि-क्रियाओं की व्यवस्था क्यों करते! जो बात एक स्थान पर स्वाभाविक

है, वह दूसरे स्थानों में भी स्वाभाविक होती है। किसी प्रकार के विरोध-भय की चिन्ता न करते हुए, हम यह कह सकते हैं कि हिन्दुओं की वे ज्योतिष-सम्बन्धी प्रारम्भिक बातें जो वेद में मिलती हैं या उनमें मिलने की सम्भावना की जाती है, कहीं बाहर से आई हुईं प्रमाणित नहीं होती हैं।

यह बात अच्छी तरह मालूम है कि अरब देश के रहने वाले भी अट्ठाइस मंज़िलें मानते हैं। मैं कोई कारण नहीं देखता कि मुहम्मद साहब और उनके जंगल में रहने वाले बद्दू लोग भारतवर्ष के वैदिक ऋषियों के समान इन बातों को स्वयम् देख कर क्यों नहीं निकाल सकते थे। किन्तु, मैं यह भी मानता हूँ कि कोलब्रुक साहब ने बड़े प्रबल प्रमाण इस बात को प्रमाणित करने के लिए दिये हैं कि अरबों की मंज़िलों का वैज्ञानिक रूप भारतवर्ष ही से लिया गया था।

इसी प्रकार चीन वालों के यहां भी चौबीस नक्षत्र हैं, जिन्हें स्यू कहते हैं। इनकी संख्या पीछे से अट्ठाइस करदी गई है। वियोटलेसिन और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि हिन्दुओं ने चीन में जाकर अपने ज्योतिष सम्बन्धी विचारों को सीखा है। इस बात के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पहले तो यह बात है कि चीनियों ने चौबीस से प्रारम्भ करके उनकी संख्या अट्ठाइस करदी। हिन्दुओं ने सत्ताइस से प्रारम्भ करके उन्हें फिर अट्ठाइस करा दिये। दूसरी यह बात है कि इन अट्ठाइस में से सत्रह ऐसे हैं जो हिन्दुओं के तारों से मिलते हैं, यदि कोई वैज्ञानिक पद्धति कहीं से ली

जाती है तो वह पूरी ली जाती है इसके सिवा मैं इस बात को भी देखता हूँ कि कोई ऐसा साधन नहीं था, जिससे ईसा के हज़ार वर्ष पहले हिंदुस्तान में चीन-ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान आ सकता हो। चीन के साहित्य में भारतवर्ष सम्बन्धी कोई उल्लेख ऐसा नहीं है, जो ईसा के दूसरी शताब्दि के पहले के मध्य भाग से पूर्व का हो और यदि पिछले संस्कृत साहित्य में 'कीनस' चीन से सम्बन्ध रखने के अर्थ में आया है, जो कि संशय युक्त है तो, यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह शब्द वैदिक साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता है। *

जब लोगों ने यह बात मानली कि भारतवर्ष और चीन का ऐसी बातों में सम्बन्ध बताना असम्भव है, तब एक नया सिद्धान्त निश्चित हुआ कि चीन का ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान वहां से सीधा भारतवर्ष में नहीं आ गया था, किन्तु यह ज्ञान, जिसमें चीन वालों ने आकाश के अट्ठाइस

* महा भारत और अन्य ग्रन्थों में चीन वालों को उत्तर और भारत के पूर्व में अनार्य अथवा दस्यु माना है। कहा जाता है कि भगदत्त राजा के पास चीन वालों और किरातों की सेना थी, और यह भी लिखा है कि पाण्डव किनास, तुखारस और दर्दश देशों में होकर कलिन्दास लोगों के राजा के नगर में पहुँचे थे। भारतवर्ष के पिछले काव्यों में जाति सूचक जैसी अनिश्चित बातें मिलती हैं, वैसी यह भी हैं। इन से कोई सन्तोषदायक अनुमान नहीं निकलता है। हाँ, निश्चयात्मक बात यह तो मिलती है कि किरात और कीन सैनिकों को कणाकन कहते थे, जिसका अर्थ है सुवर्ण अथवा पीत रंग का और जो कर्णिकारों के वन के तुल्य थे। महाभारत में चीनियों का नाम कम्बोज़

भाग किये थे, पश्चिमी एशिया में ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पहले पहुँच गया था और इसे पश्चिम की रहने वाली जाति सैमिटिक अथवा ईरानियन ने सीख लिया था। इन ने इसका एक नया रूप बनाया और इस रूप में वह कुछ-कुछ वैज्ञानिक-निरीक्षण की पद्धति का हो गया। सीमा के तारों को राशि-विभाग में परिणत किया और इन में से कुछ तारों के स्थानों को सूर्य चन्द्र की गति के मार्ग के अधिक सानिध्य में रख दिया। इस परिणत रूप में ग्रहों की चाल और उनका स्थान कुछ कुछ नियम बद्ध हो जाने पर यह ज्ञान हिन्दुओं को प्राप्त हुआ। इसके साथ ही साथ ग्रह सम्बन्धी प्राथमिक बातें भी उन्हें मालूम हो गईं। इस ज्ञान को अपने स्वतंत्र विचारों से भारतवर्ष ने बढ़ाया। यह ज्ञान अभी तक अपने प्राचीन स्थान में भी कुछ बाकी रहगया, और उसके चिह्न अभी पिछले समय तक बुन्दहीश में भी मिलते रहे। यह ज्ञान पश्चिम की ओर बढ़ते-बढ़ते अन्त में अरब के रहने

और यवनों के साथ आया है इससे कुछ मतलब नहीं निकलता है। चीन देश के विद्वान् कहते हैं कि चीन नाम आधुनिक समय का ही है। ईसा से २४७ वर्ष पहले प्रसिद्ध शी-होंगटी सम्राट् या थाशि-राज्य वंश के समय से यह नाम प्रचलित हुआ है। किन्तु, लेसिन साहब के कथनानुसार यह नाम इससे पहले के लेखों में भी मिलता है और चीन के पश्चिम रहने वालों को मालूम हो गया था। यह आश्चर्य की बात है कि बाइबिल के इसाही पर्व (४६-१२) में जो सिनिम शब्द आया है उसका अर्थ भी भाष्यकारोंने चीन के मनुष्यों का समझा है, जो व्यापार और यात्रा के लिए बैबिलन में आया करते थे।

वालों को प्राप्त हुआ और उनने इसे अपना लिया। जिन लोगों का यह मत है उनकी ज्योतिप-सम्बन्धी विद्वत्ता का आदर करता हुआ मैं कहता हूँ कि यह एक बिलकुल नई बात है और इसके समर्थन में कोई प्रमाण भी नहीं है। जो कुछ थोड़े बहुत प्रमाण मिलते हैं उनके आधार पर कोई सावधानता से विचार करने वाला उन सिद्धान्तों के आगे नहीं बढ़ सकता जो कोलब्रुक साहब ने कितने ही वर्ष हुए, निकाले थे। वे सिद्धान्त ये हैं:—प्राचीन समय में हिन्दुओं ने ज्योतिष-शास्त्र में कुछ उन्नति की थी और इसकी आवश्यकता उन्हें समय निश्चित करने के लिए हुई थी। इनके पञ्चाङ्ग में केवल सूर्य और चन्द्रमा की गति की व्यवस्था नहीं है, इन ग्रहों की चालों को उन्होंने बड़ी सावधानी से देखा था और इस कार्य में उनको ऐसी सफलता प्राप्त हुई थी कि जो गति उनने चन्द्रमा की निश्चित की है जिस की आवश्यकता उन्हें अधिक थी, वह यूनान वालों की ज्योतिप सम्बन्धी चाल से कहीं अधिक शुद्ध है। उनने सत्ताइस और अट्ठाइस नक्षत्र माने थे और इन नक्षत्रों का ज्ञान उन्हें प्रतिदिन चन्द्रमा के घूमने से हुआ था। यह आविष्कार उन्हीं का है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरब वालों ने इस आविष्कार को उनसे सीखा था।

वैदिक साहित्य पर बैबीलोनियाँ देश अथवा सेमेटिक जाति का प्रभाव पड़ने के विषय में एक और शङ्का है, उसका समाधान इस प्रकार से है। इस शङ्का का सम्बन्ध बाइबिल में वर्णित महाप्रलय की कथा से है।

यह कथा बहुत सी जातियों की प्राचीन कहावतों में मिलती है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी नकल

सब जातियों ने एक दूसरे से की हो ? यह बात आश्चर्य की है कि वैदिक मन्त्रों में किसी स्थानीय प्रलय के विषय में भी कोई उल्लेख नहीं है और, यह बात इसलिए विशेष खटकती है कि बाद के इतिहास-पुराणों में प्रलय-काल के सविस्तार विवरण दिये हैं । भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र में इसकी परम्परा भली-भाँति ज्ञात है ।

विष्णु के तीन अवतारों का—मत्स्य, कूर्म और वराह—सम्बन्ध प्रलय से है । यानी, प्रत्येक अवतार में विष्णु ने मत्स्य, कूर्म अथवा वराह रूप धारण कर मनुष्यों को जल से नष्ट होने से प्रलय से बचाया है ।

यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि जब भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन साहित्य में प्रलय सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है, तो प्रलय-सम्बन्धी कथा कहीं बाहर से पिछले समय भारतवर्ष में आई होगी ।

जब वैदिक साहित्य अच्छी तरह पढ़ा जाने लगा, तब उसमें प्रलय-सम्बन्धी कथाएं भी मिलने लगीं । ये कथाएँ संहिता-भाग में तो नहीं हैं, किन्तु दूसरे काल के जो कि ब्राह्मण-काल के नाम से प्रसिद्ध है गद्य लेखों में अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थों में हैं । इनमें केवल मनु और मत्स्य की कथा नहीं निकली है किन्तु कूर्म और वराह की कथाएँ भी किसी न किसी रूप में मिल गई हैं । और जब ये कथाएँ मिल गईं, तो उनका बाहर से आने का मत बहुत कुछ निर्मूल हो गया । शतपथ ब्राह्मण में प्रलय-सम्बन्धी वर्णन मिलते हैं, उनमें से एक का वर्णन में

करूँगा। तब आप स्वयं विचार कर सकेंगे कि इन वर्णनों में और जो प्रलय-सम्बन्धी वर्णन बाइबिल में मिलते हैं, उनमें क्या ऐसी समता है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि हिन्दुओं ने प्रलय-काल का वर्णन अपने पास की सेमेटिक जाति से लिया है। शत-पथ ब्राह्मण के पहले खण्ड और ८ वें अध्याय में हमें यह वर्णन मिलता है:—

प्रातःकाल में वे मनु के पास हाथ धोने के लिए जल लाये, जैसे कि वे आज कल भी हमारे हाथ धोने के लिए जल लाते हैं। जब वे हाथ धो रहे थे, तब उनके हाथ में एक मछली आगई।

२—मछली ने मनु से कहा, मेरी रक्षा करो मैं आपकी रक्षा करूंगी। मनु ने पूछा, 'तू मेरी रक्षा किससे करेगी?' मछली ने उत्तर दिया, 'एक प्रलय-काल का ऐसा तूफ़ान आवेगा, जो समस्त जीवों को बहा ले जावेगा, किन्तु मैं उससे आपकी रक्षा करूंगी'। मनु ने कहा कि तू किस प्रकार रक्षित की जा सकती है?

३—मछली ने उत्तर दिया कि जब तक हम अत्यन्त छोटी रहती हैं, तब तक हमें नाश होने का भय रहता है क्योंकि मछली मछली को निगल जाती है। अतएव तुम मुझे पहले एक बर्तन में रक्खो, जब मैं बर्तन से बड़ी हो जाऊँ और उसमें न समाऊँ, तब एक गढ़ा खोद कर मुझे उसमें रख देना। और जब मैं उस गढ्ढे से भी बड़ी हो जाऊँ तब मुझे समुद्र में डाल देना। फिर मुझे मारे जाने का कोई भय नहीं रहेगा। मनु ने ऐसा ही किया।

४—वह बहुत शीघ्र बढ़ी क्योंकि ऐसी मछली (झष) बहुत शीघ्र बढ़ती है । तब उसने कहा कि प्रलय अमुक वर्ष में होगा । इसलिए जब तुम एक नौका तैयार करलो, तब मेरा ध्यान करना । और जब प्रलय-जल बढ़ने लगे, तब तुम नौका में बैठ जाना और मैं तुम्हें तूफ़ान से बचाऊँगी ।

(५) मछली को उसी प्रकार रखकर मनु उसे समुद्र में लेकर छोड़ आये । जिस वर्ष में मछली के कहने के अनुसार प्रलय आने वाला था, मनु ने एक नौका तैयार की और मछली का ध्यान किया । जब प्रलय का जल बढ़ा, तब मनु नौका में बैठ गये । मछली उनकी ओर पहुँची और मनु ने नौका की रस्सी मछली के आगे के भाग में बांध दी और वह उत्तरी पर्वत की ओर तीव्र वेग से चली ।

६—मछली ने कहा मैंने तुझे बचा लिया । जहाज़ को वृक्ष से बांध दे, जब तक तू पहाड़ पर है इस बात को देख कि पानी से अलग न हो जाय । जब पानी उतरने लगे तो तू भी धीरे धीरे सरकता आ । तब मनु पानी के साथ धीरे धीरे नीचे की ओर सरकता गया । इस लिए उत्तरी पहाड़ पर यह स्थान मनु के सरकने का स्थान कहलाता है । प्रलय का जल सब जीवों को बहा लेगया अकेला मनु ही बच रहा ।

तब, मनु स्तुतियां गाता हुआ इधर उधर फिरने लगा और उसने संतानोत्पत्ति की इच्छा की । उसने एक पाक यज्ञ किया और उसमें घी, दूध, छाछ और दही पानी में मिलाकर तर्पण

किया। एक साल में उससे एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह भीगी हुई निकली और उसके पैर पर घी जमा हुआ था। मित्र और वरुण उससे मिलने आये।

८—उन्होंने उससे पूछा तू कौन है? उसने जवाब दिया, मैं मनु की लड़की हूँ। उन्होंने फिर कहा कि यों कह कि तू हमारी है। उसने उत्तर दिया कि नहीं मैं यह नहीं कह सकती, जिसने मुझे उत्पन्न किया है उसी की हूँ। तब उन्हों ने कहा कि अच्छा तू हमारी बहिन बन जा इस बात पर वह आधी राज़ी हुई और आधी राजी नहीं हुई, और मनु के पास चली गई।

९—मनु ने उससे पूछा तू कौन है? उसने कहा तुम्हारी लड़की हूँ। तब मनु ने कहा कि तू हमारी लड़की कैसे है? उसने उत्तर दिया कि तुमने जल में घी, दूध, मठा और दही डाले थे उसी से मैं उत्पन्न हुई हूँ। मैं मंगल दायिनी हूँ। यज्ञ-समय मेरी पूजा की जाय। यदि तुम यज्ञ समय मेरी पूजा करोगे तो तुम्हारे संतान और पशुओं की वृद्धि होगी और जो कुछ तुम वर मांगोगे वह तुम्हें हमेशा मिलेगा। इस लिये मनु ने उसका यज्ञ के बीच में पूजन किया। यज्ञ का बीच वह है जो प्रारम्भ और अन्त के बलिदान के बीच में है।

१०—तब मनु उसके गुण गाता हुआ और सन्तान की वृद्धि चाहता हुआ घूमने लगा। उससे उसने सन्तान उत्पन्न की जो मनु की सन्तान कहलाती है और जो कुछ उसने वर मांगा उसे हमेशा मिला। वह निस्सन्देह इड़ा है

और जो कोई इस बात को जानता है और इड़ा के साथ हवन करता है उसके वैसीही सन्तान होती है जैसी मनु के हुई थी और जो कुछ वर माँगता है वह हमेशा मिलता है॥

यह निस्सन्देह प्रलय का वर्णन है और इस वर्णन में मनु ने बहुत सी बातों में वही काम किया है जो पुरानी बाइबिल में नूह ने किया था। यदि बहुतसी बातें मिलती हैं तो बहुत सी बातें नहीं भी मिलती हैं और इनके न मिलने का कारण किस तरह से बताया जाय यह नहीं कह सकते। यह बात तो स्पष्ट है कि यदि यह कहानी सेमिटिक जाति से ली गई है तो यह पुरानी बाइबिल से नहीं लीगई है क्योंकि इन दोनों के वर्णन में बहुत सी बातें नहीं मिलती हैं और यही कारण है कि यह कहानी बाइबिल से नहीं लीगई है। यदि किसी और सेमेटिक स्रोत से यह कहानी लीगई हो तो इस बात को हम अप्रमाणित नहीं कर सकते, क्योंकि कोई प्रमाण ऐसा हाथ नहीं लगा है जिससे यह कह सकें कि यह बात नहीं है। यदि यह कहानी सैमिटिक स्रोत ही से ली गई है तो प्राचीन संस्कृत साहित्य में केवल यही बात सेमिटिक जाति से ली हुई है। लेकिन इस पर भी हमें विचार करना चाहिये।

बराह और कूर्म अवतारों की कथा भी वैदिक साहित्य में मिलती है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता में यह लिखा है—पहिले जल ही जल था, जीवों के स्वामी प्रजापति ने वायु बनकर इस पर भ्रमण किया, उसने पृथ्वी को देखा और बराह का

रूप धारण कर उसने उसे उठा लिया। विश्वकर्मा का रूप धारण करके उसने उसे साफ़ किया। तब वह फैली और इसी कारण उसे पृथ्वी कहते हैं जिसका अर्थ है दूर तक चारों तरफ़ फैली हुई।

शत पथ ब्राह्मण में कूर्मावतार की कथा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—

प्रजापति ने कछवे का रूप धारण करके समस्त जीवों को निकाला। जब उसने उन जीवों को निकाला तो इस का अर्थ यह है कि उसी ने उन्हें बनाया और इनके बनाने ही के कारण उसका नाम कूर्म पड़ा। कछुवे का नाम कश्यप भी है इसलिये सब जीव काश्यप कहलाते हैं यानी कच्छप की संतान। यह कूर्म वास्तव में आदित्य था।

प्रलय का कुछ उल्लेख काथक में भी मिलता है—

(११-२) क्योंकि उसमें मनु का नाम आया है। इस ग्रन्थ में यह छोटासा वाक्य लिखा है—इसके ऊपर जल ही जल होगया अकेला मनु ही बचा।

इससे मालूम होगा कि प्रलय का वर्णन यानी पृथ्वी का पानी के नीचे डूब जाना और दैवी सहायता से उसका फिर निकलना भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा बातों में है और पीछे के समय में विष्णु के कई अवतारों में इसका वर्णन दिया है।

जब हम जगत के लगभग सब ही स्थानों और भिन्न भिन्न जातियों में प्रलय सम्बन्धी वर्णन पढ़ते हैं तो हम शीघ्र ही मालूम कर सकते हैं कि ये वर्णन किसी एक ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध नहीं रखते हैं बल्कि प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु अथवा शीत ऋतु में जो प्राकृतिक घटनायें यानी पानी के तूफान आया करते हैं उनसे इनका सम्बन्ध है।

यह बात बैबीलोनियां का हाल पढ़ने से और भी स्पष्ट हो जावेगी। पहले पहल सर हेनरी रौलिन ने बताया है कि निमरौद की कविता के १२ अध्यायों से अभिप्राय वर्ष के १२ महीने और राशिचक्र की १२। राशियों से है। डाक्टर हौपृ ने बाद में लिखा है कि ईवानी यानी दूसरे अध्यायों का ऋषभ पुरुष का अर्थ दूसरे महीने इज्जार से है (अप्रैल, मई) जिसका राशिचक्र में बेल का रूप है। तीसरे अध्यायों में ईवानी और निमरोड का मेल तीसरे महीने सिवन कू (मई, जून) से है—जिनका रूप राशि चक्र में दो बच्चों से प्रकट किया गया है। ७ वें अध्यायों में निमरोड की बीमारी का अर्थ ७ वां महीना तिसरी (सितम्बर—अक्टूबर) है, जब सूर्य ढलने लगता है। और ७ वें अध्यायों में जो प्रलय का वर्णन आया है उसका अभिप्राय ११ वें महीने सवट्ट से है जो उनके वायु देवता रिवन के लिये पवित्र समझा गया था और जिसका रूप राशिचक्र में एक पानी भरने वाले आदमी से प्रकट किया है।

यदि यह बात है तो भारत वर्ष में भी हमें प्रलय की कथा का सम्बन्ध किसी प्राकृतिक घटना से लगाना चाहिए

जैसा कि हमने दूसरे देशों में लगाया है। और यदि यह बात प्रमाणित हो कि जिस रूप में ये कथायें भारत वर्ष में हमें मिली हैं, उन में किसी अन्य देश का प्रभाव मालूम होता है तो यह कहना पड़ेगा कि ऐसा प्रभाव आधुनिक ग्रन्थों के वर्णनों में दिखाई देता है, परन्तु वेद के प्राचीन सूक्तों में नहीं है।

और और शंकाएँ भी उठाई गई हैं किन्तु जो शंका हमें भारतवर्ष के ऋषियों को बबीलोन के प्रभाव के नीचे लाती थी और जो निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं उन शंकाओं से ये शंकायें भी अधिक निर्मूल हैं। चीन ईरान पर्थिया बेक्ट्रिया आदि देश जो उस प्राचीन काल में जिसका हम यहाँ ज़िकर कर रहे हैं बाहर थे—कहा जाता है कि इन देशों का प्रभाव भारत वर्ष के साहित्य पर पड़ा है। मुझे यह आश्चर्य है कि लोगों ने लुप्त यहूदी जातियों के चिन्ह वेदों में क्यों नहीं निकाले, यद्यपि अफगानिस्तान इन जातियों के रहने के प्रिय स्थानों में से एक स्थान बताया जाता है।

विद्वानों ने जिन जिन बाहर के देशों का प्रभाव वैदिक साहित्य पर पड़ा हुआ बताया है, उसके विषय में अच्छी तरह परीक्षा करके मैं कहता हूँ कि भारतवर्ष के प्राचीन वैदिक साहित्य के कर्म-काण्ड, धर्म अथवा भाषा पर किसी अन्य देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

जैसा वह साहित्य अब है, वैसे ही वह उत्तर में पर्वत, पश्चिम में सिन्धुनदी और सिन्ध की मरुस्थली और पूर्व में गंगानदी (जो दक्षिण में समुद्र कही जाती थी) की रक्षा

में उत्पन्न हो बढ़ा है। उसमें भारत वर्ष की ही कविता है और यहीं का धर्म है। और इतिहास में केवल यही शेष भाग बचा है जिससे हमें यह मालूम हो सकता है कि यदि मानवी बुद्धि को अपनी इच्छानुसार काम करने को छोड़ दिया जाय तो वह क्या कर सकती है—विशेष कर जब वह ऐसी प्राकृतिक वन-शोभा और जीवन की अवस्था से घिरी हो जो मनुष्य के जीवन को पृथ्वी पर स्वर्ग तुल्य बनाता हो—यदि मनुष्य में स्वर्ग को एक दुःख स्थान बना लेने की अद्भुत कला न होती।

पञ्चम अध्याय ।

वेद की शिक्षाप्रद बातें ।

विद्या-सम्बन्धी कोई विषय ऐसा नहीं है, जिसमें भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य से नया प्रकाश और जीवन न पड़ा हो; लेकिन किसी और विषय में भारतवर्ष के साहित्य का प्रकाश इतना उज्वल नहीं पड़ा है, जितना धर्म और देव-सम्बन्धी कथाओं के विषय में। शेष व्याख्यान मैं इसी विषय पर देना चाहता हूँ। क्योंकि मैं वैदिक साहित्य के प्राचीन भंडार से परिचय रखता हूँ। इसी साहित्य के द्वारा आर्य-धर्म के प्राचीन तत्व जाने जा सकते हैं। इसके सिवा आधुनिक हिन्दुओं के कट्टर विश्वास और उनकी पक्षपात

की बातें जानने के लिए वेदों के परिशीलन से बढ़कर और कोई ऐसी उपयोगी वस्तु नहीं है । यह बात ठीक है कि आजकल ब्राह्मणों के धर्म के रूप का ज्ञान प्राचीन वैदिक साहित्य से ठीक ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि हम यह नहीं कह सकते हैं कि तीन हज़ार वर्षों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है । वैदिक संस्कृत और बंगाली भाषा में अन्तर न मानना जैसी ग़लती है वैसी ही ग़लती प्राचीन वैदिक साहित्य से आजकल के हिन्दू धर्म की समानता बताना है; परन्तु बंगाली की व्युत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत का पढ़ना बहुत आवश्यक है । इसी प्रकार वर्तमान हिन्दुओं की धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक सम्मतियों को समझाने के लिए जब तक वेदों में उनका स्रोत न बताया जाय तब तक पूरा ज्ञान होना असम्भव है । बहुत वर्ष हुए मैं ऋग्वेद के भाष्य और मूल को छपवाने की चेष्टा कर रहा था । उस समय मुझ से एक मनुष्य ने जो बिलकुल निःस्वार्थ नहीं था, कहा था कि वेदों का पढ़ना सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि हिन्दुस्थान में कोई ऐसा आदमी नहीं है जो उन्हें पढ़ सके । और मिशनरी या ऐसे ही लोगों के लिए जो हिन्दुस्थान के आदमियों के मनों पर प्रभाव डालना चाहते हैं या उनको समझाना चाहते हैं, वेद किसी काम के नहीं हैं । हमें पिछली संस्कृत की पुस्तकें जैसे मनुस्मृति, महाभारत, रामायण आदि महाकाव्य और अधिकतर पुराणों को पढ़ना चाहिए । जर्मन विद्यार्थी वेद को भले ही पढ़ें, परन्तु अँगरेज़ों के लिए उसका पढ़ना आवश्यक नहीं है ।

तीस वर्ष पहले भी ऐसी निस्सार बातों के लिए कोई

कारण नहीं था, क्योंकि मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों में वेद ही धर्म विषयों में सब से बड़ा प्रमाण माना गया है। मनु महाराज कहते हैं कि जो ब्राह्मण वेद नहीं पढ़ा है वह अग्नि में सूखी घास की तरह क्षण भर में नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजातियों में जो वेद नहीं पढ़ा है; वह इसी जन्म में शूद्र हो जाता है और उसके पीछे उसकी सन्तान भी शूद्र ही होती है!

अतएव ऐसी निस्सार बातें कहाँ तक कही जाती हैं, ये उन लोगों के कहने से मालूम होगा जिनका कथन है कि भारतवर्ष के विचारों का ऐतिहासिक परिशीलन करने के लिए वेद पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये लोग धृष्टता के साथ कहते हैं कि मक्कार पुजारियों अर्थात् ब्राह्मणों ने अपनी जातिवालों के सिवा और सब से धार्मिक साहित्य को छिपा लिया है। इसका उत्तर यह है कि बजाय छिपाने के ब्राह्मण हमेशा प्रयत्न करते रहे हैं, और बहुधा यह प्रयत्न निष्फल भी हुए हैं, कि सिवा शूद्रों के और सब जातियों को धर्म ग्रन्थ पढ़ना परमावश्यक है। जो वाक्य मनुस्मृति के मैंने अभी बताये हैं, उनसे भलीभाँति प्रकट है कि क्षत्रिय और वैश्य जातियों के लोग और उनकी सन्तान जो वेद न पढ़ें तो उनके लिए कड़े दण्ड लिखे हैं।

हाल में ही ऋग्वेद की पुस्तक मैंने भाष्य सहित सम्पादन की है। उसका स्वागत ब्राह्मणों ने बड़े उत्साह से किया है और उससे उन्हें वैदिक साहित्य पढ़ने की उत्तेजना हुई है। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में प्राचीन धर्म ग्रंथों का सुप्रयोग करने के लिए बड़े उत्साह से वाद-विवाद हो

रहा है। इन सब बातों से भलीभाँति मालूम होता है कि जो संस्कृत का विद्वान वेद नहीं पढ़ा है या उनके पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझता है वह ऐसे यहूदी विद्वान से, जिसने ओल्ड टेस्ट-मेण्ट यानी पुरानी बाइबिल को नहीं पढ़ा है, कुछ भी अधिक नहीं है।

अब मैं ऋग्वेद का धर्म और उसकी कविता के अच्छे अच्छे नमूने बताऊँगा। ऐसे नमूने थोड़े ही दिये जा सकते हैं, क्योंकि ऋग्वेद संहिता में, जिसमें १०१७ सूक्त हैं, कोई एक उद्देश नहीं है। मैं यह नहीं कह सकता कि इन वाक्यों से आप को उस मानसिक जगत् का पूरा दृश्य दिखाई दे जायगा, जिसमें हमारे वैदिक पुरुषों ने अपने जीवन को व्यतीत किया था। यदि आप यह प्रश्न करें कि वैदिक धर्म में एक ईश्वर की उपासना है या बहुत से देवताओं की उपासना है, तो मैं इसका उत्तर आपको नहीं दे सकता हूँ। यद्यपि वेद में ऐसी ऋचाएँ हैं जिनमें, पुरानी या नई बाइबिल अथवा कुरान की अपेक्षा, ईश्वर की एकता अधिकतर बताई गई है तथापि मैं निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता हूँ कि उसमें एक ईश्वर की ही उपासना है। एक ऋषि का वाक्य है (ऋ० म० १-१६४-४६) " जिसको ऋषियों ने बहुत नामों से पुकारा है, जिसे उन्होंने अग्नि, यम, मातृश्वान् नामों से कहा है, वह एक ही है "। दूसरे ऋषि कहते हैं " उसे, जिसके सुन्दर पंख हैं, विद्वान ऋषियों ने शब्दों द्वारा अनेक प्रकार से बताया है। " (ऋ० म० १०-११४-५)। हम हिरण्य गर्भ का भी हाल पढ़ते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति के विषय

में हम कुछ नहीं कह सकते। 'हिरण्य गर्भ' अर्थात् 'सुवर्ण का गर्भ' इस शब्द के विषय में एक ऋषि ने इस तरह कहा है (ऋ० म० १०-१२१) "सृष्टि के आदि में हिरण्य गर्भ उत्पन्न हुआ। जिसका जन्म हुआ वही इस विश्व का स्वामी था। उसीने पृथ्वी और आकाश को स्थापित किया है। वह देव कौन है जिसे हम अपनी यज्ञ की आहुति दें ?" ऋषि कहते हैं कि "यह हिरण्य गर्भ सब देवताओं के ऊपर आदि देव है" (यः देवषु अधिदेवः एकः आसीत्)। इस वाक्य से ईश्वर का एक होना पाया जाता है। इससे प्रबल ईश्वर की एकता पुरानी बाइबिल के किसी वाक्य में भी नहीं पाई जाती है।

ऐसे थोड़े वाक्यों के साथ ही साथ सहस्रों ऐसे वाक्य हैं, जिनमें अनेक देवताओं की प्रशंसा और स्तुति की गई है। देवताओं की सख्या प्रायः ३३ बताई जाती है। एक ऋषि ने आकाश के ग्यारह, पृथ्वी के ग्यारह, और जल के ग्यारह देवताओं का उल्लेख दिया है। (ऋ०मं०१-१३६-११) यहाँ जल से अभिप्राय उस जल से है, जो वायुमण्डल और मेघों में है। इन ३३ देवताओं की स्त्रियां भी हैं, जिनको देवपत्नियाँ कहते हैं, (ऋ० वे० मं० ३-६-६) लेकिन इनमें बहुत कम ऐसी हैं, जिनका आदर स्वतंत्र नाम देकर किया है।

वैतान सूत्र १५-३ में देव पत्नियों के नाम इस प्रकार दिये हैं:—अग्नि की पत्नी पृथ्वी, वात की वाक्, इन्द्र की सेना, बृहस्पति की धेना, पुषन की पथ्या, वसु की गायत्री, रुद्र की त्रिष्टुभ, आदित्य की जगती, मित्र की अनुष्टुभ,

वरुण की विराज, विष्णु की पंक्ति, सोम की दीक्षा।

इन ३३ देवताओं में सब वैदिक देवता नहीं आये हैं। क्योंकि बड़े बड़े देवता, जैसे अग्नि, सोम, पर्जन्य, मारुत, अश्विनी, वरुण, उषा, सूर्य इनका अलग अलग वर्णन है। वेद में ऐसी ऋचाएँ भी हैं, जिनमें ऋषियों ने देवताओं की संख्या इतनी बढ़ादी है कि वह अतिशयोक्ति हो गई है। वे कहते हैं, कि केवल ३३ ही देवता नहीं हैं, बल्कि ३३३९ देवता हैं। (ऋ० वे० मं० १-६)।

यदि ऋग्वेद के अन्तर्गत धर्म का कोई नाम दिया जा सकता है तो पहिले पहिल इसे "अनेक देव-उपासना" कहना उचित होगा। लेकिन पौलीथीइज़्म (Polytheism) शब्द के अर्थ की दृष्टि से वैदिक धर्म को "अनेक देव उपासना-धर्म" कहना अनुचित होगा।

यूनान और रोम के देवताओं की उपासना से पौली-थीइज़्म शब्द निकला है। इस शब्द से हमारा मतलब देवताओं की ऐसी नियम बद्ध संस्था से है, जिसमें विविध शक्ति और अधिकार के देवता हों और ये सब एक प्रधान देवता जैसे जूपीटर आदि के आधीन हों। वैदिक अनेक देव-उपासना यूनान और रोम की अनेक देव-उपासना से पृथक् है, इन से ही नहीं, बल्कि उस अनेक देव-उपासना से भी जो यूरल अल्टैइक, पौलीनेशियन, अमेरीकन और बहुतसी अफ्रीकन जातियों में प्रचलित है। जिस प्रकार राज-तन्त्र शासन प्रणाली, ग्राम पंचायत शासन प्रणाली से

भिन्न है, उसी प्रकार वैदिक अनेक देव-उपासना दूसरी जातियोंकी अनेक देव-उपासना से भिन्न है । पिछले प्रजातंत्र और राज तंत्र राष्ट्रों में प्राचीन पंचायती ग्राम-शासन-पद्धति की प्राचीन दशा के चिन्ह मिलते हैं, उसी प्रकार कह सकते हैं कि यूनान में जूपीटर के राज्य शासन के पहिले यूनान के कई बड़े बड़े देवताओं की पंचायत-शासन की पद्धति मिलती है। यही बात ट्यूटेनिक जातियों की देव सम्बन्धी कथाओं में लग सकती है । परन्तु वेद में पृथक् पृथक् देवता जो ईश्वर रूप से माने गये हैं अलग अलग हैं । न उनमें कोई हमेशा पहिला देवता है और न उनमें हमेशा कोई पिछला देवता है । छोटे छोटे देवता भी किसी किसी भक्त ऋषि की दृष्टि में अन्य सब देवताओं से बड़े माने लिये गये हैं । इसलिये पौलीथीइज़्म शब्द से पृथक् कोई शब्द होना चाहिए, जिससे पृथक् पृथक् ऐसे देवताओं की उपासना, जो समय० समय पर प्रधान देवता हो जाते हैं, प्रकट हो सके। और मैंने इस उपासना को बताने के लिए कैथेनौथीइज्म शब्द निकाला है, जिसका अर्थ एक देवता के पीछे दूसरे देवता की उपासना करना है। अथवा हैनोथीइज्म (Henotheism) शब्द भी ठीक है, जिसका अर्थ पृथक् पृथक् देवताओं की उपासना है।

हैनोथीइज्म शब्द का प्रचार अधिक हुआ है, क्योंकि इस शब्द से एक देव-उपासना और पृथक् पृथक् देव-उपासना दोनों में स्पष्ट अंतर मालूम होता है। यदि इस शब्द की अच्छी परिभाषा की जाय तो उससे भलीभाँति

काम निकल सकता है। तब भी हमें ऐसे शब्दों के प्रयोग करने में सावधान रहना चाहिए। हमें ऐसे शब्दों से काम अवश्य तो लेना पड़ता है, लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि इन शब्दों से भ्रम उत्पन्न न होने पावे। उदाहरणतः एक ऐसा मंत्र है जो सिन्धु नदी और उसकी सहायक नदियों की स्तुति में कहा गया है। इस मंत्र का अनुवाद करके मैं आपको सुनाऊँगा, क्योंकि इससे भूगोल-सम्बन्धी उस स्थान का पता लगता है, जहाँ वैदिक ऋषियों ने अपना जीवन व्यतीत किया था। भारतवासी विद्वान् इन नदियों को देवता कहते हैं और यूरोपियन अनुवादकों ने भी इन्हें देवी-देवता करके पुकारा है, लेकिन इस मंत्र की भाषा से यह नहीं मालूम होता कि ये नदियाँ देव देवियाँ थीं। यदि देव और देवियों का अर्थ यूनानी नदी-देव देवियों अथवा अन्य देवताओं से भिन्न हो तो हम इन्हें देव देवी कह सकते हैं।

जो बात नदियों के सम्बन्ध में कही गई है, वही वेद-उपासना की दूसरी वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है। इन्द्रियों-द्वारा देखने की वस्तु, कल्पना द्वारा कल्पित वस्तु और बुद्धि द्वारा अनुमानित वस्तु, इन तीनों के बीच इन उपासना की वस्तुओं की स्थिति है। ऋषियों की इच्छानुसार ये वस्तुएँ कभी मनुष्य हो जाती हैं, कभी कारण रूप रहती हैं और कभी वे चीजें ज्ञान की चीजें हो जाती हैं। यदि हम इन्हें देव-देवियों के नाम से पुकारें तो हमें एक प्राचीन धर्माचार्य्य की बात याद रखना चाहिये,

जिसका यह कहना है कि देवता का अर्थ केवल उस पदार्थ से है, जिसकी प्रशंसा किसी मंत्र में की गई हो और ऋषि से अभिप्राय वेद मंत्र द्रष्टा अथवा वेद मंत्र के विषय से है। जिन जिन देवताओं की वेदों में स्तुति आई है, उनका विवरण किसी नियमानुसार करना बड़ा कठिन है क्यों कि देवताओं के रूप और स्तुतियाँ किसी पूर्व निश्चित नियम के अनुसार नहीं उत्पन्न हुए हैं। हमारे उद्देश्य के लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम एक प्राचीन ब्राह्मण लेखक के अनुसार चलें, जो ईसा से चार सौ वर्ष पहिले हुआ था। वह लिखता है कि उसके समय से पहिले वेद पाठी विद्यार्थी केवल तीन देवताओं को मानते थे, अर्थात् अग्नि, जिसका निवास स्थान पृथ्वी है, वायु या इन्द्र, जिसका निवास स्थान वायु है; और सूर्य जिसका निवास स्थान आकाश है। उसका कथन है कि इन देवताओं की शक्ति और विविध कार्यों के अनुसार उनके बहुत से विशेषण हो जाते थे जैसे कोई पुजारी यज्ञ में पृथक् पृथक् नामों से पुकारा जाता है।

वैदिक देवताओं के विषय में यह एक मत है और यद्यपि यह मत बहुत संकुचित है तथापि उसमें सत्य का आधार अवश्य है। यास्क ने वैदिक देवताओं के तीन भेद किये हैं अर्थात् पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश के देवता। और यदि इस प्राचीन हिन्दू ग्रंथ कर्ता का अभिप्राय इतना ही था कि प्रकृति में जितनी दैवी शक्तियाँ दिखाई देती हैं, वे सब शक्ति के तीन केन्द्रों से निकली हुई मालूम होती हैं याने आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी तो इस लेखक की बुद्धिमता बड़ी प्रशंसनीय है।

परन्तु वह स्वयं कहता है कि यह भेद सब देवताओं में नहीं लगता है। उसका कथन है कि यह हो सकता है कि ये सब देवता अलग अलग हों क्योंकि उन सब की स्तुतियां और नाम अलग अलग हैं। यह बात भी ठीक है कि प्राकृतिक शक्तियों के पृथक् पृथक् विकासों को पृथक् पृथक् नामों से बताना इनका उद्देश्य है और यद्यपि कोई कोई तत्वदर्शी अथवा अनुभवी ऋषि यह जानते थे कि ये नाम केवल नाम मात्र ही हैं और इन सब का लक्ष केवल एक पदार्थ ही है, परन्तु यह मत सब वैदिक ऋषियों का नहीं है और न उन लोगों का ही है जो मेलों में और उत्सवों पर इन स्तुतियों को सुनते थे। वेदों के धार्मिक विचारों में यह बात विलक्षण है कि उसमें दैवी शक्ति को विविध रूप से माना है और उसके करने के कामों को विविध देवताओं को करते हुए भी बताया है, लेकिन सब देवताओं को किसी एक नियम बद्ध नहीं किया है जिससे एक देवता दूसरे से पृथक् मालूम हो और ये सब देवता कई देवताओं के या अन्त में एक प्रधान देवता के आधीन हों।

प्राचीन भारतवासी लेखकों के अनुसार वैदिक देवताओं के तीन भेद मानकर अर्थात् पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश के देवता, हम पहिले पृथ्वी के देवताओं का हाल प्रारम्भ करते हैं। इनका हाल लिखने के पहिले हमें यह बताना है कि पहिले पहिल जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे पृथ्वी और आकाश थे और इन दोनों का जोड़ा माना गया था। पृथ्वी-आकाश की पूजा केवल भारतवर्ष ही में नहीं बल्कि बहुत सी सभ्य असभ्य

और अल्प सभ्य जातियों में भी प्रचलित थी। पृथ्वी और आकाश अत्यन्त प्राचीन देवता माने गये हैं। इन्हीं का लोग ध्यान करते थे, इन्हीं की महिमा गाते थे। इन्हीं के रूपों का गौरव बढ़ाया गया है और प्राचीन कवियों बल्कि प्राचीन तत्व-वेत्ताओं ने भी इनको सजीव देवता माना है। यह बात आश्चर्य्य जनक है, क्योंकि पृथ्वी एक स्वतंत्र वस्तु है, इसी तरह आकाश भी एक स्वतंत्र व्यक्ति है, इन दोनों को समस्त विश्व का माता-पिता समझना विचार की अंतिम सीमा को बताता है। अग्नि, पर्जन्य, विद्युत अथवा सूर्य्य इनमें दैवी शक्तियों को बताना और इन्हें देवता के रूप में मानना इतना कठिन नहीं है, जितना पृथ्वी आकाश को देवता रूप में मानना। पृथ्वी आकाश के विषय में जो विचार वेदों में हैं उनके समझने के लिए और उस भेद के समझने के लिए, जो आर्य्यों की देव-सम्बन्धी कथाओं और वास्तव में असभ्य कहलाने वाली जातियों की कहानियों में हैं, (यह भेद बड़े मार्के का है, जिसको मैं कठिनता से समझा सकता हूँ) मैं आपको एक पुस्तक में से कुछ स्थल सुनाऊँगा, जो मेरे मित्र पादरी विलियम डब्लू. जिल ने छपाई थी। ये बहुत वर्षों तक मैंगिया द्वीप में पादरी का काम बड़ी सफलता से करते रहे थे और यह मैंगीया द्वीप उन पौलीनिसियन द्वीपों में से है, जो हमारी पृथ्वी के चौथाई भाग में पाये जाते हैं और जिन सब द्वीपों में एकही भाषा, एकही धर्म, एकही पौराणिक कथाएँ और एकही रीतिरिवाज पाये जाते हैं। इस पुस्तक का नाम "दक्षिणी पैसफिक द्वीपों के गीत, किस्से और कहानियाँ हैं।" धर्म और पौराणिक

कथाओं के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। मैंगिया द्वीप वालों ने जो बातें इन पादरी साहब से कही हैं, वे ये हैं:—आकाश ठोस नीले पत्थर का बना है। एक समय वह पृथ्वी को छूता था और वह टीव वृक्ष की चौड़ी और मज़बूत पत्तियों पर और देशी अरारोट की मज़बूत और मुलायम डालियों पर रक्खा हुआ था। (टीव वृक्ष ६ फीट ऊँचा होता है और अरारोट की मुलायम डालियां ३ फीट से अधिक ऊँची नहीं होतीं) आकाश और पृथ्वी के बीच की सकरी जगह में इस दुनियां के रहने वाले बंद थे। रू जो अवैकी में अर्थात् पृथ्वी के नीचे के लोक में रहता था कुछ दिनों के लिए हमारी दुनियाँ में आया। यहाँ के रहने वालों की बुरी हालत पर तरस खाकर उसने आकाश को कुछ ऊँचा उठा देने की कोशिश की। इस काम के लिए उसने तरह तरह के पेड़ों की मज़बूत पोड़ें काटीं और इस द्वीप के बीच में रंजीमोटिया स्थान पर, जो उसके लिए दुनियाँ का केन्द्र था, उसने उन पेड़ों को पृथ्वी में मज़बूती से गड़वा दिया। इससे रहने वालों की दशा में बहुत कुछ सुधार हुआ क्योंकि अब वे बिना कष्ट के सीधे चल फिर सकते थे। इस काम के करने के लिए रू का नाम का अर्थ आकाश उठाने वाला हो गया। टेका ने इसकी प्रशंसा में जो गीत गाया है, उसका सारांश यह है:—हे रु आकाश को ऊपर ढकेल दे! जिससे बीच की जगह खाली हो।

एक दिन यह वृद्ध पुरुष जब अपने काम को देख रहा था, तब उसके निर्दयी लड़के माऊ ने उसका तिरस्कार कर के पूछा कि तुम क्या कर रहे हो? रू ने जवाब दिया कि

लड़कों को थकने की किसने इज़ाज़त दी है ? सावधान होजा, नहीं तो मैं तेरी जान ले लूँगा। माऊ ने चिल्ला कर कहा कि, ले मेरी जान । रू ने जो कुछ कहा था वही कर दिखाया। उसने माऊ को, जो एक छोटे क़द का लड़का था, उसी वक्त पकड़ कर बहुत ऊँचा फेंक दिया। ऊपर से गिरते समय माऊ ने एक पक्षी का रूप धारण कर लिया और वह आहिस्ते से ज़मीन पर आ गिरा। उसको कुछ भी चोट न लगी। माऊ ने बदला लेने के लिये अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया, परन्तु उसने अपने शरीर को एक देव के समान बड़ा बना लिया और अपने बाप की तरफ़ दौड़ता हुआ बोला रू ! तू कई आकाशों को थामे हुए है, ले अब तुझे तीसरे आकाश से भी ऊँचा चढ़ाता हूँ। बुड्ढे आदमी की टाँगों के बीच में अपने सिर को अड़ा कर उसने अपने प्रचण्ड बल को लगा दिया और इस तरह बेचारे रू और आकाश को इतना ऊँचा फेंक दिया कि फिर यह नीला आकाश पृथ्वी तक आही नहीं सका। दुर्भाग्य से आकाश थामने वाले रू का सिर और कन्धे तारों में अटक गये।

उसने वहाँ से निकलने की बड़ी कोशिश की, परन्तु सब व्यर्थ गई। माऊ ने आकाश को इतना ऊँचा कर दिया और प्रसन्न होकर उसने वहाँ से चल दिया। उसने अपने बाप के आधे धड़ और टागों को पृथ्वी और आकाश के बीच में लटकते हुए छोड़ दिया। इस तरह रू मर गया। उसका धड़ सड़ गया और उसकी हड्डियाँ बार बार आकाश से लुढ़कती हुई पृथ्वी पर गिरने लगीं और पृथ्वी पर गिर कर अगणित टुकड़ों में चूर चूर हो गईं। रू की टूटी हुई हड्डियाँ

मैंगिया द्वीप की घाटियां और पहाड़ों पर समुद्र के किनारे तक फैल गई। जिनको यहाँ के रहने वाले रू की हड्डियाँ कहते हैं, वे असल में प्यूमिस पत्थर के टुकड़े हैं।

अब इस बात का विचार करना चाहिये कि यह कहानी जो सब ही पौलोनेसियन द्वीपों में कुछ न कुछ परिवर्तित रूप में है सर्वथा निरर्थक है या उसमें कुछ सार भी है। मेरा विश्वास है कि निरर्थक बातों में भी कुछ न कुछ सार होता है, लेकिन खेद है कि बहुत से लड़के इस माऊ लड़के के समान अपने पिताओं से ज्यादह अपने आपको अक्लमंद समझते हैं और कभी कभी उनकी इस तरह जान ले डालते हैं। बहुतसी पुरानी कहानियों में यह विलक्षणता है कि ऐसी घटनाओं का होना, जो प्रतिदिन अथवा प्रतिवर्ष हुआ करती हैं, लोग किसी एक समय बताते हैं। रात और दिन के बीच में जो बराबर युद्ध होता रहता है, शीतकाल और वसन्त काल के बीच में जो वार्षिक युद्ध होता रहता है, वे ऐतिहासिक घटनाओं के समान बताते हैं। और बहुतसी बातों को, जो इन निरन्तर प्राकृतिक युद्धों में हुआ करती हैं वे उन युद्धों के रूप में परिवर्तित कर देते हैं या ऐसे युद्धों से मिला देते हैं, जो किसी विशेष समय में हुए हैं। उदाहरणतः ट्राय की लड़ाई लीजिये। जब ऐतिहासिक स्मृति जाती रहती है, तो रात और दिन की और जाड़े और गर्मी की पुरानी लड़ाइयों को कहानियों के तौर पर बताने लगते हैं। और जिस तरह आजकल हम ऐसी मनोरञ्जक कहानियाँ सुना करते हैं, जिन्हें हम बचपन से सुनते आये हैं प्रायः किसी न किसी रूप में किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में

कह दी जाती हैं। वैसेही प्राचीन समय में कोई वीरता का काम अथवा हानिकारक काम जो पहिले पहिल अँधेरी रात के जीतने वाले सूर्य्य के सम्बन्ध में या परिवर्तित रूप में किसी स्थानीय प्रभावशाली पुरुष के सम्बन्ध में कह दिया जाता था और यह पुरुष जूपीटर मार्श या हरकेल्यूस के समान बन जाता था। मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि जिस तरह से प्रलय होने की कहानियाँ, जो सब ही जगह मिलती हैं, असल में वार्षिक महावृष्टि या हिम पातकी याद दिलाने वाली हैं, जो प्राचीन ग्रामीण कवियों की दृष्टि में उनकी छोटी छोटी दुनियाँओं को भर देती थीं। इसी प्रकार पृथ्वी और आकाश का चीर देना असल में उसी घटना का वर्णन है, जो हम प्रतिदिन प्रातः काल देखते हैं। अँधेरी रात में आकाश पृथ्वी को ढक लेता है और दोनों ऐसे एक हो जाते हैं कि एक को दूसरे से अलग समझना कठिन हो जाता है। फिर ऊषा काल आता है जो अपनी चमकीली किरणों से अँधेरी रात के पर्दे को कुछ ऊँचा उठा लेता है और तब माऊ निकलता है। पहिले छोटे आकार का एक छोटा सा बच्चा याने प्रातःकाल का सूर्य्य सहसा आकाश के किनारों के ऊपर किरणों के द्वारा ऊपर फेंका हुआ सा मालूम होता है और तब पक्षी के समान पृथ्वी की तरफ़ गिरता हुआ और फिर वृहदाकार होकर प्रातःकाल के आकाश में ऊँचा चढ़ता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार ऊषाकाल ऊपर को फेंका हुआ मालूम होता है और आकाश पृथ्वी से बहुत ऊँचा उठ जाता है और सूर्य्य रूपी माऊ आकाश को अपनी वर्तमान ऊँचाई पर उठाकर प्रसन्नता से आगे

चढ़ता हुआ दिखाई देता है। प्यूमिस पत्थर को रू की हड्डियाँ क्यों कहा है ? इस विषय में हम तब तक कुछ नहीं कह सकते, जब तक हम मैंगिय द्वीप की भाषा को अच्छी तरह न जान लें। सम्भव है कि यह एक अलग ही बात हो, जो पीछे से रू और माऊ की कहानी से मिलादी गई हो।

अब मैं एक मोरी कहानी के कुछ अंश कहता हूँ, जो मैनिंग जज ने लिखे हैं। यह न्यूज़ीलैण्ड निवासियों की सृष्टि उत्पत्ति का विवरण है। आकाश हमारे ऊपर और पृथ्वी हमारे नीचे है। ये दोनों मनुष्यों के उत्पन्न करने वाले हैं और वे ही सब चीज़ों के उत्पत्ति स्थान हैं।

आदि में आकाश पृथ्वी में पड़ा था और अँधेरा ही अँधेरा था। आकाश और पृथ्वी की सन्तानों ने अन्धेरे और उजेले में, रात में और दिन में अन्तर मालूम करने की चेष्टा की। आकाश जिसका नाम रंगी है और पृथ्वी जिसका नाम पापा है इनके लड़कों ने आपस में सलाह की और कहा, हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि आकाश और पृथ्वी को नष्ट करदें अथवा अलग अलग करदें। तब लड़ाई के देवता टुमें टौंगा ने कहा आओ पृथ्वी और आकाश दोनों को नष्ट कर डालें। वन देवता टेनमहूता बोला ऐसा मत करो, उन्हें अलग करदो, एक को ऊपर चढ़ा दो, जिससे वह हम से अलग हो जाय और दूसरे को नीचे रहने दो, जिससे वह हमारे साथ माता पिता का वर्ताव करे। तब चारों देवताओं ने पृथ्वी आकाश को अलग अलग करने की कोशिश की लेकिन सफलता नहीं हुई। पाँचवें देवता टेन को इस कार्य्य में सफलता हुई। जब पृथ्वी और आकाश अलग अलग हो गये

तो बड़े तूफ़ान उठे। एक कवि ने कहा है कि पृथ्वी आकाश के लड़कों में से एक ने, जिसका नाम टौहरी-मेटिया है और जो तूफ़ानों का देवता है, अपने भाइयों से माता पिता के ऊपर आक्रमण करने का बदला लेने की कोशिश की। अब क्या था, दिन डरावने और अंधेरे होने लगे। मेह बरसने और जलती हुई आँधियाँ चलने लगीं। सब देवता आपस में लड़ पड़े। सिर्फ़ तु नामक देवता बचा, जो लड़ाई का देवता है। तूफ़ान के देवता के सिवा और सब भाइयों को यह खा गया और लड़ाइयाँ होने लगीं। अधिकाँश पृथ्वी पर जल ही जल हो गया, लेकिन थोड़ासा भाग सूखा बच रहा। इसके बाद उजाला बढ़ता गया और ज्यों ज्यों उजाला बढ़ता गया, त्यों त्यों मनुष्य, जो आकाश और पृथ्वी के बीच में छिपे हुए थे, बढ़ने लगे। इस प्रकार मनुष्यों की सन्तान बढ़ती चली गई। तव माईपोटकी उत्पन्न हुआ, जो संसार में मृत्यु को लाया। इन दिनों आकाश अपनी स्त्री पृथ्वी से दूर रहता है; लेकिन स्त्री अपने पति के प्रेम में ऊपर को तरफ़ आहें भरती है। पहाड़ों की चोटियों से जो कुहरा ऊपर को उड़ता है वही ये आहें हैं। अपनी स्त्री के ऊपर आकाश आँसू डालता है, जो ओस की बूँदें हैं। यही मोरी निवासियों की सृष्टि-उत्पत्ति की कथा है। अब हमें वेद की तरफ़ लौटना चाहिए और इन भद्दी और बेडौल बातों को प्राचीन आर्य्य कवियों की बातों से मिलाना चाहिए।

ऋग्वेद के मंत्रों में आकाश और पृथ्वी पृथक् पृथक् होने का वर्णन कईबार आया है और यहाँ भी यह काम अत्यन्त शूरवीर देवताओं का बताया गया है। पहिले मंडल

के ६७ वें सूक्त की तीसरी ऋचा में कहा गया है कि अग्नि देव पृथ्वी को धारण करते हैं और आकाश को थामे रहते हैं।

ऋ० वे० मं० १०-८६ । ४ में इन्द्र को इन दोनों का अलग रखने वाला बताया है। ऋ० वे० मं०-६ । १०१ । १५ में सोम की भी इसी कार्य्य के लिए स्तुति की गई है। मं० ३-३१-१२ में इस यश का भाग दूसरे देवता लेते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि पृथ्वी और आकाश पहिले जुड़े हुए थे। वे अलग अलग हो गये। उस समय न मेह बरसता था, न धूप निकलती थी और पाँचों जातियां आपस में सहमत न थीं। तब देवताओं ने पृथ्वी आकाश में मेल करा दिया और तब उन आपस में मिले हुए देवताओं का विवाह हो गया।

सूक्ष्म रीति से यहां भी हमें वैसेही विचार मिलते हैं अर्थात् पहिले पृथ्वी आकाश जुड़े हुए थे, फिर वे अलग अलग किये गये और जब वे अलग अलग होगये तब प्रकृति में बड़ा आन्दोलन हुआ। न मेह बरसा, न धूप निकली। तब पृथ्वी और आकाश में मेल करा दिया गया और उनका व्याह हो गया। जो ग्रीक और रोमन साहित्य से परिचित हैं, उन्हें मुझे स्मरण कराना आवश्यक नहीं है कि यूनान और इटली में पृथ्वी आकाश के विवाह के विषय में ऐसे ही विचार प्रचलित हैं। उन देशों में पृथ्वी आकाश का वसन्त ऋतु में प्रतिवर्ष मेल होजाना और शीतकाल में उनका एक दूसरे से वैमनस्य होना प्रकाश के अभाव का कारण है और रात्रि और दिन में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। नीले आकाश में सूर्योदय होने से

आकाश ऊँचा होता हुआ दिखाई देता है। होमर के गीतों में पृथ्वी को नक्षत्र युक्त आकाश की स्त्री और देवताओं की माता और आकाश को पिता कह कर पुकारा है। यूरीपिडिस कवि ने इनके विवाह का हाल भी इस तरह लिखा है—विशाल पृथ्वी एक है और आकाश मनुष्य और देवताओं का उत्पन्न करने वाला है। पृथ्वी में वर्षा की बूँदें आती हैं, जिससे मनुष्य, अन्न और तरह तरह के जानवर उत्पन्न होते हैं। इसलिये पृथ्वी को सब की माता समझना अनुचित नहीं है। यह बात और भी विलक्षण है कि यूरीपिडीस ने यह सिद्धान्त अपने दार्शनिक गुरू एनेक्सगोरस से प्राप्त किया था, क्योंकि हालीकारनेसस का डयोनीसस कहता है कि यूरीपिडीस ऐनेक्स गोरस के व्याख्यान सुनने जाया करते थे। इस दार्शनिक का यह मत था कि आदि में सब वस्तु एक दूसरी से मिली हुई थीं पीछे से वे अलग अलग होगईं। इस दार्शनिक विद्वान् का मेल सुक्रात से होगया। तब उसे यह सिद्धान्त गलत मालूम होने लगा। इस प्राचीन सिद्धान्त को वह एक दूसरे आदमी मैलोनिप के मुँह से कहलवाता था, जो कहता था कि यह कथन मेरा नहीं है, मैं अपनी माता से सुना था कि पृथ्वी आकाश पहिले एकही सूरत के थे और जब वे पृथक् पृथक् हो गये, तो उन्होंने वृक्ष, पक्षी, पशु आदि सब चीज़ों को उत्पन्न किया, मनुष्य जाति को भी उन्होंने उत्पन्न किया। इस प्रकार हम यूनान, हिन्दुस्तान और पौलीनेसियन द्वीपों में पृथ्वी आकाश के एक होने के पीछे अलग होने, और फिर एक होने का हाल पढ़ते हैं। अब हमें यह बताना है कि वेद के ऋषि पृथ्वी और आकाश को किस

प्रकार पुकारते हैं । प्रायः इन दोनों का नाम एक साथ लिखा जाता है अर्थात् ये दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं लेकिन रूप एक ही है । हमें ऐसी ऋचाएँ भी मिलती हैं, जिन में पृथ्वी को पृथक् रूप में भी पुकारा है । इनमें पृथ्वी के विषय में कहा है कि यह बड़ी दयावती है, उसमें झाड़ कांटे नहीं हैं और यह रहने के लिए अच्छी है (ऋ० मं० १ २२ १५)। दूसरी ऋचाएं ऐसी हैं, जिनमे स्पष्ट प्रमाण हैं कि द्यो (आकाश) सब में बड़ा देवता था। जब दोनों को साथ पुकारते हैं तब उन्हें द्यावापृथ्वीव्यौ कहते हैं। द्यु का अर्थ आकाश और पृथ्वी का अर्थ विस्तृत भूमि है ।

यदि हम उनके विशेषणों को अच्छी तरह देखें तो हमें मालूम होगा कि ये केवल आकाश और पृथ्वी के प्राकृतिक लक्षणों को बताते हैं । इन्हें उरु कहते हैं, जिसका अर्थ चौड़ा है; दूरे-अन्ते जिसका अर्थ दूर तक फैला हुआ है, गम्भीर जिसका अर्थ गहरा है; घृतवत् जो घी को देती है; पयस् वत, दूध से भरी हुई; भूरिरेता, जिसमें अधिक वीर्य है । दूसरे प्रकार के विशेषण ऐसे हैं जिनसे मानुषी और दैवी लक्षण पाये जाते हैं; जैसे असश्वत जो कभी न थके; अजर जो कभी जीर्ण न हो अर्थात् जिसका भाव अमर होने का है; अद्रोह जो किसी को धोखा न दे; प्रचेतस, पोषण करने वाला; पित-माता, माँ, बाप; देवपुत्र, जिसके देवता लड़के हैं; ऋतवृद्ध और ऋतवत् सचाई की रक्षा करने वाले और अटल नियमों के पालने वाले ।

वेदों में इस प्रकार मनोरंजक बातें दिखाई देती हैं । पहले प्राकृतिक रूप से दैवीरूप का

शनैः शनैः विकास होना, चैतन्य से परोचैतन्य रूप का निकलना, मानुषी से दैवी और अमानुषी रूपका उत्पन्न होना, पृथ्वी और आकाश में पाया जाता है। हमारे विचारानुसार इन्हें दृश्यमान् और अल्प वस्तुएँ कहना चाहिये। परन्तु प्राचीन कवि अधिक सच्चे थे। वे पृथ्वी और आकाश को देखते तो थे, परन्तु पूरा उन्हें कभी नहीं देखा था; वे समझते थे, इनके अल्प रूप के परे कोई चीज़ जरूर है। और इसलिए उन्हों ने इनका विचार पत्थर, वृक्ष, कुत्ते आदि अन्य वस्तुओं के समान नहीं किया, बल्कि वे उन्हें कोई ऐसी चीज़ मानते थे जो अल्प नहीं है, जो सर्वथा दृश्यमान् या जानने योग्य नहीं है परन्तु जो ऐसी वस्तु है कि उसका उनसे बड़ा संबंध है याने जो ऐसी समर्थ हैं कि उन्हें सुख, हानि पहुँचा सके। जो पृथ्वी और आकाश के बीच में था वह उन्हीं की सम्पति थी और उस पर उन्हीं का राज्य था उन दोनों के बीच में सब कुछ आ गया था और वे सब कुछ ही उत्पन्न कर सकते थे। सूर्य, उषा, अग्नि, वायु, पर्जन्य, सब देवता उन्हीं के थे और इसलिए वे पृथ्वी—आकाश की सन्तान कहलाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी और आकाश विश्व के माता पिता हो गये।

अब हम यह पूछ सकते हैं कि क्या पृथ्वी और आकाश देवता हैं? और यदि देवता हैं तो किस अर्थ में? क्या उसी अर्थ में, जिसमें हम ईश्वर को मानते हैं? हमारे विचार के अनुसार ईश्वर बहुत से नहीं हो सकते। जिस तरह यूनान वाले देवता का अर्थ समझते थे उसी अर्थ में वे देवता होंगे। पर यह बात भी नहीं है क्यों कि जिनको यूनानी लोग देवता कहते हैं, वे उनके बुद्धिविचारों के विकास से ही उत्पन्न हुए

थे और इस पर वेद या हिन्दुस्तान का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। हमको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जिनको हम पुरानी कथा में देवता कहते हैं वे सजीव पृथक् पृथक् व्यक्ति नहीं थे कि उनके विषय में हम कोई विशेषण लगा सकें। देव शब्द पहिले पहिल एक विशेषण था और वह उस लक्षण को बताता था जो पृथ्वी, आकाश, सूर्य, तारों, सूर्योदय और समुद्र सब ही में मिलता था अर्थात् प्रकाश।

प्राचीन काल में देव शब्द से, सिवा उस गुण के जो इन सब प्रकाशवान वस्तुओं में था, और कुछ नहीं समझा जाता था। दूसरे शब्दों में देवता का कोई गढ़ा गढ़ाया रूप न था, जो पृथ्वी आकाश और दूसरे ऐसे जीवों के सम्बन्ध में लगाया जा सके बल्कि वह एक ऐसा रूप है, जो पृथ्वी, आकाश और दूसरी प्रकाशवान् वस्तुओं के रूप से उत्पन्न हुआ और शनैः शनैः उनसे पृथक् हो गया हो; लेकिन उसमें उस गुण के सिवा और कुछ नहीं था, जो इन सब में पाया जाता था यद्यपि जिनके लिये यह शब्द लगाया गया है उनमें वह गुण मिले या न मिले। यह ख्याल नहीं करना चाहिए कि जब आकाश और पृथ्वी को एक बार अमर देवताओं की अथवा दैवी माता पिता या प्राकृतिक नियम संरक्षकों की पदवी तक पहुँचा दिया, तो वे सदा के लिए मनुष्यों की धार्मिक भावनाओं में स्थित होगए, बल्कि जब दूसरे देवताओं के रूप बन गये और ऐसे देवताओं को लोग मानने लगे, जिनमें स्पष्ट मानुषी लक्षण थे, तो वैदिक ऋषियों ने प्रश्न उठाया कि आकाश पृथ्वी को किसने बनाया है? इस समय आकाश पृथ्वी का वह रूप माना गया, जो प्रत्येक

दिन दिखाई देता है और जो प्राकृतिक संसार का एक भाग है । एक ऋषि कहता है कि (ऋ० वे० मं० १ । १६०,४ ।) वह अवश्य सब देवताओं में अधिक कुशल शिल्पकार था, जिसने इन पृथ्वी और आकाश जैसी दो चमकीली चीज़ों को बनाया है । इनसे सब चीजों को आनन्द होता है । जिसने इन दोनों को अपनी बुद्धिमत्ता से बनाया है और उन्हें अटल स्थानों पर स्थापित कर दिया, वह कौन देवता है ? एक दूसरा कवि कहता है (ऋग्वेद मंत्र ४ । ५६ । ३ ।) वह बड़ा कुशल शिल्पकार है, जिसने पृथ्वी और आकाश को बनाया है । वह बड़ा बुद्धिमान् है, जिसने अपनी शक्ति से इन दोनों को बनाकर विस्तृत और गम्भीर निराश्रय आकाश में स्थापित कर दिया है ।

शीघ्र ही पृथ्वी और आकाश को बनाने का कठिन काम और ऐसे ही सब बड़े बड़े काम इन्द्र के किये माने गये, जो सब देवताओं में बलवान् है । पहिले ही यह पढ़ते हैं कि इन्द्र ने, जो यूनानी देवता जूपीटर के समान आदि में था, अथवा सृष्टि का देवता था, आकाश और पृथ्वी को † चमड़े के समान फैला दिया, वही उन्हें अपने ‡ हाथ में थामे हुए है । वह आकाश और पृथ्वी को स्थापित * रखता है, और वह अपने भक्तों को पृथ्वी और आकाश का दान देता है + ।

† ऋग्वेद ८ मंत्र ६, ५ ।

‡ ऋगवेद ३ मंत्र ३०, ५ ।

* ऋग्वेद ३ मंत्र ३२, ८,

+ ऋग्वेद ३ मंत्र ३४, ८,

कुछही पीछे इन्द्र की यह प्रशंसा होने लगी कि उसने पृथ्वी और आकाश को बनाया है। तत्पश्चात् जब यह याद आई कि पृथ्वी और आकाश पहिले देवताओं के माता पिता माने जा चुके हैं और इन्द्र के भी माता पिता माने गये हैं, तो वैदिक ऋषि यह कहने लगे × कि हमारे पहिले के कौन ऋषियों ने तुम्हारी महिमा का पार पाया है! तुमने ही अपनी देह से अपने माता पिता को उत्पन्न किया है। यह बड़ा टेढ़ा सवाल था, लेकिन जो देवता यह काम कर सकता था वह पीछे क्या नहीं कर सकता था। एक दूसरे कवि ने कुछ कम उद्दंडता के साथ कहा है * इन्द्र आकाश और पृथ्वी से बड़ा है और पृथ्वी और आकाश मिलकर इन्द्र के आधे भाग हैं। फिर एक मंत्र में कहा है। द्यौ देवता इन्द्र के सामने वन्दना करता है। यह विशाल पृथ्वी अपने विस्तृत देशों सहित इन्द्र के सामने सिर नवाती है। (ऋ० वे० मं० १।१३१, १) तेरे प्रभाव के उदय होने पर द्यौ कांपने लगा और पृथ्वी तेरे क्रोध के डर से हिलने लगी †। एक मतानुसार आकाश और पृथ्वी सब में बड़े देवता थे और वेही सब वस्तुओं के, बल्कि इन्द्र और दूसरे देवताओं के भी उत्पन्न करने वाले थे। दूसरे मतानुसार प्रत्येक देवता जो किसी न किसी समय सब में बड़ा माना गया था, पृथ्वी और आकाश का बनाने वाला भी था और इस तरह आकाश और पृथ्वी से भी बड़ा था। याने पुत्र बाप से बड़ा हो गया, बल्कि

× ऋग्वेद १० मंत्र ५४, ३,

* ऋग्वेद १ मंत्र ३०, १,

† ऋग्वेद ४ मंत्र १७, २,

बाप का भी बाप बन गया। आकाश और पृथ्वी का उत्पन्न करने वाला देवता केवल इन्द्र ही नहीं था। * एक सूक्त में इनके बनाने वाले सोम और पूषन देवता हैं जो नामी देवताओं में से नहीं हैं। एक दूसरे सूक्त में इनका बनाने वाला हिरण्यगर्भ है † और तीसरे सूक्त में इनका बनाने वाला एक और देवता है, जिसका नाम ‡ धात्री या विश्वकर्मा कहा है। दूसरे देवता, जैसे मित्र और सविता जो सूर्य के नाम हैं आकाश और पृथ्वी को थामने के लिए प्रशंसित किये गये हैं और कभी कभी इसी पुराने देवता वरुण की प्रशंसा भी की गई है + ।

मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि इन देवताओं का वर्णन कैसी स्वतन्त्र रीति से किया गया है। विशेष कर यह बात ध्यान देने योग्य है कि कभी एक देवता और कभी दूसरा, देवताओं की मंडली में से बड़ी सुगमता और स्वाभाविकता से प्रधान बन बैठता है। प्राचीन वैदिक धर्म की यह विलक्षणता है और यह बात न तो अनेक देव-उपासना से मिलती है और न एक देव-उपासना से मिलती है। हम इन उपासनाओं को यूनानी और यहूदी धर्मों में और ही तरह पढ़ते हैं। यदि हम इस विलक्षण देव-उपासना के सिवा, जिसका कभी कोई देवता प्रधान हो जाता है और कभी कोई

* ऋगवेद २ मंत्र ४०, १,

† ऋगवेद १० मंत्र १२१, ९,

‡ ऋगवेद १० मंत्र १९०, ३,

+ ऋगवेद ६ मंत्र ७०, १,

दूसरा, वेदों से और कोई बात नहीं सीख सकते तो भी वेद का पढ़ना व्यर्थ नहीं है। यूनान, रोम और दूसरे देशों में अनेक देव-उपासना के बनने के पहिले यही दशा होगी, जो वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में देखी जाती है।

यह बात बिलकुल सही है कि हमारी दृष्टि में वेदों की कविता न तो सुन्दर ही है और न गम्भीर ही है, लेकिन यह शिक्षा प्रद अवश्य है। जब हम आकाश और पृथ्वी जैसे दो विशाल देवताओं को प्राचीन वैदिक धर्म में देखते हैं और यह बात मालूम करते हैं कि ये अपने समय में कैसे प्रभावशाली थे और पीछे नये और अधिक उद्योगी देवताओं के सामने कैसे अन्तर्हित हो गये, तो हमें शिक्षा मिलती है, जो और कहीं नहीं मिल सकती और वह यह है कि देवता किस तरह बनते और बिगड़ते हैं और यह कि उस अनन्त शक्ति को कैसे तरह तरह के नामों से पुकारा है, जिससे उसका ज्ञान मनुष्य के मन में हो सके और वह समझ में आसके। जब तरह तरह के नाम लेने पर कोई अर्थ नहीं सधा तब एक बेनाम का देवता माना गया, जिससे मनुष्य के हृदय की निरन्तर उत्पन्न होने वाली अभिलाषाएँ पूरी हो सकें।

पहिले मैंने आपको नदियों से सम्बन्ध रखनेवाली ऋचा का हवाला दिया था। अब मैं उस ऋचा का अनुवाद करके सुनाऊँगा। यदि नदियाँ देवता हैं, तो उनकी गणना पृथ्वी के देवताओं में होगी। इस ऋचा के सुनाने का कारण यह नहीं है कि उससे देवताओं के उत्पत्ति-विषय में कोई नया प्रकाश पड़ता है, बल्कि यह है कि इससे उन विचारों के

स्पष्ट होने में सहायता मिलती है, जो हम प्राचीन वैदिक ऋषियों और उनके समय की बातों के सम्बन्ध में करते हैं। जिन नदियों की स्तुति की गई है, वे पंजाब की सच्ची नदियाँ हैं और इस कविता से मालूम होता है कि कवि का भूगोल सम्बन्धी ज्ञान कहीं अधिक है (ऋ० वे० मं० १० सु० ७५)।

१—हे नदियो! कवि लोग तुम्हारी महिमा को इस वैवस्वत के स्थान में अर्थात् पृथ्वी में गावें। साथ ही साथ वे तीन धाराओं में निकली हैं, लेकिन सिन्धु नदी और सब घूमनेवाली नदियों से अधिक बलवान् है।

२—जब तू दौड़ी थी तो वरुण ने तेरे जाने के लिए मार्ग खोद दिया था। तू पृथ्वी की सीधी ऊँची चट्टानों पर जाती है और सब बहती हुई धाराओं के आगे नेता बनी है।

३—तेरा शब्द पृथ्वी से ऊपर आकाश तक पहुँचता है और तू अपनी अनन्त शक्ति से अपने प्रभाव का आदर कराती है। जब सिन्धु नदी साँड़ के समान नाद करती हुई आती है; तो ऐसा मालूम होता है कि बादलों की धाराएँ शब्द कर रहीं हैं।

४—हे सिन्धु! दूसरी नदियाँ तेरे पास ऐसे आती हैं, जैसे गायें अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए आती है। जब तू इन नीचे बहती हुई नदियों के सामने पहुँचती है तो तू ऐसी मालूम होती है जैसे कोई राजा युद्ध में सेना को दो विभागों में करके आगे को बढ़ता है।

संसार को भारत का सन्देश ।]

५—हे गंगे, हे यमुने, हे सरस्वति, हे सतलज, हे ऐरावती, मेरी स्तुति स्वीकार कर। हे मरुद्वृधा, असिक्नी के साथ सुन और हे * आर्जीकिया, वितस्ता सशोमा के साथ सुन।

६—पहिले तू तृष्टामा के साथ मिलकर आगे बढ़ती है, सुसर्तु, रसा और सेवती के साथ मिलती है और तब हे सिन्धु, तू कुभा के साथ मिलकर गोमती में मिलती है और महातनु से मिलकर क्रूमू से मिल जाती है जिसके साथ फिर तू आगे बढ़ती है।

७—अब विजयी सिन्धु नदी अपने अतिशय प्रभाव के साथ चमकती दमकती मैदानों में अपनी धाराओं को ले जाती है। यह शीघ्र से शीघ्र गामी है और एक सुन्दर घोड़ी के समान है, जो देखने लायक है।

८—घोड़े, रथ, वस्तु, सोना, ऊन, घास और अन्य पदार्थों से सुसज्जित सिन्धु नदी बड़ी शोभायमान और नव युवती दिखाई देती है, जो सुगन्धि पूर्ण फूलों के आभूषणों से ढकी हुई है।

९—सिन्धु ने अपने शीघ्र गामी रथ में घोड़े जोत लिये हैं। वह दौड़ में हमारे लिए जीतकर इनाम लावे। उसके रथ की बड़ी महिमा गाई गई है। वह रथ वास्तव में बड़ा है, और उसके वेग को कोई नहीं रोक सकता है। उसकी प्रतिभा अनोखी है और उसका बल अदम्य है।

* यास्क के मतानुसार आर्जीकीया विपाशा नदी का नाम है।

इस सूक्त में कविता का कुछ वैसा सौन्दर्य नहीं है, जैसा कि हमारी दृष्टि में सुन्दर शब्द का अर्थ है। लेकिन यदि आप इस सूक्त के बनाने वाले ऋषि के विचारों के समझने की चेष्टा करें तो मालूम होगा कि उसके रूपक शक्ति हीन और सामान्य नहीं हैं।

कल्पना कीजिये कि टेम्स नदी के किनारे गाँवों में किसान रहते हैं। इन किसानों में से जो टेम्स को बहुतसी अंग्रेजी नदियों के सिर पर सेनापति के रूप में जाती हुई देख सकता है और उन्हें किसी युद्ध या दौड़ में ले जाती हुई देखता है, वह किसान इन में एक नामी आदमी समझा जायगा। आज-कल यह बात आसान है कि इंगलैंड में सफ़र करते हुए उस देश की नदियों के मंडल का स्पष्ट दृश्य देख सकें, लेकिन तीन हज़ार वर्ष पहिले भारत वर्ष में, विशेष कर भारतवर्ष के उस भाग में, जिसमें इस कविता का बनाने वाला कवि रहता था, सफ़र करना कठिन था। वह एक दृष्टि ही में तीन बड़े बड़े नदी मंडलों की आलोचना करता है और नदियों को तीन बड़ी बड़ी सेनाएँ कहता है (यानी वे नदियाँ जो उत्तर पूर्व से उसमें मिल जाती हैं, और दूर की गंगा और यमुना आदि नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ।) नक्शे को देखिए, आपको मालूल होगा कि ये तीनों फ़ौजें कैसी दृढ़ अंकित हैं। लेकिन हमारे कवि के पास नकशा नहीं था। उसके पास ऊँचे ऊँचे पहाड़ थे, जिन पर चढ़कर उसने अपनी तीव्र दृष्टि से इन नदियों का निरीक्षण किया था। जो मनुष्य पहिले ही पहिल इन नदियों की तीन जाती हुई फ़ौजों को देख सकता है उसे मैं कवि ज़रूर कहूँगा।

इस सूक्त में दूसरी आश्चर्य जनक बात यह है कि इन छोटी बड़ी सबही नदियों के नाम बताये गये हैं । इससे मालूम होता है कि सभ्यता में अच्छी उन्नति हो गई थी और जो जातियाँ उत्तरी भारत में आ बसी थीं, उनके बीच में अच्छा मेल था । बहुत से बसने वाले उस नदी को, जिसके किनारे पर वे बसे थे नदी कहते थे । नदियों के बहुत से नाम हैं । नदी को दौड़ने वाली कहते हैं, सरसब्ज करने वाली कहते हैं, गरजने वाली कहते हैं, दहाड़ वाली कहते हैं । यदि उसमें थोड़ा कविता का रूपक मिला दीजिये तो नदी को इन वस्तुओं से उपमा दी गई है,तीर, घोड़ा, गाय, पिता-माता, पहरुआ और पर्वतों की पुत्री । बहुतसी नदियों के भिन्न भिन्न नाम हो गये और जब भिन्न भिन्न बस्तियों में आने जाने का व्यवहार अधिक होने लगा तब इस बात की अधिक आवश्यकता हुई कि कोई एक नाम बाँध दिया जाय इस तरह से किसी प्रान्त की नदियों का नामकरण किया गया और उन्हें लेख-बद्ध किया । हमारे इस सूक्त के बनाने के पहिले भारतवर्ष में ये सब बातें हो चुकी थीं ।

अब मैं आप से एक अत्यन्त कौतूहल जनक बात कहता हूँ । यहाँ पर हम एक कवि के कहे हुए, हिन्दुस्तान की नदियों के बहुत से नाम लिखते हैं । वह कवि ईस्वी सन् से १००० वर्ष पहले का है । फिर हम हिन्दुस्तान का नाम सिकन्दर बादशाह के समय में सुनते हैं और जो नदियों के नाम सिकन्दर के साथियों ने लिखे हैं वे प्राचीन वैदिक नामों से प्रायः सब ही सुगमता से मिलजाते हैं । यद्यपि सिकन्दर के साथी हिन्दुस्तान में अजनबी आदमी थे तथापि उन्हें ये

नाम एक विलक्षण भाषा और विलक्षण अक्षरों द्वारा मिले होंगे। इस प्रकार भारतवर्ष में नगरों के नाम की अपेक्षा नदियों के नाम सुगमता से मिल जाते हैं। अब हम जिसे दिल्ली या देहली कहते हैं, वह प्राचीन समय में इन्द्रप्रस्थ और पश्चात् शाहजहाँबाद कहलाता है। अवध अयोध्या का नाम है, लेकिन पुराने नाम साकेत को बिलकुल भूल गये हैं। पाटलि पुत्र, जिसे यूनानियों ने पालिमबोथा कहा है, पटना है।

मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वेदों में नदियों के जो नाम मिलते हैं अब भी वे ही नाम मिलते हैं, इस बात से मुझे ऐसा आश्चर्य हुआ है कि मैं प्रायः कहता हूँ कि यह बात नहीं हो सकती। कुछ न कुछ भूल है। सिन्धु और गंगा के नाम मिलने पर मुझे इतना आश्चर्य नहीं हैं। सिन्धुनदी प्राचीनकाल के व्यापारियों को जो जल और स्थल पथ से आते जाते थे, मालूम थी। स्काईलेक्स पुस्तों के देश से (वह नाम जो अफ़गान लोग अपने लिये देते हैं) सिन्धु नदी के मुहाने तक आया था। यह बात डेरियस हिस्तेपूसी के समय की है। (५२१–४८६)। इससे भी पहले के समय में हिन्दुस्थान और हिन्दुस्थान के रहने वाले नामसे मालूम थे। ये नाम सिन्धु से निकला है, जो उनकी सीमा पर की नदी है। पास की रहने वाली जातियां, जो ईरानी भाषा बोलती थीं 'स' की जगह 'ह' का उच्चारण करती थीं, जैसे फ़ारसी भाषा में होता है। इस तरह सिन्धु से हिन्दु बन गया और प्राचीन समय में ही ह का उच्चारण छूट गया इसलिए हिन्दु का इन्दू होगया और नदी का नाम इन्डोस होगया और इस जगह के रहने वालों को यूनानी लोग इन्डोई कहने लगे। इन्होंने पहले पहल इन्डिया

का नाम इरानियों से सुना था। सिन्धु का अर्थ पहले पहल विभाग करने वाला, रक्षा करने वाला, या बचाने वाला था। यह शब्द सिध् धातु से निकला है, जिसका अर्थ दूर रखना है। पहले यह शब्द पुल्लिंग था। पीछे स्त्रीलिंग होगया। ऐसी विशाल नदी का इससे बढ़िया क्या नाम रक्खा जा सकता था? क्योंकि यह नदी यहाँ के शान्ति पूर्वक रहने वालों को शत्रु जातियों के आक्रमण से बचाती थी। भारतवर्ष में आर्यों की प्राचीन बस्तियों का सामान्य नाम सप्तसिन्धव था। यद्यपि सिन्धु शब्द पहले पहल नदी के विशेषण के रूप में रक्खा गया था, तब भी भारतवर्ष के समस्त इतिहास में 'एक रक्षा करने वाली नदी' होगया।

(देखो ऋ० वे० मं ६ । १६, ५ समुद्रे ना सिन्धवः याद्‌मानाः । जैसे नदियाँ समुद्र में जाने के लिए उत्सुक रहती हैं)।

ऋगवेद के कुछ वाक्यों में सिन्धु शब्द का अनुवाद समुद्र शब्द से किया गया है। इस अर्थ के परिवर्तन का कारण देश की भूगोल सम्बन्धी परिस्थिति कही जा सकती है, कई स्थान ऐसी हैं जहां लोग तैर कर सिन्धु के इस किनारे से उस किनारे पर जा सकते हैं और कहीं ऐसी है कि उसके दूसरे किनारे तक आँख भी नहीं पहुँच सकती और ऐसी दशा में यह नहीं कह सकते कि यह नदी है या समुद्र।

हर एक मल्लाह को मालूम है कि सिन्धु नदी कहीं नदी के रूप में और कहीं समुद्र के रूप में बहती है। और इसलिए यह बात स्वाभाविक है कि सिन्धु नदी का अर्थ समुद्र के अर्थ में मिलजाय। सिन्धु और गंगा इन दो बड़ी नदियों के बीच में (गंगा का अर्थ है जाओ जाओ) बहुतसी छोटी छोटी नदियाँ हैं, और

इन में बहुतसी नदियों के नाम उन नामों से मिलते हैं जो सिकन्दर के साथियों ने बताये हैं । यमुना नदी टौल्मी को मालूम थी । प्लीनी ने इसका नाम जौमनेस् कहा है । एरियन ने भी इसे कुछ बिगड़े हुए जोबारेस नाम से पुकारा है । शुतुद्री या शतद्रु नदी, जिसका नाम सौ धाराओं में बहने वाली नदी हैं टौल्मी को मालूम थी । प्लीनी ने इसे सिडरस कहा है और मेगस्थनीज़ ने भी इसे एक यूनानी नाम से पुकारा है । + वेद में यह नदी विपाश नदी के साथ पंजाब की सीमा बनाती है । उस समय बहुतसी भयङ्कर लड़ाइयां हुई थीं और यह कह सकते हैं कि ये उसी जगह पर हुई थीं, जहां सन् १८४६ में सतलज का युद्ध सर ह्यू गफ़ और सर हेनरी हारडिंग ने लड़ा था। शायद विपाश नदी के किनारे से, जिस नदी को पीछे से विपाशा नदी कहने लगे और जो सतलज की उत्तर पश्चिमी शाखा है, सिकन्दर की फौज़ लौटी थी । तब इस नदी का नाम हिपासिस था । प्लीनी ने इसको हिपासिस * के नाम से पुकारा है, जो वैदिक शब्द विपाश से मिलजाता है । विपाश का अर्थ है जो पाशों से नहीं बंधी है । इसका नाम आजकल व्यास या बीजा नदी है । पश्चिम में दूसरी वैदिक नदी परुषणी है, जो परावदी के नाम से मशहूर है । स्ट्रैबे ने इस नदी को हेरोटीस कहा है और एरियन ने इस नाम को यूनानी नाम के रूप में हैड्रोटीस कहकर पलट दिया है । इस नदी को आजकल रावी कहते हैं । जिस समय दस राजाओं ने त्रितसू जातियों पर सुदास राजा के सेना

+ ऋग्वेद मंत्र ३ । ३३१,

* यास्क इसे आर्जिकिया कहता है ।

पतित्व में आक्रमण किया था उस समय इस नदी का पश्चिम जल काट कर उसे पार करने की चेष्टा की थी । परन्तु उनकी चेष्टा व्यर्थ हुई और वे सब नदी में नष्ट होगये (ऋ० वे० मं० ७ । १८, ८, ६) । अब हम दूसरी नदी को बताते हैं, जिसका नाम असिक्नी है । असिक्नी का अर्थ काला है । इस नदी का दूसरा नाम चन्द्रभागा था, जिसका अर्थ चन्द्रमा की प्रभा है । यूनानी लोग इस नदी को एक ऐसे यूनानी नाम से पुकारते थे, जिसका अर्थ सिकन्दर को भक्षण करने वाली नदी था । हैसीकियस लिखता है कि इस अशकुन को दूर करने के लिए सिकन्दर ने इसका नाम दूसरा रख दिया, जिसका अर्थ आराम पहुँचाने वाली है । लेकिन वह यह लिखता नहीं है जैसा कि वेदों से मालूम होता है कि जो नाम सिकन्दर ने रक्खा था वह एक दूसरी नदी के नाम का अपभ्रंश था और इसी नाम के आधार पर उसने असिक्नी नदी को इस यूनानी नाम से पुकारा । आजकल इस नदी का नाम चिनाव है । असिक्नी नदी के अलावा एक दूसरी वैदिक नदी वितस्ता है, जिसका यूनानी भाषा में हैडेसपीड नाम है । यह पंजाव की नदियों में अंतिम नदी है । सिकन्दर अपने जहाजों का वेड़ा इन्डस में भेजने और फौज को वेविलन में वापिस करने के पहले इसी नदी पर लौट गया था । आजकल इस नदी का नाम झेलम या वेहत है ।

मैं और भी कई वैदिक नदियों के नाम बता सकता हूँ; जैसे कूमा नदी, जिसका यूनानी नाम कोकैन और आजकल का नाम काबुल नदी है । लेकिन जो नाम मैंने वेदों से सिकन्दर के समय तक ढूंढ़ निकाले हैं और कई हालतों में सिकन्दर

के समय से इस समय तक ढूंढे हैं उन्हें बताने के लिए वेदों में वास्तविक और ऐतिहासिक अंश पर्याप्त हैं।

यदि यह समझो कि ये नाम वेद के पीछे के बनाये हुए हैं और इन्हें किसी ने सिकन्दर के आने के पीछे बना लिया है, तो इन नामों के मेल का क्या कारण बताया जा सकता है? ये ऐसे नाम हैं जिनका संस्कृत में अर्थ है और ये नाम यूनानी अपभ्रंश नामों से मिलते हैं। क्योंकि जिन लोगों ने ये नाम रक्खे हैं, वे संस्कृत नहीं जानते थे। इस सम्बन्ध में जाले और बनावट कैसे हो सकती है? मैंने इस सूक्त को दो कारणों से बताया है। एक तो यह कि इससे वैदिक ऋषियों की भूगोल-सम्बंधी दूरदर्शिता मालूम होती है। ये ऋषि उत्तर की ओर बर्फ से ढके हुए पहाड़ों से पश्चिम की ओर सिन्धु नदी और सुलेमान पहाड़ों की श्रेणियों से दक्षिण की ओर सिन्धु या समुद्र से और पूर्व की ओर गंगा और यमुना की घाटियों से घिरे हुए थे। इन सीमाओं के बाहर वैदिक ऋषियों को दुनियाँ का हाल नहीं मालूम था। दूसरा कारण यह है कि इस सूक्त से वैदिक समय से पहले का एक प्रकार का ऐतिहासिक हाल मिलता है। ये नदियाँ जैसी हमें दिखाई देती हैं, वैसी ही सिकन्दर और मेसोडोनिया के रहने वालों को दिखाई देती थीं और वैसे ही वैदिक ऋषियों को। यहाँ हमें ऐतिहासिक परम्परा मिलती है जो लगभग एक जीता जागता प्रमाण है। यह हमें बताता है, कि वे मनुष्य जिनके गीत आज तक एक आश्चर्यमय रूप में संरक्षित रहे हैं, असली मनुष्य थे और उन में पृथक् पारिवारिक संस्थाएँ थीं, पुजारी थे, भेड़ों के झुंड रखने वाले गड़रिये थे जो पहाड़ियों और घाटियों में

इधर उधर बसे हुए थे उन की बस्तियों के चारों तरफ़ घेरे या बाड़ियां थीं और आवश्यकता के लिए थोड़े किले भी थे। ये स्वतन्त्रा पूर्वक इस पृथ्वी पर अपना जीवन निर्वाह करते थे। उस समय के जीवन में ऐसी आपस की धींगा धाँगी और जीवन-निर्वाह के लिये बखेड़ा नहीं था। ये गर्मी, जाड़ें, वसंत ऋतु में प्रतिवर्ष एक से रहते आते थे और सूर्योदय से सूर्यास्त तक इनके विचार अपनी चरागाहों और कुंजों से परे, जिन्हें वे बहुत पसन्द करते थे, पूर्व में एक ऐसी दुनियां की ओर उठते थे, जहां से वे आये थे और पश्चिम की एक ऐसी दुनियां की ओर, जिधर वे खुशी से जाने वाले थे। उनका धर्म बड़ा सादा था और अभी तक नियम बद्ध नहीं हुआ था। वे यह जानते थे, कि इस दुनियां से परे कोई एक दुनिया और है। इसके नाम रखने में उन्होंने यथा शक्ति चेष्टाएँ की थीं और इस प्रकार एक धर्म मत बनाने का प्रयत्न किया था। उन्हें अभी ईश्वर का नाम जैसा कि हम समझते हैं नहीं मिला था, बल्कि देवताओं का सामान्य नाम तक नहीं मिला था। लेकिन उन शक्तियों को समझाने के लिए जिनका ये प्रकृति में अनुभव करते थे, उनने किन्हीं दृष्टिगोचर चिन्हों द्वारा नाम रखने का प्रयत्न किया था। इन शक्तियों का पूरा और असली रहस्य उन्हें वैसा ही अज्ञात और अदृश्य रहा जैसा हमें आज है।

षष्ठ अध्याय ।

वैदिक देवता ।

प्रकृति का दूसरा चमत्कारी दृश्य, जो वेद में पृथ्वी के देवता के रूप में माना गया है, अग्नि देव है। संस्कृत शब्द अग्नि और लैटिन शब्द इगनिस है। अग्नि की पूजा और स्तुतियों से हम मनुष्य के इतिहास में एक ऐसे समय का पता लगाते हैं जब जीवन की आवश्यक वस्तुएँ ही नहीं बल्कि जीवन भी अग्नि उत्पन्न करने के ज्ञान पर निर्भर था। अब हमारा अग्नि से ऐसा परिचय होगया है कि हम नहीं समझ सकते कि अग्नि के बिना हमारा जीवन निर्वाह होना कैसे असम्भव हो सकता है। पृथ्वी के प्राचीन निवासियों ने अग्नि को कैसे वश में किया

यह बात जानने योग्य है। वैदिक ऋषियों का कथन है कि अग्नि पहिले पहिल विद्युत रूप में आकाश से आई, परन्तु वह फिर चली गई। तब मातृश्वन उसे फिर लौटा लाया और उसने इसे भृगुगोत्र के मनुष्यों को रक्षा के लिए दे दिया। दूसरे मंत्रों में हम अग्नि की उत्पत्ति लकड़ी के दो टुकड़ों के रगड़ने से पाते हैं और यह आश्चर्य की बात है कि उस लकड़ी का नाम, जिसके रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हुई थी, संस्कृत में प्रमन्थ है, जो हून के लेखानुसार यूनानी भाषा के प्रोमेथियस शब्द से मिलता जुलता है। अग्नि को वश में करना चाहे वह उसे पवित्र समझ कर अग्नि कुण्ड में रक्षित रखने से हो, चाहे इच्छानुसार लकड़ियों के टुकड़े रगड़ कर उत्पन्न करने से, प्राचीन सभ्यता विकास में एक बड़ी उन्नति है। इससे लोगों को कच्चा खाने के बदले खाना पकाने की सुविधा हुई। इसके द्वारा वे रात में अपना काम कर सके और शीत देशों में वे अपने आपको बर्फ़ द्वारा गलने से बचा सके। इस लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अग्नि की ऐसी प्रशंसा और पूजा की गई और यह अग्निदेव सब देवताओं में श्रेष्ठ और अधिक कृपालु माना गया। यह देवता आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आ बसा था। वह मनुष्यों का हितकारी मित्र था, देवताओं का दूत था, और मनुष्य और देवताओं के बीच में मध्यस्थ था। वह नाशवान मनुष्यों के बीच में अमर था। कहा जाता है कि उसी ने आर्य लोगों के उपनिवेसों की रक्षा की और उसी ने कृष्ण वर्ण शत्रुओं से उन्हें बचाया। कुछ काल पीछे वैदिक ऋषियों ने अग्नि को प्रकाश और ताप के रूप में माना, और अग्नि की उपस्थिति

अग्नि कुंड और वेदी ही में नहीं बल्कि ऊषा में, सूर्य में और सूर्य्य से परे लोक में भी मानी। उन्होंने केवल पृथ्वी के कंद, मूल, फलादि पकाने में ही अग्नि की शक्ति नहीं मानी बल्कि उसकी शक्ति को मनुष्य के शरीर के जीवन में और एक प्रकार की उष्णता में भी मानी। इन विचारों से अग्नि को दूसरी शक्तियों के समान एक महान् देवता के रूप में माना। इस के विषय में कहा गया है कि वास्तव में इसी ने पृथ्वी और आकाश को फैलाया है। उसके विषय में ऐसा समझना स्वाभाविक है, क्यों कि प्रकाश के बिना पृथ्वी और आकाश अदृश्य रहते और उनमें कोई भेद न रहता। एक और वैदिक ऋषि यह कहते हैं कि अग्नि अपने प्रकाश-द्वारा आकाश को ऊँचा उठाए हुए और दोनों लोकों को पृथक् पृथक् रक्खे हुए हैं। अन्त में अग्नि को पृथ्वी और आकाश का जन्मदाता और पिता कहा गया है और पृथ्वी पर जितनी वस्तुएँ चल फिर और उड़ सकती हैं अथवा जो चल और अचल हैं, उन सब का बनाने वाला अग्नि ही को माना है।

यहाँ हमारे नेत्रों के सामने फिर वही विकास-क्रम है। किसी घटना के कई या एक बार होने पर—जैसा किसी वृक्ष अथवा समस्त वन का बिजली से नाश होने पर अथवा लकड़ियों को आपस में रगड़ने से उन से चिनगारी की उत्पत्ति होने पर जंगल में या गाड़ी के पहिये में अथवा इच्छानुसार दो लकड़ियों के रगड़ने में चिनगारी दिखने पर पहिले पहिल मनुष्य को डर मालूम हुआ। इस अद्भुत दृश्य से मनुष्य को पहिले पहिल आश्चर्य हुआ। यद्यपि यह प्रकृति की एक साधारण और स्वाभाविक घटना है। मनुष्य इस शक्ति के

प्रभाव को देखने लगा और तब उसका कारण खोजने में अटकल करने लगा और सोचते सोचते उसने यह बात निश्चित की कि यह भी मनुष्य के समान कोई कार्यकर्ता है, मनुष्य ही के समान नहीं बल्कि मनुष्य से उच्चकोटि का कार्य कर्ता है। इस प्रकार अग्नि के रूप का विचार बढ़ता गया और प्रचार में आता गया। वह ऊँचा होता गया और समझ से परे होने लगा और अन्त में अग्नि देवता रूप होगया। अग्नि, प्रकाश और उष्णता के बिना संसार में जीवन असम्भव था, इसलिए अग्नि को मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि में जीवन देने वाला देव मानने लगे और जब एकबार प्रकाश, जीवन और सब वस्तुओं के लिए अग्नि की प्रार्थना करने लगे तो क्या आश्चर्य है कि कुछ ऋषियों के मतों में या किन्हीं ग्राम वासियों की परम्परा में उसे सब देवताओं के ऊपर सर्व देवता की पदवी दे दी गई।

अब हम उन शक्तियों का हाल बताते हैं, जिन्हें प्राचीन ऋषियों ने वायु में, बादलों में, विशेष कर उन प्राकृतिक दुर्घटनाओं में माना है, जो बिजली, गरज, अन्धकार, तूफान और जल वृष्टि के द्वारा मनुष्य को यह बात स्पष्ट बताती हैं कि इस जगत् में वही अकेला नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि धर्म की उत्पत्ति, भय और डर ही से हुई है और यदि बादलों की गरज और बिजली हमें डर न दिलाती तो हम किसी भी देवी देवता को न मानते। यह अतिशय पूर्ण और एक पक्षीय विचार है। यह सत्य है कि बादलों की गरज और तूफान से मनुष्य के हृदय में डर और भय के भाव बहुत कुछ उत्पन्न हो गये और मनुष्य को अपनी निर्बलता और

आधीनता मालूम होने लगी। वेद में भी एक स्थल पर इन्द्र कहता है कि यह ठीक है कि जब मैं बिजली और गरज का दृश्य दिखाता हूँ, तभी तुम मुझ पर विश्वास करते हो। जिस को हम धर्म कहते हैं उसकी उत्पत्ति डर और भय से कभी नहीं हो सकती है। धर्म का अर्थ विश्वास है और आदि में यह विश्वास उन घटनाओं और भावों से उत्पन्न हुआ होगा जो मनुष्य के हृदय और मन में प्रकृति के नियम और चमत्कार देखने से उद्भूत हुए होंगे। विशेष कर ऐसी नियम बद्ध घटनाओं के अवलोकन से जैसे सूर्य का बार बार उदय होना, चन्द्रमा का घटना बढ़ना, ऋतुओं का क्रम बद्ध होना, सब वस्तुओं में कार्य कारण नियम को क्रमशः देखना और इस कार्य कारण शृंखला को अन्त में सब कार्यों के अन्तिम कारण की सीमा तक लेजाना, उसे हम किसी भी नाम से क्यों न पुकारें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्युत और विद्युत् सम्बन्धी आकाश की हल चल एक ऐसा कारण था, जिसने देवताओं की उत्पत्ति में बहुत कुछ भाग लिया है और वैदिक ऋषियों की कविता में इन देवताओं की बहुत ऊँची पदवी है। यदि हम से पूछा जाय कि वैदिक काल का सब से मुख्य देवता कौनसा है तो उस कविता को देखते हुए जो अब तक हमें मिली है हम कह सकते हैं कि वह देवता इन्द्र था, जो नीले आकाश का स्वामी है, बादलों का संग्रह कर्ता है, वृष्टि करने वाला है, बादलों की कड़क का उत्पन्न करने वाला है, अंधकार और अंधकार की सब शक्तियों का जीतनेवाला है, जीवन, बल और नई शक्तियों का स्रोत है, और समस्त जगत का स्वामी

और अधिष्ठाता है। वेद में इन्द्र के विशेषण इससे भी अधिक दिये हैं। बहुत से ऋषियों के मंत्रों में वह सब से बड़ा माना गया है। भारतवर्ष में प्राचीन ग्रामीण संस्थाओं ने उसको बहुतसी स्तुतियों में ऐसाही माना है। उसके मुकाबिले में दूसरे देवता निर्बल और वृद्ध समझे गये हैं। द्यौ अर्थात् प्राचीन आकाश जो पहिले सब देवताओं का पिता माना जाता था और इन्द्र का भी पिता था, उसके सामने झुकता है और पृथ्वी उसके आगमन से काँपती है। ऐसा होने पर भी इन्द्र की आज्ञा में सब देवता वैसे नहीं थे जैसे यूनानी के पौराणिक देवता जूपीटर की आज्ञा में थे। और वेद के देखने से हमें उस प्राचीन काल में भी ऐसे नास्तिक मिलते हैं, जो कहते हैं कि इन्द्र कोई चीज़ ही नहीं था।

युद्धों में इन्द्र के साथ वायु अर्थात् वात का प्रतिनिधि और मरुत जिसका अक्षरशः अर्थ विध्वंस करने वाला है, रहकर उसकी सहायता करते थे। कभी कभी वायु और इन्द्र में इतना मेल होजाता था कि कोई भेद ही नहीं रह जाता था।

वायु देवता के विषय में एक ऋषि का कथन है * कि उस का कहाँ जन्म हुआ ? उस की उत्पत्ति कैसे हुई ? वही सब देवताओं का जीवन है, वही समस्त संसार का बीजरूप है, यह देवता अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है। उसकी आवाज तो सुनाई देती है, परन्तु वह दिखाई नहीं देता।

* ऋग्वेद मंत्र १० । १६८ । ३-४

वायु की अपेक्षा मरुत् अधिक भयङ्कर है। वह भारत वर्ष के ऐसे तूफ़ानों का प्रतिनिधि है, जिनके आने पर हवा उड़ पड़ती है, धूल और बादल छा जाते हैं, क्षण मात्र में वृक्षों की पत्तियां गिर पड़ती हैं, उनकी शाखा काँपने लगती हैं, उनकी पीढ़ें हिल जाती, भूमि चक्कर खाती, पर्वत काँपते हुए मालूम होते, और नदियों में उद्वेग होने के कारण झाग आने लगते हैं। तब ऋषि लोग बताते हैं, कि मरुत् अपने कन्धों पर चितकबरी खाल डाले, लड़ाई की सुनहरी टोपियों पहने, सुनहरी बर्छियाँ हिलाते हुए, परूसों को घुमाते हुए, अग्नि बाणों को चलाते हुए, बिजुली और कड़क के बीच में अपने कोड़ों की फटकार बताते हुए आते हैं। वे इन्द्र के साथी हैं। कभी कभी इन्द्र के समान वे भी द्यौ या आकाश के पुत्र माने जाते हैं, किन्तु वे एक दूसरे भयावह देवता रुद्र और लड़ने वाले देवता के पुत्र हैं। इस देवता की स्तुति में भी बहुत से मंत्र कहे गये हैं। इस देवता में एक नया लक्षण और पाया जाता है। वह दूसरों का बचाने वाला और आराम पहुँचाने वाला देवता है। भारत वर्ष में ऐसे परिवर्तन बहुत स्वाभाविक हैं, जहां बहुत दिनों तक तेज़ धूप और उष्णता होने के पीछे बादलों की कड़क के साथ वृष्टि होती है, जिस से मनुष्य और पशुओं में नया जीवन आजाता है, स्वास्थ्य का नया संचार होने लगता है, निर्बलता और अन्य शारीरिक दोष दूर होजाते हैं।

ये और कई अन्य देवता, जैसे पर्जन्य और ऋभू, अन्तरिक्ष के देवता हैं। प्राचीन ऋषियों की कल्पना में जितने देवता आये हैं, उन सब में ये अधिक चञ्चल और उद्योगी

हैं । भारत वर्ष के काव्यों में पिछले समय में जिन नायकों का वर्णन है, उनका रूप प्रायः इन्हीं से संगठित किया गया है । युद्धों में, ये आकाश-युद्ध करने वाले देवता सर्वदा बुलाये जाते थे । युद्धों में इन्द्र प्रधान नेता होता है, जो दिव्य आर्यों की रक्षा करता है और भारतवर्ष के काले वर्ण वाले मूल निवासियों का नाश करता है । एक ऋषि लिखता है कि उसने ५० हज़ार काले दस्युओं को हराया है और उनके दुर्ग पुराने चिथड़े के समान छिन्न-भिन्न करदिये हैं । जैसे यहूदी भविष्यवक्ताओं ने जिहोवा की स्तुति की है, उसी प्रकार इन्द्र की स्तुति की गई है कि उसने अपने लोगों को उनके शत्रुओं से बचाया है । यह समता बड़ी आश्चर्य जनक है । एक मंत्र में लिखा है कि जब त्रित्सुओं का धार्मिक राजा सुदास दस राजाओं से लड़ता हुआ संग्राम में हार खा रहा था, तब इन्द्र ने एक पूर आई हुई नदी को घुटने तक कर दिया था और इस प्रकार सुदास राजा को बचाया था । दूसरे मंत्र * में हम पढ़ते हैं कि हे इन्द्र तू ने तुर्वीतिवाय्य के लिए बड़ी नदी को रोक दिया है, तेरी आज्ञा के अनुसार नदी चलती है; तूने नदियों को ऐसा बना दिया है कि उनका पार करना सुगम होगया है । बाइबिल में एक भजन इसी से मिलता जुलता है, जिसका आशय यह है कि उसने समुद्र के भाग कर दिये और उन्हें बीच में होकर निकल जाने दिया और समुद्र का पानी एक ढेर के समान अचल खड़ा रहा । कुछ और भी ऐसे वाक्य हैं, जिनसे वेद पढ़ने वालों को जौसुआ की लड़ाइयाँ याद आजाती हैं जिनमें सूर्य और चन्द्रमा तबतक अचल खड़े रहे थे जबतक

* ऋगवेद मत्र २ मं० १३-१२ मं० ४ । १९, ६ ।

कि उसके आदमियों ने अपने शत्रुओं से बदला नहीं ले लिया था। इसी तरह प्रोफ़ेसर कैगी के लिखने के अनुसार हम वेदों में पढ़ते हैं कि इन्द्र ने दिनों की एक लम्बी रात कर दी और सूर्य ने मध्याह्न काल के समय अपने रथ को खोल दिया × ।

इन्द्र की स्तुति में कुछ मंत्र ऐसे भी हैं, जिनमें उस का सम्बन्ध आकाश और वज्रपात से कुछ भी नहीं है। वह सब लोकों और जीवों का राजा बन गया है और आध्यात्मिक देवता होगया है, जिसकी प्रशंसा में कहा गया है कि वह सब कुछ देखता और सुनता है ‡ वही मनुष्यों में उच्च विचार उत्पन्न करता है। उसके बराबर कोई नहीं है, और न उस से कोई बड़ा है।

इन्द्र का नाम हिन्दुस्तान ही में पाया जाता है और ऐसा मालूम होता है कि यह नाम तब उत्पन्न हुआ था जब आर्य लोग पृथक् पृथक् शाखाओं में होगये थे। क्योंकि यह शब्द न यूनानी न लैटिन और न जर्मन भाषा में मिलता है। दूसरे वैदिक देवता जिनका मैं ने ज़िक्र किया है ऐसे हैं जो आर्य्यों के पृथक् पृथक् होने के पहिले बनगये होंगे। क्यों कि ये नाम बहुत कुछ परिवर्तित रूप में कभी यूनानी, कभी लैटिन कभी कैल्टिक, ट्यूटैनिक कभी स्लाबोनिक भाषा में मिलते हैं। नीचे के नामों का मिलान दूसरी भाषाओं में भी होता है:—

× ऋगवेद मं० ४। ३०, ३। मं० १०। १३८, ३।

‡ ऋगवेद मं० ८। ७८, ५।

वैदिक देवता	ग्रीक लैटिन और अन्य दूसरी भाषाओं में मिलते जुलते शब्द
द्यौ	ज्यूस या ज्यूपिटर
उषा	यूस
नक्ता	निक्स
सूर्य्य	हेलिओस
अग्नि	इगनिस
भग	बंग (पुरानी ईरानी)
	बोग्यू (पुरानी स्लावोनिक)
वरुण	यूरेनीस
वाक्	वौक्स
मरुत	मार्स (इटली भाषा में लड़ाई का देवता)

ये शब्द ऐसे हैं जिनमें समता स्पष्ट है लेकिन निम्न लिखित शब्दों में भी समता प्रमाणित की गई है।

सारमेय	हरमिस
द्युनिष्य	डिओनिसस
प्रमन्थ	प्रेमेथियस
ऋभू	अरफ़ीयस
शरण्यु	ऐरीनीस
पवन	पान

आर्यों की उत्तर पश्चिमी शाखा के मनुष्यों में आकाश, वृष्टि और मेघ-गर्जन के देवता इन्द्र का नाम नहीं मिलता है लेकिन एक दूसरे देवता का नाम मिलता है, जो कभी कभी इन्द्र का ही काम करता है। उसका नाम है इन्द्र पर्जन्यात्मा।

यह नाम वेद में बहुत कम मिलता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि पर्जन्य नाम इन्द्र के नाम से पहिले उत्पन्न होगया था, क्योंकि यह शब्द आर्य भाषा की दो शाखाओं में जो जर्मनी और बाल्टिक सागर के किनारों तक फैल गई थी, पाया जाता है।

कभी कभी पर्जन्य शब्द द्यौ की जगह आया है। अथर्ववेद के १२वें अध्याय के पहिले सूत्र और १२ वीं ऋचा में लिखा है कि पृथ्वी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। पर्जन्य पिता है। वह हमारी रक्षा करे।

दूसरे स्थल में (१२-१-४२) पृथ्वी द्यौ की स्त्री तो नहीं, पर पर्जन्य की स्त्री कही गई है।

अब यह विचार करना है कि यह पर्जन्य कौन और क्या है। इस पर बहुत कुछ वाद विवाद है कि पर्जन्य और द्यौ एक हैं, या पर्जन्य और इन्द्र जो द्यौ का उत्तराधिकारी है, एक हैं। वह आकाश का देवता है या मेघों का, या वृष्टि का।

मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह शब्द अर्थात् आकाश का देवता या मेघों का देवता एक ऐसा पुराना आर्य शब्द है कि हम वैदिक संस्कृत में भी इसका अनुवाद भूल किये बिना नहीं कर सकते हैं। जब हम प्राचीन संसार के विचारों को प्रकट करना चाहें, तो हमें उन्हें प्रकट करने के लिए आजकल के बोल चाल का उपयोग करना चाहिये। हम कितने भी सावधान क्यों न रहें लेकिन तब भी इस प्राचीन शब्द के जो पर्यायी शब्द कोषों में मिलते हैं पर जिन से उस शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं प्रकट होता उनसे हमें धोखा हो

सकता है । देव शब्द का अर्थ देवता है और पर्जन्य का अर्थ मेघ है । लेकिन 'पर्जन्यस्य देवः' संस्कृत वाक्य का अनुवाद मेघों का देवता नहीं हो सकता है । देवता होने का भाव अथवा दैवी शक्ति बाहर से लाकर मेघों में, आकाश में, अथवा पृथ्वी में नहीं मिलाई गई है बल्कि वह मेघ, आकाश और पृथ्वी के भीतर से ही उत्पन्न होती है और शनैः शनैः स्वतंत्र रूप से बनकर प्रकट होजाती है । प्राचीन भाषाओं में बहुत से शब्दों के स्पष्ट अर्थ नहीं हैं । बोलने वालों का जैसा अभिप्राय होता है उसी के अनुसार उनका अर्थ होजाता है । देवताओं के नाम भी प्राचीन भाषाओं में कुछ ऐसे ही अविकशित रूप के हैं । कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिन में पर्जन्य का अर्थ मेघ है और कुछ ऐसे हैं, जिन में उस का अर्थ वर्षा है । कुछ ऐसे वाक्य हैं, जिन में पर्जन्य शब्द द्यौ अथवा वायु के पराक्रमी देवता इन्द्र के लिए आया है । जो पौराणिक कथाओं को नियमित रूप में करना चाहते हैं उन को यह बात बड़ी अनियमित मालूम होगी और वास्तव में यह एक भूलसी मालूम होती है । परन्तु इसका कोई उपाय नहीं है । प्राचीन भाषा और प्राचीन विचारों का अनियमित रूप में होना ही एक लक्षण है और बजाय दोष निकालने के और यह शिकायत करने कि हमारे पूर्वज हमारे समान किसी बात को यथार्थ नियमित रूप में नहीं बताते थे, यह बात अधिक उपयोगी होगी कि जहाँ तक हम से बने उनकी भाषा और बोली को समझ और सीखलें ।

वेदों में कहीं कहीं ऐसे वाक्य भी हैं जहाँ पर्जन्य को सबसे ऊँचा देवता माना है । उसे द्यौ के समान पिता माना

है, उसे जीवन देने वाले देवता असुर के नाम से पुकारा है। असुर शब्द प्राचीन से प्राचीन और बड़े से बड़े देवताओं के सम्बन्ध में आया है। एक ऋषि कहते हैं * कि वह समस्त विश्व के ऊपर ईश्वर के समान शासन करता है, उसी में सब जीवों का आश्रय है और वही सब चर और अचर वस्तुओं की आत्मा है।

जो कुछ यहाँ पर्जन्य के विषय में कहा गया है उस से अधिक बड़े से बड़े देवता के लिए क्या कहा जा सकता है। यह बात होने पर भी हम कुछ मंत्रों में पाते हैं कि वह मित्र और वरुण के आधीन होकर, जो पृथ्वी आकाश के बड़े से बड़े शासन कर्ता और ऊँचे से ऊँचे देवता माने जाते हैं, पृथ्वी पर वृष्टि करने का काम करता है ×।

कुछ और ऋचाएँ ऐसी मिलती हैं, जिन में पर्जन्य का कोई रूप ही नहीं बताया गया है बल्कि वह केवल वर्षा या मेघ का नाम है।

इस तरह हम पढ़ते † हैं कि मरुत् दिन में भी बादलों के साथ अँधेरा कर देते हैं और ये बादल पानी को लाकर पृथ्वी पर बरसाते हैं। इस वाक्य में पर्जन्य का अर्थ बादल या मेघ है। यहाँ वह व्यक्तिवाचक नाम नहीं है, बलिक एक विशेषण संज्ञा है। कहीं कहीं यह शब्द बहुवचन में आता है वहाँ यह लिखा है, कि पर्जन्य पृथ्वी को पुनर्जीवित कर देते हैं +।

* ऋग्वेद मंत्र ७—१०१, ६।

× ऋग्वेद मंत्र ५—६३, ३, ६।

† ऋग्वेद मंत्र १—३८, ९।

+ ऋगवेद मंत्र १—१६४, ५१।

जब देवापि अपने भाई के लिए वर्षा होने की प्रार्थना करता है तब वह कहता है ‡ 'मेरी प्रार्थना के स्वामी आप चाहे मित्र हों या चाहे वरुण हों, या पूषण हों, मेरे यज्ञ में आइये। आपके साथ चाहे आदित्य हों, चाहें वसु हों, चाहे मरुत हों, शान्तनु के लिए बादल से मेह बरसाइये'। एक और स्थान में कहा है—वृष्टि के मेघ (पर्जन्य) को प्रेरित कीजिये।

कई स्थानों में हम देखते हैं कि चाहे हम पर्जन्य का अनुवाद मेघ से करें या वर्षा से करें अर्थ में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि जो वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं वे मेघों के लिए प्रार्थना करते हैं और जो कुछ लाभ वर्षा से है, वही मेघों से कह सकते हैं। एक मन्त्र बड़ा आश्चर्यप्रद है वह मेंडकों के लिये प्रयोग किया गया है। इसका आशय है कि वर्षा के आरम्भ में मेंडक सूखी तलैयों से निकल आते हैं, एक दूसरे से मिलते हैं और मिलकर टर्र टर्र शब्द करते हैं। इन मेंडकों की उपमा यज्ञ में वेद उच्चारण करने वाले पुरोहितों से दीगई। ऐसी उपमा का एक ऐसे ऋषि से दिया जाना, जिसके विषय में यह समझा जा सकता है कि वह स्वयं भी कभी न कभी ऐसा पुरोहित होता होगा, एक प्रशंसनीय बात नहीं है। यह कहा जाता है कि मेंडकों की आवाज़ को पर्जन्य पुनर्जीवित कर देता है। यहाँ पर्जन्य का अनुवाद वृष्टि शब्द से हो सकता है। सम्भव है कि पर्जन्य शब्द से ऋषियों का अभिप्राय मेघ से अथवा पर्जन्य देवता से हो।

‡ ऋग्वेद मंत्र १०—९८, १।

पर्जन्य की स्तुति में जो मंत्र कहे गये हैं, उनमें से मैं एक का अनुवाद करने की चेष्टा करूंगा। इन मंत्रों में पर्जन्य को देवता, अथवा ऐसा देवता जो मनुष्य जाति के मानसिक विकास की इस प्राचीन दशा में देवता बनाया जा सकता था, माना है। (ऋ० मं० ५ । ८३)

१—शक्तिशाली देवता को इन भजनों के द्वारा बुलाओ। पर्जन्य की स्तुति करो, सम्मान से पूजा करो, वह गरजते हुए वृषभ के समान है। वह बूँदों को इधर उधर बरसाता है और पौधों में बीज और फल उत्पन्न करता है।

२—वह वृक्षों को फाड़ डालता है, भूत प्रेतों को मार डालता है, उस के प्रचण्ड शस्त्र के सामने समस्त विश्व काँपता है। जब गर्जना करता हुआ पर्जन्य दुष्टों का विध्वंस करता है, तब उस के सामने निरपराधी भी भागजाते हैं।

३—जैसे रथ हाँकने वाला अपने घोड़ों को चाबुक से मारता है, उसी तरह वह भी वर्षा के दूतों को आगे बढ़ाता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षा से भर देता है, तब दूर दूर से सिंहों का नाद सुनाई देता है।

४—प्रचण्ड वायु चलती है, बिजलियाँ कड़कती हैं, पौधे फूट निकलते हैं और आकाश से मेह की वर्षा होती है। जब पर्जन्य पृथ्वी पर अपना बीज डालता है, तब समस्त संसार में अन्न उत्पन्न हो जाता है।

५—हे पर्जन्य! हमारी रक्षा कर। तू वह है जिस के कार्य के सामने पृथ्वी सम्मान से झुक जाती है; तू वह है, जिसके प्रभाव के सामने खुर वाले पशु इधर उधर भाग जाते

हैं; तू वह है, जिसके कार्य से पौधों में तरह तरह के रूप हो जाते हैं।

६—हे मरुत्! हमें आकाश से वृष्टि दो। बलवान् अश्व के समान धाराएँ बरसाओ, अपनी गरजना के साथ मेह बरसाते हुए यहाँ आओ। हे पर्जन्य, तुम्हीं जीते जागते देवता हो, तुम्हीं हमारे पिता हो।

७—तुम गर्जना करो, अपना शब्द-नाद करो। संसार को फला फूला बनाओ। अपने पानी भरे रथ के साथ हमारे चारों तरफ़ दौड़ो। अपनी पानी भरी मशकों को आगे बढ़ाओं। उनका मुँह खोलो और नीचे की तरफ़ करो। सब ऊँची नीची जगहों को एकसा करदो।

८—अपने बड़े डोल को खींचो और उसका पानी ढाल दो। वर्षा की धाराएँ खोल दो। पृथ्वी आकाश को पुष्टि से भर दो और गायों के चरने के लिए हरयाली करदो।

९—हे पर्जन्य! दहाड़ते हुए, गर्जते हुए जब तुम दुष्टों का नाश करते हो, तब पृथ्वी पर सब ही जीवधारी आनन्द पूर्ण होजाते हैं।

१०—तुमने मेह बरसाया है, अब बन्द करो। तुम ने मरुस्थलों को ऐसा बना दिया है कि हम उन में आ जा सकते हैं। तुमने चारे के लिए वनस्पति उत्पन्न करदी है और तुमने इस प्रकार मनुष्यों के दुःख दूर किये हैं।

प्राचीन वैदिक भजनों का यह एक बहुत अच्छा नमूना है। इस भजन में कोई अद्भुत बात नहीं और न कोई कविता के ही ऊँचे भाव हैं। तब भी मैं कह सकता हूँ कि

गाँव में जो हज़ारों आदमी रहते हैं और जिनका जीवन वर्षा ही पर निर्भर है, उनमें से बहुत कम ऐसे निकलेंगे, जो जल वर्षा के लिये ऐसी प्रार्थना रच सकें। भारतवर्ष में पर्जन्य के लिए यह स्तुति बनाई गई थी। तब से अब तक तीन हज़ार वर्ष हो चुके हैं। यह बात भी नहीं है कि इन ऋचाओं में कविता के भाव और प्राकृतिक दृश्य के वर्णन न हों। जिस ने उष्ण देशों में मेघ गर्जन सुना है, और प्रचण्ड वात का चलना देखा है वह इन वाक्यों की सचाई को जान सकता है। जिनमें बताया गया है कि आँधियाँ चलती हैं, बिजली कड़कती है, पौधों के फुल्ले फूट निकलते हैं और खुरदार पशु इधर उधर दौड़ते फिरते हैं। पर्जन्य के इस वर्णन में कि वह आकाश के कूप से पानी के डोल भर भर उनको पृथ्वी पर बार बार लुढ़काता है, एक बड़ा चमत्कारी वास्तविक दृश्य दिखाई देता है। इस भजन में शिक्षा-सम्बन्धी भाव भी हैं। जब प्रचण्ड वात नाद करती हुई चलती है और बिजली चमकती है और मूसलधार मेह बरसता है तो निरपराधी मनुष्य भी काँपते हैं और दुष्टों का नाश होजाता है। इस ऋचा में हम देखते हैं, कि कवि इस तूफान को प्राकृतिक कोप का ही विकास नहीं समझता था, बल्कि वह इस दृश्य में किसी उच्च शक्ति की भी स्थिति मानता था, जिस उच्च शक्ति के सामने निरपराधी भी डरते थे। क्योंकि उसके मतानुसार ऐसा कौन था जो सर्वथा निरपराधी हो।

यदि अब हम फिर पूछें कि पर्जन्य कौन और क्या है? तो उत्तर यह है कि पर्जन्य आदि में मेघ था, जिससे वर्षा होती है और जब इस पर विचार होने लगा कि वर्षा देने

वाला कौन है, तो मेघ उसका बाहरी रूप समझा गया या इस देने वाले का शरीर समझा गया और देने वाला और कहीं ही था। हम यह नहीं कह सकते कि वह कहाँ था।

कुछ ऋचाओं में पर्जन्य द्यौ (आकाश) की जगह आता है और पृथ्वी उसकी स्त्री है। अन्य स्थानों में पर्जन्य को द्यौ या आकाश का पुत्र † बताया है और उस समय इस बात का विचार नहीं किया गया है कि पर्जन्य इस तरह अपनी माँ का पति होजाता है। इसके सिवा हम यह भी देखते हैं, कि प्राचीन कवियों को इस बात पर भी आश्चर्य नहीं हुआ कि इन्द्र अपने पिता का भी पिता है। कहीं कहीं इस बात पर यह तो अवश्य कहा गया है कि यह बड़े आश्चर्य की बात है। कभी कभी पर्जन्य इन्द्र ‡ का काम करता है, कभी वायु का, कभी सोम का और कभी वर्षा करता है। तथापि वह न तो द्यो है, न इन्द्र है, न मरुत् है। वह एक पृथक् ही देवता है। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि वह आर्यों के पुराने से पुराने देवताओं में से एक है। पर्जन्य शब्द पर्ज धातु से निकला है। उस धातु से दूसरे शब्द पार्स और पार्श बने हैं। मेरी सम्मति में इन सब का अर्थ छिड़कना या भिगोना है। 'ज' के स्थान में 'स' या 'श' का आजाना एक साधारण बात मालूम होती है, लेकिन संस्कृत में ऐसे और भी उदाहरण हैं, जैसे पिञ्ज से पिञ्जर। पिष् का अर्थ रगड़ना है, पिश का अलंकृत करना है, मृज् का अर्थ मलना है और मृष् का अर्थ मिटाना या भूलना है और मृश् का अर्थ कुछ और ही है।

† ऋगवेद मं० ७-१०२। १।

‡ ऋगवेद मं० ८-६-१।

मृग् धातु से मृष्ट बनता है। जैसे यज् धातु से इष्ट और विश् धातु से विष्ट, इसी तरह द्रुह आदि कुछ और धातु हैं, जिनके अन्त में त या क इच्छानुसार हो सकता है जैसे धुत् या धुक्। इस प्रकार हम पर्जन्य शब्द की पर्ज धातु का मुकाबिला ऐसे शब्दों से कर सकते हैं; जैसे पृषत् या पृषति, जिसका अर्थ पानी की बूँद है। और भी ऐसे शब्द हैं, जैसे पृश्नि, जिस का अर्थ मेघ, पृथ्वी आदि हैं। इसी तरह ग्रीक भाषा में कुछ शब्द हैं। यदि पर्ज धातु से, जिसका अर्थ छिड़कना है, पर्जन्य बना है, तो उसका असली अर्थ पानी छिड़कने वाला या वर्षा करने वाला होगा। जब आर्य जाति के लोग एक दूसरे से पृथक् हुए थे, तो हिन्दू, यूनानी, सेल्टस, ट्यूटन और स्लेव जातियों के पुरखे बादल के लिए इसी शब्द को अपने साथ लेते गये होंगे। आप को यह भी जानना चाहिए, कि अपनी प्राचीन भाषा के भण्डार में से जिस एक शब्द को आर्य लोग अपने साथ लेगये, वह सब शाखाओं में ही संरक्षित न रहा। आर्यों की मुख्य सात शाखाओं में से ६-५-४-३-२बल्कि एक में ही रहा हो तो आश्चर्य नहीं। हम जानते हैं कि जब ये आर्य शाखाएँ पृथक् पृथक् होगईं और इन के पृथक् होने का समय हमारे इतिहास के प्रारम्भ होने का है, तो इन्हें फिर आपस में मिलने का कोई अवसर नहीं मिला। यदि आर्य भाषा की इन शाखाओं में से दो में भी एक शब्द उसी रूप और उसी अर्थ में मिलजाय, तो समझना चाहिए कि यह शब्द आर्यों के प्राचीन विचार भाण्डार में से लिया गया है।

पर्जन्य शब्द यूनानी, लैटिन या सैलटिक या ट्यूटेनिक भाषा में नहीं मिलता है। स्लैवोनिक भाषा में भी इसका पता

नहीं है । परन्तु लैटिन नाम की उपशाखा में से, जिसमें लिटेनियन, लैटिश और प्राचीन मृत प्रशियन भाषाएँ शामिल हैं, इसका कुछ पता चलता है। लिटूनिया इस समय कोई स्वतंत्र राज्य नहीं है, परन्तु ६०० वर्ष हुए वह एक ग्रांड डची राज्य था, जो रूस और पोलैण्ड से स्वतंत्र था। उसके पहिले ग्रांड ड्यूक का नाम रिंगोल्ड था और उसने सन् १२३५ से राज्य किया था। इसके पीछे गद्दी पर बैठने वालों ने रूसे पर आक्रमण करके सफलता प्राप्त की थी। सन् १३६८ में ड्यूक लोग पोलैंड के राजा होगये और सन् १५६९ में दोनों देश मिलकर एक होगये। जब पोलैंड रूस और प्रशिया के दर्मियान बँट गया, तो लिटूनिया का कुछ भाग रूस को और प्रशिया को मिला। रूस और प्रशिया में अब लगभग १५ लाख आदमी ऐसे हैं, जो लिटेनियन भाषा बोलते हैं और करलैंड और लिबोनिया में लगभग १० लाख ऐसे मनुष्य है, जो लैटिस भाषा बोलते हैं।

लिटूनियन भाषा में जैसी अब भी साधारण मनुष्य उसे बोलते हैं, बहुत से व्याकरण के शब्दों के रूप संस्कृत सरीखे हैं। और यह आश्चर्य की बात है कि ये रूप इतने थोड़े हैं। शेष भाषाएँ शताब्दियों बोले जाने के कारण परिवर्तित होगई हैं।

इस प्राचीन लिटेनियन भाषा में हमारे पुराने मित्र पर्जन्य ने आसय लिया है। आज तक वह उसी स्थान में हैं। यद्यपि हिन्दुस्थान की भाषाओं में लोग उसको भूल गये हैं। थोड़ी शताब्दियों के पहिले खीष्ट मतावलम्बी लोगों में अथवा ऐसे लोगों में जो कुछ न कुछ खीष्ट मतावलम्बी थे,

वर्षा के लिए ऐसी प्रार्थनाएँ पढ़ी जाती थीं, जैसी मैं ने आप को ऋग्वेद से अनुवाद कर के सुनाई है। लिट्ठूनियन भाषा में मेघों के देवता का नाम परक्यूनस है और इस शब्द का मेघ गरजन के सम्बन्ध में अभी तक प्रयोग होता है। पुरानी प्रशियन भाषा में मेघ गर्जना के लिए परक्यूनोस शब्द था और लैटिस भाषा में आज तक बादलों के देवता का नाम अथवा मेघ गर्जन के लिए परकोनस शब्द है। (इन सब शब्दों का कुछ न कुछ मेल पर्जन्य के साथ पाया जाता है)

मेरा विचार है कि ग्रिम साहब ने वैदिक शब्द पर्जन्य का पुरानी स्लैवोनिक भाषा के पेरून शब्द से, मौलिश भाषा के पिओरन शब्द से और बोहेमियन भाषा के पैरून शब्द से मिलान किया था। डोब्रोस और दूसरे लेखकों ने इन शब्दों को पेरू धातु से बनाया था, जिसका अर्थ 'मैं मारता हूँ' है। ग्रिम साहब ने बताया है कि परक्यूनस, पर्हेरकोनस और परक्यूनोस शब्दों के पूरे रूप लिट्ठूनियन, लैटिस और प्राचीन प्रसियन भाषाओं में थे, और मौर्डवीनियन ने भी अपने बादलों के देवता का नाम पौरग्यूनी रखलिया था। सिमन ग्रूनो, जिसने अपना इतिहास १५२१ में लिखा था, तीन देवताओं का उल्लेख करता है, जिन्हें पुराने प्रशियन पूजते थे। इन देवताओं के नाम पैटोलो, पैट्रिम्पो और परक्यूनो हैं। वह लिखता है कि परक्यूनो देवता आंधी चलाने के लिए बुलाया जाता था, जिसमें यथा समय मेह बरसे और अच्छी मौसम हो और मेघ गर्जन और बिजली से उन्हें हानि न पहुँचे। निम्न लिखित लिट्ठूनियन

भाषा की प्रार्थना लैटिसजी नामक लेखक ने हमारे लिए संरक्षित रक्खी है।

हे परक्यून, अपने आपको रोको और हमारे खेतों में आपत्ति मत करो। हम तुम्हें यह औज़ार भेंट में देते हैं। ऐस्थोनियन लोगों ने, जिन की भाषा अनार्य थी, और जो लेट जाति के पड़ौसी थे, अपने आर्य पड़ौसियों से बहुतसी बातें सीखी हैं। उनमें एक प्रार्थना पढ़ी जाती थी, जिसमें एक पुराने किसान ने वर्षा और मेघ के देवता पिकर या पिकिन की सत्रहवीं शताब्दी में प्रार्थना की है।

प्रिय मेघ! हम तुम्हें एक बैल भेंट करते हैं, जिस के दो सींग और चार फटे हुए खुर हैं। हम तुम से अपने हल जोतने और बीज बोने के लिए प्रार्थना करते हैं और यह भी प्रार्थना करते हैं कि हमारा भूसा ताँबे के से रंग का लाल हो और हमारा धान सुनहरी रंग का पीला हो। घने काले बादलों को बड़ी घाटियाँ, ऊँचे जंगल और बनों के ऊपर लेजा। लेकिन हम जोतने और बोने वालों को फली फूली फसल दे और अच्छा मेह बरसा। हे पवित्र मेघ देव! हमारे खेतों की रक्षा कर, जिनमें हम ने बीज बोये हैं, जिसके नीचे अच्छी प्यार हो और ऊपर नाज की अच्छी बालें लगें और बालों के भीतर अच्छा अनाज हो।

मैं आपको इस पुरानी कविता की प्रशंसा करने को नहीं कहता हूँ। चाहे यह कविता १७ वीं शताब्दी की ऐस्थोनियन गिरजों की हो, चाहे ईसा से १७०० वर्ष पहिले की सिन्धु नदी की घाटी की

हो। साहित्य जानने वाले लोग इन गँवारू कविताओं के विषय में कह सकते हैं कि ये कैसी हैं। मैं तो आप से यही कहता हूँ, कि क्या यह थोड़ी बात है कि उसी पर्जन्य देव की स्तुति, जो बादलों बिजली और वर्षा का देवता है, हिन्दुस्तान में सिकन्दर बादशाह के आने के हज़ार वर्ष पहिले हो और उसी की स्तुति दो सौ वर्ष नहीं हुए कि एशिया के पूर्वी भाग और रशिया के सीमा प्रान्त में लिट्टूनियन किसान करें और यह भी कि वही पुराना नाम परजन्य, जिसका अर्थ संस्कृत में मेह बरसाना है, लिट्टूनियन भाषा में परक्यूना नाम से चला आवे, हालाँकि इस भाषा में उसकी धातु का कुछ अर्थ नहीं है। बल्कि यह शब्द जैसा कि कुछ विद्वान् हमें विश्वास दिलाते हैं, सूक्ष्म रूप में बहुत सी स्लैवोनिक उप-भाषाओं में भी चला आवे, जैसे कि पुरानी स्लैवोनिक बोली में परुन शब्द, पौलिश भाषा में प्योरन और बोहेमियन भाषा में परून शब्द, जिन सब का अर्थ मेघ गर्जन से है!

ये बातें ऐसी आश्चर्यजनक हैं, जैसा कि मनुष्यों की हड्डियों के पिञ्जरों में फिर अकस्मात रक्त होना या मिश्र देश के काले पत्थर की मूर्तियों में बोलने की शक्ति का फिर से आ जाना। आधुनिक विज्ञान के प्रकाश के द्वारा पुराने शब्दों में, जिन्हें चाहे आप मृतक शरीर समझिये, या मूर्तियां समझिये, नई जान फिर आती जाती है। देवता और शूरवीरों के पुराने नाम बोले जाने लगे हैं और सार्थक हो गये हैं। जो कुछ पुराना था नया होता जाता है और जो कुछ नया था पुराना होता जाता है और एक शब्द परजन्य से उस गुफ़ा या झोंपड़ी का द्वार हमारी आंखों के सामने जादू के समान खुल

जाता है, जिसमें हमारे पुरखे अर्थात् आर्य जाति के पूर्व पुरुष, चाहे वे बाल्टिक समुद्र पर चाहे इण्डियन समुद्र पर रहते हों, एक साथ रहते थे और पर्जन्य-वृष्टि-धाराओं से अपने आपको बचाते हुए कहते थे—हे पर्जन्य, तुमने वर्षा की है। तुमने रेगिस्तानों को चलने लायक़ बना दिया है, तुमने पौधों को उगा दिया है और तुम्हारी स्तुति आदमियों ने की है।

अब हम पृथ्वी और आकाश के देवताओं के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के देवताओं पर विचार करते हैं। ये देवता उच्च स्वर्ग लोक के हैं और वायु और मेघों के लड़ाके और चलते हुए देवताओं की अपेक्षा अधिक शान्त स्वभाव वाले हैं। ये मनुष्यों की दृष्टि से अधिक दूर हैं और इसलिए पृथ्वी या वायु के देवताओं की अपेक्षा अधिक शान्त प्रभाव डालने में अधिक शक्ति शाली हैं।

इन में मुख्य देवता स्वयं प्रकाशमान हैं, जो प्राचीन द्यौ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस की पूजा आर्य लोगों के पृथक् पृथक् होने और उनकी भाषा की शाखाएँ होने के पहिले से चली आती है। यूनान में इसकी पूजा जिअस् के नाम से, इटली में जूपिटर (Jupiter) के नाम से, ट्यूटॉनिक जातियों में टीर और टियू (Tyr & Teu) के नाम से होती रही। वेद में इसकी पूजा पृथ्वी के साथ होती थी अर्थात् द्यावा पृथ्वी के नाम से। केवल द्यौ का आह्वान होता है, परन्तु इस की मानता घट गई और इसकी जगह अधिक युवक और उद्योगी देवता इन्द्र की मानता बहुत से वेद मंत्रों में की गई है।

उच्चतम आकाश का एक दूसरा देवता जो सब वस्तुओं की रक्षा करता है और सब को ढके हुए है, वरुण है, जो वर् धातु से, जिसका अर्थ ढकना है, निकला है और जो यूनानी देवता ऑरेनोस (Ouranos) की बराबर है। हिन्दू कल्पना शक्ति की रचनाओं में से इस देवता की रचना बड़ी विलक्षण और मनोरञ्जक है। यद्यपि हम उस प्राकृतिक आधार को जानते हैं, जिस से इसकी उत्पत्ति हुई है, अर्थात् विशाल तारागण संयुक्त प्रकाशमान आकाश, जो हमारे ऊपर है, तथापि अन्य वैदिक देवताओं की अपेक्षा उसका रूप सर्वथा ही परिवर्तित होगया है, और वह हमारे सामने ऐसा देवता बनकर उपस्थित होगया है जो समस्त विश्व की रक्षा करता है, दुष्टों को दंड देता है और जो उससे क्षमा की प्रार्थना करते हैं उनके पापों को क्षमा कर देता है। उसके स्तुति-सम्बन्धी मंत्रों में से एक मंत्र को मैं यहाँ सुनाता हूँ। (ऋग्वेद २ मं० २८)

हे वरुण ! हमें अपनी पूजा में कृतार्थ कर, क्यों कि हम आपका ध्यान और आप की स्तुति ही सर्वदा करते रहते हैं। शोभा सम्पन्न उषा के उदय होने पर वेदियों पर की प्रज्वलित अग्नि के समान हम प्रतिदिन आपकी ही वन्दना करते रहते हैं।

हमारे पथ-प्रदर्शक हे वरुण ! आप शूर वीरों के स्वामी हो और आपकी प्रशंसा दूर दूर तक होती है। हमें अपनी रक्षा में रक्खो। हे देव, हे अदिति के अविजय पुत्र! हमें अपने मित्रों के समान मानो।

विश्व-शासक आदित्य ने इन नदियों को भेजा है। वे वरुण की आज्ञानुसार चलती हैं। वे न थकती हैं और न चलने से बन्द होती हैं। पक्षियों के समान वे सर्वत्र शीघ्र चली जाती हैं।

हे वरुण! हमारे पापों को बेड़ियों के समान दूर कर। हम आप के नियमों के स्रोत की वृद्धि करेंगे। जब तक मैं अपनी स्तुति रच रहा हूँ, तन्तु को मत काट दो। समय के पहिले ही कार्य करने वाले के रूप को नष्ट मत करदो।

हे वरुण! इस भय को मुझ से दूर करो। हे सत्य शासक देव! मुझ पर दया करो। जैसे बछड़े पर से रस्सी हटाली जाती है, वैसे ही मेरे पाप को मुझ से दूर कर दो। आपकी कृपा के बिना मैं एक पल भर भी नहीं रह सकता हूँ।

हे वरुण! जो अस्त्र आपकी इच्छा से दुष्टों पर आघात करते हैं, उनका प्रहार हम पर मत करो। जहाँ प्रकाश का अस्त होगया है, वहाँ हमें मत भेजो। हमारे शत्रुओं का नाश करो, जिससे हम जीवित रहें।

हे वरुण! हे पराक्रमशाली देव! हमने आपका स्तुति गान पहिले भी किया, अब भी करते हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। हे अविजय वीर, आप पर ही सब धर्म और नियम, पर्वतों की स्थिति के समान अचल स्थित हैं।

जो कुछ अपराध मैं ने किये हों, उन सब को मुझ से दूर करदो। हे स्वामिन्, मुझे दूसरों के किये हुए कर्मों का

दुःख न भोगना पड़े। बहुत सी उषाओं का अभी उदय नहीं हुआ है। हे वरुण! हमें उनमें रहने का वरदान दो।

आपने देखा होगा कि इन में कई जगह वरुण को आदित्य या अदिति के पुत्र के नाम से पुकारा है। अदिति का अर्थ अनन्त है, दिति का अर्थ बँधा हुआ है, अ का अर्थ 'नहीं' है। इसलिये अदिति का अर्थ बँधन रहित है, सीमा रहित है, सम्पूर्ण या अनन्त है। कहीं कहीं वेदों में अदिति को परा के नाम से पुकारा है। परा वह है, जो पृथ्वी, आकाश, सूर्य और उषा काल से परे है। धार्मिक विचारों के उस प्राचीन काल में ऐसे विचार का उत्पन्न होना अत्यन्त आश्चर्य जनक है। अदिति से भी, अधिक बार आदित्यों का नाम आया है। आदित्य अदिति के पुत्र हैं। वे देवता हैं, जो हमें दिखाई देने वाली पृथ्वी और आकाश के परे हैं। वे एक प्रकार के ऐसे देवता हैं जिनका आदि अन्त नहीं है। इन में से एक का नाम वरुण है, दूसरों का नाम मित्र, और अर्यमन (भग, दक्ष, अंश) है। इन में बहुत से कल्पनानुमानित नाम हैं, यद्यपि इन से यह पता लगता है कि इनके निकास का प्रथम स्रोत जिसको अब हम भूल से गये हैं आकाश और आकाश की सौर्य ज्योति थी।

जब मित्र और वरुण का साथ साथ आह्वान होता है, तो हम को अब भी किंचित मात्र मालूम होता है कि आदि में इनका अर्थ दिन और रात्रि अर्थात् आकाश और अंधकार था। परन्तु अपने व्यक्तिगत किन्तु शीघ्र परिवर्तनशील रूपों में दिन और रात्रि के रूप वैदिक देव-सम्बन्धी कथा में अश्विनो होगये, जिन का अर्थ है 'दो घोड़ों के सवार'।

अनन्त विशेषण युक्त अदिति का असीम उषा के साथ आदि में सम्बन्ध था । इस के कुछ चिन्ह अब भी बाकी रह गये हैं । लेकिन अपने व्यक्तिगत परिवर्तनशील रूप में उषा की प्रशंसा वेद-ऋषियों ने की है । इसी उषा को यूनान में इओस(Eos) कहते हैं । वह प्रातःकाल की रूपवती सहचरी है , उस से अश्विनी प्रेम करते हैं, वह सूर्य की प्रिया है लेकिन जब सूर्य अपनी हेम किरणो द्वारा उसका आलिङ्गन करना चाहता है, तभी वह उसके सामने से दूर भाग जाती है । सूर्य के रूप की झलक हम कई बार पहिले वायु, आकाश एवं पृथ्वी के दैवी स्वरूपों में देख चुके हैं । अब आकाश का सूर्य होकर अपने पूर्ण रूप में फिर दिखाई देता है और सूर्य, सवितृ, पुषन्, विष्णु तथा अन्य बहुत से नामों से ज्ञात होता है ।

अब आप को मालूम होगा कि आर्यों की सब देव-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं को केवल सौर्य रूपों में घटाना कैसी भूल है । हम अभी बता चुके हैं कि वैदिक आर्यों के प्राचीन धार्मिक और देव-कथा-सम्बन्धी भाण्डार की पूर्ति करने में पृथ्वी, वायु और आकाश ने कैसा बड़ा भाग लिया है । तब भी हम यह कह सकते हैं कि आर्यों के विचार के प्राचीन संग्रह में, जिसे हम देव-सम्बन्धी कथा-माला कहते हैं, सूर्यकी वहीं मध्यवर्ती और प्रभावशाली पदवी थी, जो अब हमारे विचारों में भिन्न भिन्न नामों के द्वारा है ।

जिसे हम प्रातःकाल कहते हैं, उसे प्राचीन आर्य लोग सूर्य या उषा कहते थे । जैसे गम्भीर भावों से सद्विचारी जीव उषा को देखता है, वैसा और किसी को नहीं । (ये शब्द

मेरे नहीं है, बल्कि हमारे बड़े से बड़े कवियों में से एक के हैं, जो सच्चे से सच्चे प्रकृति-उपासकों में से एक था अर्थात् जान रसकिन ।)

जिसे हम मध्याह्न काल कहते हैं, जिसे हम सायंकाल और रात्रि कहते हैं, जिन्हें हम वसन्त और शिशिर ऋतु कहते हैं, जिसे हम वर्षाकाल कहते हैं, जिसे हम प्राण कहते हैं, जिसे हम अनादि काल कहते हैं, उन सब को प्राचीन आर्य लोग सूर्य के नाम से पुकारते थे। तब भी विचारवान् लोग आश्चर्य से कहते हैं, कि यह कैसी कौतूहल-जनक बात है कि प्राचीन आर्यों में इतनी सौर्य गाथाएँ हैं। जब कभी हम Good-morning (शुभ प्रातःकाल हो) कहते हैं, तभी हम एक सौर्य गाथा का संगठन करते हैं। प्रत्येक कवि जब वह मई मास के प्रभाव से जाड़े की ऋतु को खेतों से फिर जाने का गीत गाता है, तब वह सौर्य गाथा का ही संगठन करता है। हमारे समाचार-पत्रों का प्रत्येक क्रिसमस विशेषाङ्क, जो पुराने वर्ष के जाने और नये वर्ष के आने की गानकथा सुनाता है, सौर्य गाथाओं से परिपूरित होता है। सौर्य गाथाओं से भयभीत मत होओ। जब कभी प्राचीन देव-संबंधी कथा-माला में आप को ऐसा शब्द मिले, जिस की खोज ठीक निरुक्त-नियमानुसार (यह बात परमावश्यक है) करते करते आप ऐसे शब्द तक पहुँच जावें, जिसका अर्थ सूर्य, उषा, प्रातःकाल, रात्रि, वसन्त ऋतु या शिशिर ऋतु हो, तो उसका जो अभिप्राय था, वही आप मान लें और इस बात पर अधिक आश्चर्य मत करें कि जो आख्यायिका सूर्य-स्तुति के सम्बन्ध में कही गई है, वह वास्तव में सौर्य गाथा ही थी।

प्रत्येक वस्तु को सौर्य गाथाओं में परिवर्तित करने की अतिशय चेष्टाएं, पौराणिक देव-कथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने वाले किया करते हैं।

इन चेष्टाओं का मुझ से ज्यादा कोई विरोधी नहीं है। लेकिन यदि मैं उन तर्क-युक्तियों को पढ़ता हूं, जो इस नये शास्त्र के विरोध में की जाती हैं तो मैं सच कहता हूं कि मुझे शताब्दियों पहिले की उन युक्तियों की याद आजाती है, जो पृथ्वी के दूसरी ओर रहने वालों के नास्तित्व में कही जाती थीं। इन युक्तियों में कहा जाता था कि लोग जरा अपनी अक्ल से भी तो काम लें, भला कहीं पृथ्वी के दूसरी ओर भी आदमी रह सकते हैं। अगर वहाँ आदमी रहेंगे, तो तुरन्त ही लुढ़क पड़ेंगे, वहाँ टिक कैसे सकते हैं। ज्योतिषियों का सबसे अच्छा जवाब यही था, कि खुद जाकर देखलो। मैं भी उन पढ़े लिखे दोषदर्षियों को, जो तुलनात्मक दृष्टि से पौराणिक कथा-शास्त्र की हंसी उड़ाते हैं, इससे अच्छा क्या उत्तर दे सकता हूँ कि जाकर देखलो। अर्थात् जाओ और वेद पढ़ो, और पहिला मंडल समाप्त करने के पहले मैं कह सकता हूँ कि आप सौर्य गाथाओं पर पंडिताई का सिर हिलाना छोड़ देंगे, ये गाथाएँ चाहे भारत वर्ष में हों चाहे यूनान में, चाहे इटली में और चाहें इंगलैंड में, जहाँ हमें सूर्य इतना कम दिखाई देता है और जहाँ हम अधिकतर ऋतुपरिवर्तन की ही चर्चा किया करते हैं जो वास्तव में सौर्यगाथा ही है।

इस प्रकार ऋग्वेद में संरक्षित मंत्र और प्रार्थनाओं से हमें मालूम हुआ है कि इतने देवता जिनका अर्थ प्रकाशमान् है कैसे उत्पन्न होगये। कैसे वे सब विश्व में व्यापक होगये,

कैसे प्रकृति का प्रत्येक कार्य, चाहे पृथ्वी पर हो, चाहे वायु में हो, चाहे ऊँचे से ऊँचे आकाश में हो, उनका किया कहा जाने लगा। जब हम कहते हैं कि प्रातःकाल हो चला, तो वे कहते थे कि सुन्दरी उषा नटी के समान अपने आकाश को दिखाती हुई निकलती है। जब हम कहते हैं कि सायंकाल हो चला, तो वे कहते थे कि सूर्य ने अपने घोड़ों को खोल दिया है। वैदिक ऋषियों को समस्त प्रकृति जीती जागती दिखाई देती थी।

देवताओं का सर्वत्र होना मालूम होता था, और देवताओं के विद्यमान् होने के विचार में धार्मिक नीति का बीज था, जो, ऐसा मालूम होता है, कि लोगों को देवताओं के सामने उन कर्मों के करने से रोकने में समर्थ था, जिन्हें वे मनुष्यों के सामने करने में लज्जित होते थे।

आकाश के प्राचीन देवता वरुण के विषय में कहते हुए एक ऋषि ने कहा* है 'इन लोकों के परमेश्वर वरुण देव ऐसेही दीखते हैं, मानों वे समीप ही हैं। यदि कोई खड़ा होवे, चले या छिपे, सोवे या उठे, चाहे दो मनुष्य बैठे हुए आपस में।कानाफूँसी कर रहे हों भगवान् वरुण सब जान लेते हैं वहाँ तीसरे मनुष्य-जैसे आप उपस्थित रहते हैं'।

'यह पृथ्वी भगवान् वरुण की ही है। यह विस्तृत आकाश जिसके सिरे, दूर दूर हैं, उनका है। दोनों समुद्र (आकाश और जल-समुद्र) वरुण की जंघाएँ हैं। वे इस छोटीसी पानी की बूँद में भी हैं। कोई आकाश के परे भी उड़कर जाय तो वह भगवान् वरुण से बच कर नहीं जा सकता

* अथर्ववेद (४) १६।

है। उन के गुप्त दूत आकाश से पृथ्वी की ओर आते हैं और अपनी हज़ारों आखों से पृथ्वी पर देखते हैं'।

'पृथ्वी और आकाश के बीच क्या है, और उससे परे क्या है, यह सब भगवान् वरुण को दिखाई देता है। उन ने मनुष्यों के नेत्र-निमिषों को गिन लिया है। जैसे जुवारी पाँसा फेंकता है, वैसे वे भी सब चीज़ों को एक बार ही कर देते हैं'।

'हे वरुण, तुम्हारे भयंकर पाश, जो सात सात करके तीन तरह से फैले रहते हैं, झूठ बोलने वाले मनुष्य को जकड़ लें और सच बोलने वाला तुम्हारे पास से (निर्भय) निकल जाय'।

देखा, ये कैसे सुन्दर भाव हैं! वे वैसे ही सुन्दर और किसी अंश में वैसे ही सच्चे भाव हैं जैसे बाइबिल के अच्छे से अच्छे भजनों में हैं। यह होते हुए भी हम जानते हैं कि वरुण देव कोई नहीं, वह केवल एक नाम है, जिसका असली अर्थ है ढकना या घेरना और यह नाम नक्षत्र-युक्त दृश्य आकाश का रक्खा गया था। पीछे एक सर्वथा बोधगम्य क्रिया के द्वारा यह नाम उस शक्ति का होगया, जो नक्षत्र-युक्त आकाश के पीछे थी और इस शक्ति में मानवी और दैवीगुणों के विशेषण लगा दिये गये।

जो बात वरुण के विषय में लगती है, वह वेद और वैदिक धर्म के अन्य सब देवताओं के विषय में भी लगती है, चाहे ये देवता तीन हों चाहे तेतीस हों, और चाहे तीन हज़ार तीन सौ उनचालीस + हों।

+ ऋ० ३ मं० ९, ९, १० मं० ५२, ६।

ये सब केवल नामही नाम हैं, जैसे जूपिटर, अपोलो और मिनरवा। वास्तव में ये सब सर्वथा वैसे ही नाम हैं जैसे सब धर्मों के देवताओं के नाम होते हैं और जो ऐसे विशेषण लगा कर बताये जाते हैं।

यदि यह बात कोई भारतवर्ष में वेद के समय में कहता अथवा यूनान में पेरिक्लीन युग में कहता, तो वह सुकरात के समान नास्तिक और देवनिन्दक कहलाते। लेकिन यह बात ठीक और स्पष्ट है। हमें यह भी मालूम पड़ेगा कि वेद के भी कुछ ऋषियों ने, बल्कि पिछले समय के वेदान्तियों ने भी इस बात का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

'यह केवल नाम ही है' इस वाक्य को प्रयोग में लाने के समय हमें सावधान रहना चाहिए।

कोई नाम कोरा नहीं है। आदि में प्रत्येक नाम का कुछ न कुछ लक्षण रहता है। बहुधा ऐसा हुआ कि जिस लक्षण के लिए वह रक्खा गया था, वह उससे व्यक्त न हो सका तब वह क्षीण या खाली नाम रह गया और जिसे अब हम कोरा नाम ही समझते हैं। यही हाल वैदिक देवताओं के नामों का हुआ। ये सब नाम उस परा लक्ष्य को बताने के लिए थे, जो दृश्यमान पदार्थों के पीछे अदृष्ट है, जो सीमान्त वस्तुओं के भीतर असीम है, जो प्राकृतिक पदार्थों के ऊपर अप्राकृतिक तत्व है, जो दैवी, सर्व व्यापक और सर्व शक्तिमान है। इन नामों से वह तत्व प्रकट न हो सका जो वास्तव में अवर्णनीय है पर यह अवाच्य वस्तु तब भी बनी रही, और इन असफल-

ताओं के होने पर भी वह वस्तु प्राचीन विचारवान् पुरुषों और कवियों के मन और विचार से कहीं नहीं गई और न कम हुई, बल्कि उसे भाषा द्वारा व्यक्त करने के लिए नये नये और अच्छे अच्छे नाम हमेशा प्रयोग में आते रहे, और अब भी आ रहे हैं, और जब तक पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन है आते ही रहेंगे ।

सप्तम अध्याय ।

वेद और वेदान्त ।
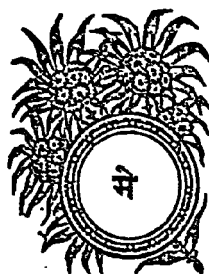
रे व्याख्यान सुनने वालों मे से कुछ ने मुझ से पूछा है कि, जब ईसा से ५०० वर्ष पहिले भारतवर्ष में लोग लिखना ही नहीं जानते थे तो वैदिक साहित्य, विशेषतः वेदमन्त्र, जो ईसा से १५०० वर्ष पहिले के कहे जाते हैं, किस तरह रचे गये होंगे और यह साहित्य कैसे संरक्षित रहा होगा ? इस प्रश्न से मुझे आश्चर्य नहीं हुआ । प्राचीन-भाषा-वेत्ताओं का प्रश्न है कि ऋग्वेद की सब से प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक कितने वर्ष पूर्व की मिलती है और वे कौन से प्रमाण हैं, जिनके आधार पर वेद मंत्रों को इतना प्राचीन

बताया गया है ? मैं इस प्रश्न का उत्तर यथा शक्ति दूँगा, किन्तु इसके पूर्व मैं इस बात को स्पष्ट कहे देता हूँ कि ऋग्वेद की प्राचीन से प्राचीन जो पुस्तक उपलब्ध है, वह ईसा के १५०० वर्षों के पीछे की है, ईसा से १५०० वर्ष पहिले की नहीं। इस प्रकार इन दोनों कालों के सीमाओं के बीच तीन हजार वर्षों का अन्तर है, जिसका समाधान करने के लिए अत्यन्त प्रबल तर्क और युक्तियों की आवश्यकता है। केवल यही बात नहीं है, किन्तु आपको इस बात के जानने की भी आवश्यकता है कि इस उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब महाकवि होमर रचित काव्य का समय निर्णय करने के लिए विचार हो रहा था उस समय जर्मनी के फ्रेडरिक आँगस्ट वुल्फ नाम के एक विद्वान् ने दो बड़े आवश्यक प्रश्न पूछे थे:—

१—यूनानी लोग पहिले पहिल वर्णमाला के अक्षरों से कब परिचित हुए और उन्होंने अपने लोक-प्रिय स्मारक भवनों, सिक्कों, ढालों तथा सरकारी या निजी लेख-पत्रों पर इन अक्षरों का कब प्रयोग किया ?

२—पहिले पहिल यूनानी लोग ग्रन्थ लिखने की कला को कब लिखने के काम में लाये ? और इस कार्य के लिए उन्होंने कौनसी सामग्री का प्रयोग किया।

इन दोनों प्रश्नों और उनके उत्तरों ने यूनानी साहित्य के अन्धकारमय काल पर नया प्रकाश डाला है। यूनान के प्राचीन इतिहास में यह बात दृढ़ रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि अयोनियनस् यानी यूनानियों ने वर्णमाला का ज्ञान फिनिशियनस् से प्राप्त किया था और इस कारण ये अपने

अक्षरों को हमेशा फिनिशियन कहते थे और इस वर्णमाला का नाम ही फिनिशियन भाषा का शब्द आलफावेट है। हम समझ सकते हैं कि फिनिशियन लोगों ने यूनानियों को एशिया माइनर में वर्णमाला का ज्ञान कराया होगा और यह इसलिए कि व्यापारिक मामलों में याने लेन-देन सम्बन्धी पत्र-व्यवहार में कुछ सुविधा हो और कुछ इसलिए कि वे पेरीपलस अर्थात् उन उपयोगी जल-स्थल-पथ-प्रदर्शक मार्ग चिन्हों को काम में ला सकें, जो उस समय के नाविकों या मल्लाहों को वैसे ही आवश्यक और बहुमूल्य थे, जैसे मध्य-कालीन उत्साही समुद्र-यात्रियों को समुद्र मार्ग के मार्ग चिन्ह। किन्तु इस काल के लिखित साहित्य की अपेक्षा उस काल की लेखन शैली में, हमारी दृष्टि में बड़ा अन्तर है। यह बात अच्छी तरह जानी हुई है, कि जर्मन लोग, विशेषतः उत्तरीय भाग के निवासी, अपनी क़बरों बर्तनों तथा लोकप्रिय स्मारकस्थानों पर अपने रून नामक लेखों को लिखा तो करते थे, किन्तु लेखन कला को ग्रन्थ रचने के काम में नहीं लाये थे। माना कि कुछ यूनानियों ने मिलिटस अथवा दूसरे व्यापार और राजनीतिक केन्द्रों में लिखने की कला सीखली हो, तो भी यह बताने को रह जाता है कि वे लिखने की सामग्री कहाँ से लाये थे। दूसरी बात यह भी है कि यदि वे कुछ लिख भी लेते थे, तो उसे पढ़ता कौन था? जब यूनानियों ने लिखना शुरू किया तब उन्हें खालों के टुकड़ों से, जिन्हें वे डिपथेरा कहते थे संतोष करना पड़ा और जब तक ये खालों के टुकड़े साफ़ होते होते पार्चमेन्ट के रूप में नहीं आगये, तब तक लेखकों को

अपने काम में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं थीं । अब तक हमें जो कुछ मालूम हुआ है वह यह है कि यूनानी लोगों ने ईसा के पहले,छठवीं शताब्दी के मध्यकाल से लिखना शुरू किया था, और इसके विरुद्ध जो कुछ भी कहा गया हो तो भी, वुल्फ साहब का यह कथन ठीक है कि जब यूनानियों ने ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया तो पहिले उन्होंने गद्यात्मक लेख ही लिखे। लिखना उस समय में एक कठिन योजना थी और ऐसी योजना किसी बड़े कार्य को सिद्ध करने के लिए ही की जाती थी । इसलिए पहिली पुस्तकें, जो खालों पर लिखी गईं, उसी तरह की थीं, जैसी मुरे साहब की हैण्डबुक्स अर्थात् यात्रियों की पथ-प्रदर्शक पुस्तकें, जो यात्रियों को देशाटन में सुविधा देने वाली थीं । जो पुस्तकें देश पर्य्यटन से सम्बन्ध रखती थीं, उन्हें पेरीजेसिस कहते थे और उनमें यात्रा के लिये मार्ग बताने के सिवा बड़े बड़े नगरों के स्थापित होने का हाल भी रहता था। इस प्रकार की पुस्तकें एशिया माइनर में पाँचवीं और छठवीं शताब्दि में मिलती थीं और इनके लेखकों को लोगोग्रेफी (Logographi) कहते थे, जो यूनानी भाषा के कवि शब्द का विपरीत शब्द है। ये लेखक यूनानी इतिहास लेखकों के मार्ग प्रदर्शक हैं । इतिहास-शास्त्र के जन्मदाता हेरोडोटस ने, जो ईसा से ४४३ वर्ष पहिले हुआ था, इस प्रकार के ग्रन्थों से बहुत काम लिया है।

ये सब की सब प्रारम्भिक लेखन चेष्टाएँ एशिया माइनर में ही होती रही थीं। पहिले पहिल देश और नगर वर्णन-सम्बन्धी पुस्तकें बनीं और फिर उनसे साहित्यिक

पुस्तकें बनने लगीं, जिनमें जीवन-यापन करने के उपदेश और दार्शनिक विषय रहते थे। ऐसी पुस्तकों के रचयिता यूनानी अनक्सी मण्डर (६१०-५४७ ई० पू०) और सीरिया निवासी फेरेकीडीज (५४० ई० पू०) थे। इन नामों के साथ ही साथ हम इतिहास के उज्ज्वल प्रकाश में आ जाते हैं, क्योंकि अनेक्सीमण्डर अनेक्सीमीनस का गुरु था, अनेक्सीमीनस अनेक्सगोरस का और अनेक्सगोरस पेरीक्लीज का गुरु था। इस समय लेखन-कला का प्रचार हो गया था और यह प्रचार मिश्र के साथ व्यापार और वहाँ से पेपीरोस (काग़ज़ जैसी लिखने की वस्तु) के आने पर निर्भर था। ऐकीलो (५०० ई० से पूर्व) के समय में तो लिखने का इतना प्रचार हो गया था कि उसने अपनी कविता को उपमाओं में इसका बार बार उल्लेख किया है। इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि समोस निवासी पेसिसट्रेटोस (५२८ ई० पू०) और पोलीक्रेटस (५२३ ई० पू०) ये दोनों यूनानी हस्त लिखित ग्रन्थों के आदि संग्रह-कर्ता हैं। इस प्रकार उन सरल प्रश्नों से, जो वुल्फ साहब ने किये थे, प्राचीन यूनानी साहित्य का इतिहास, विशेषतः उसके प्रारम्भिक समय का इतिहास, कुछ न कुछ नियम और क्रम बद्ध हो गया था। ऐसे ही दो प्रश्न जो संस्कृत के विद्यार्थी पहिले पहिल पूछ सकते थे, ये हैं:—

१—भारतवासियों को वर्णमाला का ज्ञान किस समय हुआ ?

२—ये लोग ग्रन्थ लिखने के लिए इस वर्णमाला को कब काम में लाये ?

आश्चर्य यह है, कि ये प्रश्न बहुत काल तक नहीं हुए और इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन संस्कृत साहित्य की अव्यवस्थित प्रारम्भिक दशा को किसी मात्रा में भी व्यवस्थित करना असम्भव था।

अब मैं आप को इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ी सी बातें बताना चाहता हूँ। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्यकाल के पूर्व की कोई लिपि वा हस्तलेख भारतवर्ष में नहीं मिले हैं। जो लेख मिले भी हैं वे बौद्ध लेख हैं, जो अशोक के राज्य-समय में लिखे गये थे। अशोक चंद्रगुप्त का पोता था और चंद्रगुप्त यूनानी राजा सिल्यूकस का समकालीन था। पाटलिपुत्र में इसी के दरबार में सिल्यूकस का एलची मेगस्थनीज़ रहा था। यहाँ से हम ऐतिहासिक क्षेत्र में आते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्राट् अशोक ने जिसने अपने विशाल राज्य के कई भागों में इन लेखों को लिखवाया था, ईसा के पहिले २५६ से २२२ ई० पू० तक राज्य किया था। ये लेख दो प्रकार की वर्णमालाओं में लिखे हैं। एक तो दायें से बाँई ओर के अक्षरों में जो आर्मीनियन (Armènian) अर्थात् सेमीटिक वर्णमाला से लिये गये थे; और दूसरे बाँई से दाँई ओर के अक्षरों में। ये अक्षर भी सेमीटिक वर्णमाला से लेकर भारत की भाषा की आवश्यकता के अनुसार नियमित रूप में कर लिये गये थे। यही दूसरी वर्णमाला भारतवर्ष की सब वर्णमालाओं की जन्म दात्री हुई; और उन वर्णमालाओं की भी जिन्हें बौद्ध धर्म के उपदेशकों ने भारतवर्ष की सीमा से बाहर दूर दूर पहुँचाया था। सम्भव है कि प्राचीन तैमिल वर्णमाला सीधी उसी सेमीटिक स्रोत से

निकली हो, जिससे भारतवर्ष की दोनों वर्णमालायें वामावर्त्ति और दक्षिणावर्त्ति, निकली हैं । पहिले एक बात यह सिद्ध हुई कि ईसा से तीसरी शताब्दी के पहिले भारत-वर्ष में स्मारकों पर भी लेख लिखने योग्य भी लिखना लोग नहीं जानते थे । लेकिन व्यापार सम्बन्धी बातें लिखना इस समय के पहिले से भी चला आता था । मेगेस्थनीज़ का कथन निस्सन्देह सत्य है कि उसके समय में भारतवासी अक्षरों से भी परिचित नहीं थे । उनके धर्म (Laws) ग्रन्थ लिखे हुए नहीं थे और न न्याय-शासन ही लिखे ग्रन्थों के आश्रय से होता था । केवल स्मरण से ही काम लिया जाता था । सिकन्दर बादशाह की जल-सेना का प्रधान अफ़सर निअर्कस, जो सिन्धु नदी में अपने युद्ध-पोत द्वारा गया था (३२५ ई० पू०) और इसप्रकार जिसका संसर्ग उन व्यापारियों से हुआ था, जो भारतवर्ष के बन्दर स्थानों में आया जाया करते थे, लिखता है कि भारतवासी खूब जमाई हुई रुई की गद्दियों पर कुछ अक्षर लिख दिया करते थे । निस्सन्देह ये अक्षर फिनिशियन अथवा मिश्र-निवासी पोताध्यक्षों के साथ किये हुए व्यापारिक संधिपत्र और प्रतिज्ञा पत्र हैं, जिनसे व्यापार-विषयक लिखा पढ़ी का उस प्राचीन काल में होना साबित होता है । लेकिन साहित्य ग्रन्थ लिखने के विषय में कोई प्रमाण नहीं है । बल्कि निअर्कस स्वयं भी उसी बात को कहता है, जिसको मेगेस्थनीज़ ने पीछे से लिखा है । मेगेस्थनीज़ लिखता है कि भारतवर्ष के पंडितों के धर्म-ग्रन्थ लिखे हुए नहीं हैं । यदि यूनानी यात्री, भारतवर्ष के राज-पथ पर ऐसे प्रस्तर-स्तम्भों का रहना बतलाते हैं,

और पशुओं पर तरह तरह के चिह्नों और अङ्कों का छपा रहना कहते हैं; तो इससे यही बात सिद्ध होती है कि सिकन्दर बादशाह की चढ़ाई से पहिले लिखने की कला भारतवर्ष में चाहे पहुँच क्यों न गई हो, लेकिन ग्रन्थ लिखने में इसका प्रयोग बहुत पहिले से नहीं हुआ था।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में ईसा के ४०० वर्ष पहिले कोई लिखना नहीं जानता था। पर तब भी वैदिक साहित्य के तीन मुख्य काल-विभाग अर्थात् मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र काल, ईसा से १००० वर्ष पहिले के माने जाते हैं। एक ऋग्वेद मे ही, जिसमें अनेक देवताओं के स्तुति मंत्र १० मण्डलों में विभक्त हैं, १०१७ या १०२८ सूक्त; १०५८० ऋचाएं और लगभग १५३८२६ शब्द हैं।

प्रश्न यह है, कि ये सूक्त ऐसे शुद्ध छन्दों में कैसे रचे गये और रचना होने पर ईसा के १५०० वर्षों पहिले से ईसा के १५०० वर्ष पीछे तक कैसे संरक्षित चले आये, क्योंकि जो हस्त-लिखित संस्कृत की पुस्तकें, हमें उपलब्ध हुई हैं; वे इसी काल की हैं।

इन प्रश्नों का यही उत्तर है कि यह वैदिक साहित्य श्रुत-परम्परा से ही चला आया। इस बात को सुनकर आश्चर्य होगा, पर इससे भी अधिक आश्चर्य-जनक बात यह है (जिसे सन्देह हो वह शीघ्र ही निर्णय कर सकता हैं) कि यदि इस समय ऋग्वेद की सब पुस्तकें खो जांय तो भी पूरा का पूरा वेद श्रोत्रियों की स्मृति से फिर मिल सकता

है। भारत में वैदिक विद्यार्थी गुरुमुख से सुनकर वेद को कंठस्थ करते हैं न कि हस्त-लिखित पुस्तकों से सीखते हैं। छपी पुस्तकों की तो बात ही कहाँ है।

पढ़ने के पीछे ये भी अपने शिष्यों को इसी प्रकार सिखाते हैं। ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय में मेरे कमरे में ऐसे भारतीय लड़के थे, जो वेद मंत्रों को सस्वर पढ़ सकते थे। ये विद्यार्थी इतना ही नहीं कर सकते थे, बल्कि मेरी छपी हुई ऋग्वेद की पुस्तक को पढ़ते हुए जहाँ कहीं भी उन्हें अशुद्धि मिलती थी, उसे तत्काल ही बता देते थे। मुझे आप से और भी कहना है। ऋग्वेद की हस्त-लिखित पुस्तकों में बहुत कम पाठान्तर हैं, परन्तु भारतवर्ष में इस वेद के पढ़नेवालों की बहुत सी शाखाएँ हैं और इनके अनुयायी अपने अपने पाठ को बड़ी सावधानी से संरक्षित रखते हैं।

ग्रीक और लैटिन की हस्त-लिखित पुस्तकों को इकट्ठा करके शुद्ध पाठ के लिए हम जैसी जाँच किया करते हैं, वह बात ऋग्वेद के शुद्ध पाठ के लिए आवश्यक नहीं है। मैंने अपने मित्रों को लिखा है कि वे वेदपाठी विद्यार्थियों को एकत्र करें; क्योंकि इनके पाठानुसार वेद-मंत्रों के पाठ देखने से मालूम हो सकता है कि किस किस शाखा में किस प्रकार का पाठ है। यह ऐसी बात है, जिसका निर्णय करना बहुत आसान है। सारा ऋग्वेद बल्कि कुछ और ग्रन्थ इस समय भी अनेक पंडितों को कंठस्थ हैं। यदि ये चाहें तो वेद का एक एक अक्षर और स्वर ठीक ठीक वैसे ही लिख दें जैसा

कि हमारी प्राचीन हस्त लिखित पुस्तकों में लिखा है। वेद-मंत्रों को कंठ करने की शिक्षा बड़े दृढ़ नियमानुसार दी जाती है। यह धार्मिक कार्य समझा जाता है। मेरे एक हिन्दुस्थानी मित्र, जो स्वयं बड़े नामी वैदिक पंडित हैं; कहते हैं कि जिस लड़के को ऋग्वेद पढ़ना होता है उसे अपने गुरु के घर लगभग ८ वर्ष रहना पड़ता है और दस पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। पहिले ऋग्वेद संहिता, फिर वेद के ब्राह्मण, जो यज्ञ-सम्बन्धी गद्यात्मक ग्रन्थ हैं, इसके पश्चात् आरण्यक ग्रन्थ, तब गृह्य-सूत्र और सब से पीछे वेदों के छः अङ्ग अर्थात् निरुक्त, व्याकरण छन्द, ज्योतिष, शिक्षा और कल्प। इन दस ग्रन्थों में लगभग ३० हज़ार पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ३२८ अक्षर हैं। प्रत्येक विद्यार्थी को आठ वर्ष तक अनध्याय के दिनों को छोड़कर प्रत्येक दिन पढ़ना पड़ता है। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस तरह आठ वर्ष में २८८० दिन हुए। इनमें से ३८४ अनध्याय दिन निकाल कर बाक़ी पढ़ने के २४१६ दिन रहे। यदि ३०००० पंक्तियों में पढ़ने के दिनों की संख्या से भाग दिया जाय तो प्रत्येक दिन याद करने को १२ पंक्तियाँ होती हैं। दिन का बहुतसा भाग पढ़े हुए मंत्रों को दुहराने व रटने में लग जाता है। ये सब बातें इस समय भी विद्यमान हैं, लेकिन मुझे इस बात की आशङ्का है कि यह प्रथा आगे बहुत काल तक रहेगी या नहीं। मैं अपने भारतीय मित्रों से हमेशा कहता रहता हूँ और इसलिए उन लोगों से भी जो हिन्दुस्थान में शीघ्र सिविल सर्वेण्ट होकर जा रहे हैं यह कहना चाहता हूँ कि इन जीते जागते पुस्तकालयों से

जो कुछ सीखा जाय, सीखलो। जब ये श्रोत्रिय नहीं रहेंगे, तब प्राचीन संस्कृत विद्या का बहुत कुछ लोप हो जाना सम्भव है।

आओ, अब कुछ पीछे का हाल देखें। लगभग हजार वर्ष पहिले एक चीनी विद्वान्, जिसका नाम इत्सिंग था, और जो बौद्ध मतानुयायी था, भारतवर्ष में इस अभिप्राय से संस्कृत सीखने आया कि वह अपने धर्म की याने बौद्ध धर्म की कुछ धर्म पुस्तकों का अनुवाद संस्कृत से चीनी भाषा में कर सके। वह चीन से सन् ६७१ में, अर्थात् ह्यूसन नामक बौद्ध यात्री के चीन लौट आने के पचीस वर्ष पीछे चला था। वह सन् ६७३ में भारतवर्ष के ताम्रलिपि-स्थान में पहुँचा और नालंद विश्वविद्यालय में आकर वहाँ उसने संस्कृत पढ़ी। वह सन् ६९५ में चीन लौट गया और वहाँ सन ७१३ में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी लिखी चीनी भाषा की पुस्तकों में से एक में, जो अभी हमारे पास है, वह सब हाल लिखा है, जो कुछ उसने हिन्दुस्थान में देखा था और यह केवल बौद्धों के ही सम्बन्ध में नहीं है बल्कि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में भी है। उसने बौद्ध धर्म के पुजारियों के विषय में लिखा है कि जब ये पाँचों और दसों धर्म वाक्यों को कंठस्थ कर लेते हैं तब इन्हें, मात्रिकेत-रचित ४०० वन्दनाएँ पढ़नी पड़ती हैं और इसके पीछे इसी कवि के १५० भजन याद करने पड़ते हैं और जब इन्हें कंठ कर चुकते हैं तब अपने धर्मशास्त्र के सूत्र

पढ़ते हैं । वे ‡ जातकमाला ग्रन्थ को भी कंठाग्र करते हैं; इसमें बुद्धदेव के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त है । हिन्दुस्थान छोड़ने के पीछे इत्सिग दक्षिणी समुद्र के द्वीपों में गया। इनके विषय में वह लिखता है कि दक्षिणी समुद्र में दस से अधिक द्वीप हैं । यहाँ पर साधु और श्रावक दोनों जातकमाला ग्रन्थ और पूर्वोक्त भजनों का पाठ करते हैं; परन्तु जातकमाला पुस्तक चीनी भाषा में अभीतक अनुवादित नहीं हुई है । वह कहता है कि इसकी एक कथा को कीजही नाम के राजा ने पद्यों में रचकर गाने योग्य बनाया था और इसका अभिनय जनता में किया जाता था । यह एक बौद्धधर्म-नाटक के रूप में था ।

इत्सिग ने उस समय की शिक्षा-प्रणाली का भी कुछ वर्णन किया है । जब बच्चों की छः वर्ष की अवस्था होती है तब उन्हें ४६ अक्षरों और दस हजार संयुक्त अक्षरों का ज्ञान कराया जाता है । इसे वे आधे वर्ष में समाप्त कर लेते हैं । इसमें लगभग ३०० श्लोकों का पाठ होता है और प्रत्येक श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं । इस पाठ का प्रचार पहिले पहिल महेश्वर ने किया था । आठ वर्ष की अवस्था में, लड़के पाणिनि का व्याकरण पढ़ने लगते हैं और उसे आठ महीनों में सीख लेते हैं । इसमें १००० सूत्र हैं । इसके पीछे धातुसूची और अन्य तीन सूचियों की, जिसमें १०००, श्लोक हैं, शिक्षा, दी जाती है । लड़के १० वर्ष की उम्र में इन सूचियों को पढ़ने लगते हैं और इन्हें तीन वर्ष में पढ़ चुकते हैं । जब उनकी १५ वर्ष

‡ जातकमाला के रचयिता का नाम आर्य सूर्य था जो सन् ४३४ में हुआ था ।

की अवस्था होती है तब वे महाभाष्य अर्थात् व्याकरण सूत्रों पर भाष्य पढ़ना आरम्भ कर देते हैं और इसे ५ वर्ष में समाप्त कर लेते हैं ।

इत्सिंग अपने देश वासियों को, जिनमें से बहुत से भारतवर्ष में संस्कृत पढ़ने आये थे, पर इसे बहुत कम पढ़ सके थे, निम्न लिखित उपदेश देता है:—

यदि चीन के मनुष्य भारतवर्ष में विद्याध्ययन के उद्देश्य से जावें तो उन्हें पहिले पहिल पूर्वोक्त व्याकरण के ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए और फिर दूसरे विषय की पुस्तकें । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो उनका परिश्रम व्यर्थ ही जायगा । ये पुस्तकें कंठस्थ करनी चाहिए । यह बात मेधावी पुरुषों से ही हो सकती है। उन्हें पढ़ने के लिए कनफ्यूसियस जैसा परिश्रमी मनुष्य होना चाहिये । ये ऐसे पढ़ने वाले थे कि इनकी पुस्तक (इहकिंग) की जिल्द पढ़ते पढ़ते तीन दफा टूट गईथी और पुस्तक पुरानी होगई थी । उन्हें सुईशीह के पढ़ने का अनुकरण करना चाहिये, जो एक पुस्तक को बराबर सौ दफ़ा पढ़ता था । इसके बाद वह एक कहावत लिखता है, जिसका आशय चीनी भाषा में ही स्पष्ट हो सकता है । वह यह है:—

बैल के हज़ारों बाल जो काम नहीं कर सकते उसे करने के लिए गैंड़ा का एक ही सींग यथेष्ट है । हिन्दी कहावत द्वारा यदि इसी चीनी कहावत का अभिप्राय प्रकट किया जाय, तो वह इस प्रकार होगा कि " सौ चोट सुनार की और

एक चोट लुहार की"। इत्सिंग तब इन विद्यार्थियों का (बौद्ध और अन्यमतावलम्बी दोनों की) उच्चश्रेणी की स्मृतिशक्ति के अत्यन्त विकास के विषय में लिखता है। ये लोग एक दफ़ा पुस्तकें पढ़कर कंठस्थ कर सकते हैं। सनातनधर्मी ब्राह्मणों के विषय में (जिन्हें वह नास्तिक के नाम से पुकारता है) उसका यह कथन है कि भारत के पाँचों प्रदेशों में ब्राह्मण अत्यन्त प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। वे अन्य तीन वर्णों के साथ नहीं चलते और अन्य मिश्रित जाति के लोगों से वे और भी अधिक दूर रहते हैं। वे अपनी धर्म पुस्तकों, चारों वेदों को, जिनमें लगभग एक लाख ऋचाएं हैं पूज्य दृष्टि से देखते हैं। वेद काग़ज़ पर लिखे हुए नहीं हैं किन्तु गुरु-परम्परा से वे कण्ठस्थ होते चले आये हैं। प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे बुद्धिमान् ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं, जो इन लाख ऋचाओं का मुखाग्र पाठ कर सकते हैं। मैंने ऐसे आदमियों को स्वयं देखा है।

यह इत्सिंग एक ऐसा साक्षी है, जिसने सब कुछ अपने नेत्रों से देखा था और जो ईसा से ७०० वर्ष पीछे भारतवर्ष में आया था, जिसने संस्कृत सीखी थी और जो लगभग २० वर्ष तक भिन्न भिन्न मठों में रहा था। यह एक ऐसा मनुष्य था जो पुस्तकों को मुखाग्र पढ़ने की प्रथा से अपरचित था और उस विषय में अपने कुछ भी विचार नहीं रखता था। चीन निवासी होने के कारण वह लिखित पुस्तक, नहीं नहीं छपी हुई पुस्तकों के पढ़ने से परिचित था। तथापि वह क्या कहता

है; सुनिये।—वह कहता है कि वेद काग़ज़ पर लिखे हुये नहीं हैं परन्तु पुरुष-परम्परा से मुखाग्र चले आरहे हैं ।

मैं इस चीनी यात्री के साथ सर्वथा सहमत नहीं हूँ, कुछ भी हो हम इसके कहने से यह अनुमान नहीं कर सकते कि उसके समय में संस्कृत की कोई लिखी हुई पुस्तक न थी । हम जानते हैं कि उस समय हस्त-लिखित पुस्तकें थीं, हम यह भी जानते हैं कि ईसा की पहिली शताब्दी में संस्कृत की हस्त-लिखित पुस्तकें भारतवर्ष से चीन को गई और वहाँ उनका अनुवाद हुआ । इसलिए बहुत कुछ सम्भव है कि वेद की हस्त-लिखित पुस्तकें भी रही हों । परन्तु हम यह कह सकते हैं कि इत्सिंग की बात यहाँ तक सही है कि विद्यार्थियों को हस्त-लिखित पुस्तकों से वेद नहीं पढ़ाये जाते थे किंतु उन्हें उपयुक्त आचार्य के मुख से सुनकर वेद कंठ करना पड़ता था । इस बात के प्रमाण में पिछले समय की धर्म पुस्तकों के वाक्य भी हैं, जिनमें उन लोगों के लिए जो वेद की प्रतिलिपि करें या उसे हस्त-लिखित पुस्तक से पढ़ें, कड़े दंड लिखे हैं । इससे यह तो साबित होता है कि उस समय हस्त-लिखित पुस्तकें थीं और उनके होने से ब्राह्मणों के प्राचीन अधिकारों में बड़ी बाधा पड़ती थी । क्योंकि वे अपने को ही धर्म पुस्तकें पढ़ाने के अधिकारी समझते थे ।

इत्सिंग के वर्णित समय के १००० वर्ष पूर्व के जो प्रमाण हमें प्रातिशाख्यों से मिलते हैं, उन्हें मानने में हमें अधिक सोच विचार नहीं करना चाहिये । जहाँ तक अभी मालूम हुआ

है ये प्रातिशाख्य ईसा से ५०० वर्ष पहिले के हैं और उनसे हमें यही बात मालूम होती है, कि द्विजातियों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) के लड़कों की शिक्षा गुरु के घर में ८ वर्ष रह कर वेद मंत्र कण्ठस्थ करने से होती थी। उस समय में भी अध्यापन-कला, पूरी नियम-बद्ध होचुकी थी। उस समय हिन्दुस्थान में पुस्तक या चर्मलिखित लेख, कागज क़लम या स्यांही को कोई नाम को भी नहीं जानता था और न इन चीजों के होने का कुछ भी प्रमाण है। उस समय का साहित्य लोगों की स्मृति ही में था और स्मृति-द्वारा ही सब ग्रन्थ एक दूसरे तक पहुँचते थे। मैंने इन सब बातों के कहने में इतना समय इसलिए लिया है कि मैं जानता हूँ कि साहित्य के विषय में हमारी आज कल ऐसी धारणा होते हुए भी इस बात को समझना कि इतना बड़ा पद्यात्मक और गद्यात्मक साहित्य कंठगत ही चला आता है, हमें बड़ी कठिनाई है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी विचार करना पड़ता है कि सभ्यता के बड़े बड़े आविष्कार होने के पहिले मनुष्य ने व्यक्तिगत उत्कृष्ट प्रयत्नों से वे बातें कर दिखाई थीं, जो हमें इस समय अनेक सुविधाओं के रहते भी असम्भव सी मालूम होती हैं। असभ्य कहे जाने वाले मनुष्य, चकमक पत्थर के टुकड़े तैयार कर सकते और दो लकड़ियों को रगड़ कर आग निकाल सकते थे। यह एक ऐसा काम है जिसे इस समय हमारे कुशल से कुशल कारीगर भी नहीं कर सकते हैं। क्या हम यह ख़याल कर सकते हैं कि यदि वे ऐसे गीतों या भजनों को संरक्षित रखना चाहते थे, जिनके द्वारा उन पर उनके देवता प्रसन्न होते थे और जिनके द्वारा उनके विश्वास के अनुसार

आकाश से वृष्टि और युद्ध में विजय-प्राप्ति होती थी, तो क्या उन्हें संरक्षित रखने के वे कोई उपाय नहीं निकाल सकते थे? यदि हम ऐसे लेख पढ़ें जैसे मिस्टर विलियम साटजिल ने पालीनेशिया की असभ्य जातियों के रहन सहन के विषय में लिखा है तो हमें मालूम होगा कि ये असभ्य जातियाँ भी अपने पुराने वीर पुरुषों, राजाओं एवं देवताओं के कार्यों का वर्णन संरक्षित रखने की बड़ी चेष्टा करती थीं, विशेष कर जब कि इन गीतों पर किसी कुटुम्ब की प्रतिष्ठा या सन्मान निर्भर था या जब इन गीतों से किसी बड़ी सम्पत्ति का अधिकार सिद्ध होता था। प्राचीन समय की असभ्य जातियों में केवल वैदिककालीन भारतवासी ही नहीं थे, जिन्होंने साहित्य का विशाल भण्डार स्मृतिद्वारा रक्षित रखा है। बल्कि ड्रूइड लोग भी ऐसे हो थे। क्योंकि सीजर ने जो किसी प्रकार भी एक सामान्य भोला भाला आदमी नहीं था, लिखता है कि ड्रूइड लोगों को बहुत से पद कण्ठ थे, उन में से कुछ लोग तो इन्हें बीस बीस वर्ष तक याद करते रहते थे और इनको लेख-बद्ध करना पाप समझते थे। यह ठीक वही बात है जो कि अब हम हिन्दुस्थान में सुनते हैं।

अब हम समय निर्धारित करने के प्रश्न पर फिर विचार करते हैं। यहाँ तक पता लग चुका है कि हमारे समय से लेकर ईसा के पीछे सातवीं शताब्दी तक, जब इत्सिंग हिन्दु-स्थान में आया था, वेदों का स्मृतिद्वारा संरक्षित रहना ही प्रमाणित होता है और उसके पहिले ईसा के पूर्व ५०० वर्ष तक प्रातिशाख्यों के द्वारा यह साबित हो चुका है। ईसा से पहिले पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध मत का प्रचार

हुआ था । यह मत वैदिक धर्म के भग्नावशेष चिन्हों पर स्थापित हुआ था । वेद को कट्टर ब्राह्मण, ईश्वर-कृत मानते आ रहे थे । उसका खण्डन करना इस मत का उद्देश्य था । वैदिक साहित्य का जो कुछ अंश बचा है वह बौद्धधर्म-स्थापित होने के पहिले का होना चाहिए । मैं आप से कह चुका हूँ कि वैदिक साहित्य तीन कालों में विभक्त है, तीसरा काल विभाग दूसरे के पहिले और दूसरा काल विभाग पहिले के पूर्व का होना चाहिए । इस पहिले काल-विभाग में भी हम वेद मंत्रों का क्रम-बद्ध संग्रह पाते हैं । ऐसी दशा में वेद के समय को बहुत प्राचीन बताऊँ, तो आपको यह नहीं समझना चाहिए कि मैं वेदों की अत्यन्त प्राचीनता बतलाने का पक्षपाती हूँ । बल्कि मेरी अभिलाषा यह है कि जो बात यथार्थ है, वही बतायी जाय । वेद-विषयक विद्वानों ने इन सब बातों से यह अनुमान निकाला है कि वेद-मंत्र, जिनकी हस्त-लिखित कापियाँ पन्द्रहवीं शताब्दी से पहिले की नहीं है, ईसा से १५०० वर्ष पहिले के रचे हुए हैं । मुझे एक बात और बतला देनी चाहिए ; क्योंकि मैं ख़याल करता हूँ कि इसे बतला देने से जो कट्टर अविश्वासी हैं, उन लोगों को भी कुछ न कुछ विश्वास हो जायगा । मैं कह चुका हूँ कि सब से प्राचीन लेख जो भारतवर्ष में मिले हैं, राजा चंद्रगुप्त के पोते, राजा अशोक के शासन-काल के हैं, जो ईसा से २५६-२२२ वर्ष पहिले का है । इन लेखों की कौन सी भाषा है ? क्या यह वेद मंत्रों की संस्कृत है ? निस्संदेह नहीं । क्या यह ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों की अर्वाचीन संस्कृत है ? निस्सन्देह नहीं । ये लेख प्रान्तीय भाषाओं में हैं जो उस

समय हिन्दुस्थान में बोली जाती थीं, और ये प्रान्तीय-भाषाएं व्याकरण-शुद्ध संस्कृत से उतनी ही भिन्न हैं जितनी इटेलियन भाषा लेटिन से। इससे क्या अनुमान होता है? पहला यह कि वेद के समय की प्राचीन संस्कृत का बोलना ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में बन्द हो गया था। दूसरा यह कि उस समय ग्रन्थों की शुद्ध संस्कृतभाषा जनता न बोलती थी और न समझती थी। बौद्ध धर्म के उदय होने के कहीं पहिले से ही संस्कृत भाषा का बोलना बन्द हो गया था। इसलिए प्राचीन वैदिक-भाषा की कौमार और प्रौढ़ अवस्था बौद्धधर्म-प्रचार के बहुत पहिले बीत चुकी थी। सम्भव है कि बुद्धदेव संस्कृत ही नहीं बल्कि वैदिक संस्कृत भी जानते हों, तब भी उन्होंने अपने शिष्यों को बार बार इसी बात पर जोर दिया है, कि बौद्धसिद्धान्तों का प्रचार वे उन्हीं मनुष्यों की भाषा में किया करें जिनका कि वे उपकार करना चाहते हैं। यद्यपि जो समय मुझे दिया गया था वह समाप्त होने पर है तथापि, जो कुछ भारतवर्ष से सीखने योग्य बातें मुझे कहनी थीं उनमें से आधी भी नहीं कह सका हूँ। धर्म की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहना है वह भी मैं नहीं कह सका हूं। परन्तु मैं आशा करता हूँ कि मैंने देव और देवताओं की उत्पत्ति और विकाश-वाद पर वेदों के सहारे एक नया प्रकाश डाला है। इस अनुसंधान से किसी प्रकार के ठीक ठीक सिद्धान्त तो निश्चित नहीं हो सकते, तथापि वेदों के द्वारा हमें ऐसी बातें अवश्य मिल जाती हैं जो और कहीं नहीं मिल सकती हैं। वेद के बड़े से बड़े देवताओं और यूनान

के जीयुस, एपौलन, और एथेनी देवी देवताओं के स्वरूप में कितना ही अन्तर क्यों न हो तब भी इस विषय की जो उलझनें थीं वे हल हो गई हैं, यानी हम अब इस बात को जान गये हैं कि प्राचीन संसार के देवी देवता क्या थे और काहे से बने थे। प्राचीम वैदिकधर्म में देवी देवता सम्बन्धी विषय तो एक है, पर उससे सम्बन्ध रखने वाले दो प्रश्न और हैं जो इस प्रश्न से भी अधिक आवश्यक और मनोरञ्जक हैं। वेद में तीन धर्म हैं, अथवा यों कह सकते हैं कि वेदरूपी मंदिर में तीन भाग हैं—एक कवियों का, दूसरा नवियों का, और तीसरा तत्व-वेत्ताओं का। इन भागों में क्या क्या है? इसकी अलोचना मैं आगे करूंगा। हमें केवल उन कोरी बातों को ही नहीं देखना है जिनके साथ निरर्थक विधियां और पुराने पाखंड लगे हुये हैं। बल्कि यह देखना है कि मानवी बुद्धि ने पूरे तार्किक अनुमानों के द्वारा उन निरर्थक बातों को क्यों मान लिया है जिनका पीछे से आविष्कार हुआ है। वेद और दूसरी धर्म पुस्तकों में जो अन्तर है, वह यही बात बतलीता है कि, वेद और वैदिक यज्ञविधान में बहुतसी पुरानी निरर्थक बातें हैं। वैदिक नाम रूपों का विकास बहुत तरह से हो रहा है। उसका परिवर्तन प्राकृतिक-रूप से दैवी रूप में, और व्यक्तिरूप से व्यापकरूप में, अभीतक हो रहा है और यही कारण है कि हम प्रारम्भिक वेदविचारों को इस समय की पूर्ण प्रकाशित भाषा में अनुवाद करने में अनेक कठिनाइयां देखते हैं। देव शब्द, वेद के अत्यन्त प्राचीन शब्दों में से एक है। देव शब्द के मुकाबले का शब्द लैटिन भाषा में ड्यू है। कोषों में देव

शब्द का अर्थ देवता है—यह शब्द एक बचन और बहुबचन दोनों में आता है। यदि हम वेद मंत्रों में देव शब्द से सर्वदा देवता का ही अर्थ समझें तो हम वैदिक ऋषियों के विचारों का पूरा अनुवाद नहीं कर सकते हैं।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि जो कुछ हम ईश्वर के विषय में विचार रखते हैं वे सब देव शब्द से प्रकट हो जाते हैं। बल्कि मेरा यह कहना है कि यूनान और रोम वालों के देवता सम्बन्धी विचारों से भी वेद के देव शब्द का अर्थ नहीं निकलता है। आदि में देव शब्द का अर्थ प्रकाश, माना गया था। आकाश, तारे, सूर्य्य, उषा, दिन, वसन्तऋतु, पृथ्वी और नदियां, इन सब के सम्बन्ध में देव शब्द का अर्थ प्रकाशमान है। और जब कभी वैदिक ऋषियों ने इन सब को एक देव शब्द से ही प्रकट किया है तो उसका अर्थ यही है। पहिले तो ये सब देव शब्द से प्रकाशमान चीजें हीं समझी गई थीं। पीछे से आकाश, सूर्य्य वा उषा, में जो समान लक्षण और गुण थे वे भी सब इसी शब्द में आगये और जो जो लक्षण आसमान में थे वे छोड़ दिये गये। देखिये प्रकाशमान अर्थ रखने वाले देव सहज ही में ऐसे देव हो गये हैं जिनका अर्थ, स्वर्ग-निवासी, कृपालु, शक्तिवान, अदृश्य और अमर ही नहीं होगया, बल्कि अन्त में उनसे वह वस्तु प्रकट होने लगी, जिसे यूनान और रोम वाले परमात्म कहते थे। इस प्रकार वेद के प्राचीन धर्म ने प्रकृति के परे एक ऐसा पदार्थ खोज निकाला है, जिसके अन्तर्गत देव, असुर, वसु, आदित्य आदि हैं; जो प्रकाशमान सौर्य, स्वर्गीय, दैनिक और ऋतु सम्बन्धी प्राकृतिक शक्तियों के नाम हैं।

इन प्रकाशमान् शक्तियों के सिवा अन्धकाररूपी विरुद्ध हानिकारक शक्तियां भी खोज निकाली हैं, जैसे—रात्रि, काले मेघ, शीत ऋतु आदि। ये विपरीत शक्तियां प्रकाशमान् शक्तियों के पराक्रम और बल के सामने अन्ततः हार मान जाती हैं।

अब हम वैदिक मंदिर के दूसरे भाग का हाल लिखते हैं। यह दूसरा 'परा' विषय वह है, जिसे प्राचीन ऋषियों ने खोज कर देखा, समझा और पितृलोक के नाम से माना था। अन्य देशों के समान भारतवर्ष में भी बहुत प्राचीन काल से लोगों के मनो में स्वाभाविक रीति से विश्वास उत्पन्न हो गया था कि जब उनके माता पिता इस लोक का त्याग करते हैं तो वे दूसरे ऊपर के लोक में जाते हैं—चाहे यह लोक पूर्व दिशा में हो, जहां से उनके सब दिव्य देवगण आये हैं और चाहे पश्चिम में। इस लोक का होना अधिकतर पश्चिम दिशा में ही माना जाता है, क्योंकि यह वह लोक है, जहां वे अन्त में जाते हैं—वेदों में इसे यमलोक अर्थात् सूर्यअस्त होने का लोक कहा है। यह विचार कि—जीवों का नाश हो जाता है उनके मन में अभी नहीं आया था और इस विश्वास ने कि उनके पितृगण कहीं न कहीं रहते हैं, यद्यपि उन्हें दिखाई नहीं देते हैं, एक दूसरे परलोक में उनका विश्वास उत्पन्न कर दिया, और इस प्रकार एक दूसरे मत के अंकुर निकल आये। मृत्यु के पीछे पितृगणों की शक्ति का प्रभाव सर्वथा अदृश्य हो जाता था यह बात भी नहीं है। मृत पितरों के चलाये हुये रीति-रस्म में उनका प्रभाव दीखता था। जब तक पितृ लोग इस लोक में जीवित

और सख थे, सब बातें उनकी इच्छा पर थीं, और उनकी मृत्यु हो जाने पर जब रीति और मर्यादाओं के विषय में कोई शंका या झगड़ा खड़ा हो जाता था, तो यह बात स्वाभाविक थी कि इन पितृगणों की स्मृति और आज्ञा को काम में लाकर ऐसे मामले तय कर दिये जांय—अर्थात् अब भी उनकी इच्छा ही व्यवस्था-स्थापन करने में मुख्य रहती थी। मनुस्मृति के चौथे अध्याय के १७८ वें श्लोक में मनुजी का यह वाक्य है कि:—जिस मार्ग से उनके पिता और पितामह गये हैं—उन्हीं सत्पुरुषों के मार्ग पर उसे चलना चाहिये और इस प्रकार यह कुमार्ग में नहीं जायगा, जिस प्रकार प्रकृति की प्रकाशमान् शक्तियों में से देवता उत्पन्न हो गये; उसी प्रकार पितृगण की कल्पना हो गई। जो लोग इस लोक को छोड़ गये; उनके गुण और लक्षणों की, देवताओं के गुण और लक्षणों से कुछ समता होने के कारण, एक दूसरा ख़याल पैदा हो गया, जिसका सम्बन्ध मृत पूर्वजों से अथवा भूत-प्रेत आदि से है। जैसी इनकी पूजा भारतवर्ष में बढ़ गई थी वैसी किसी और देश में नहीं।

पितृ शब्द से केवल किसी मनुष्य के मरे हुये माता-पिता ही से अभिप्राय नहीं है बल्कि संसार के सब मृत पुरुषों से है—इसके सिवा पितरों में अदृश्य, पराक्रमी, कृपालु, अमर, और स्वर्गीय देवता भी शामिल हैं, और इसी कारण पितरों की उपासना से जीव के अमर होने का विश्वास क्रमशः वेदों में उत्पन्न हो गया है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि जब सन्तानें अपने माता-पिताओं का प्रेम करते करते उनकी मृत्यु हो जाने पर भी उनके परलोक में होने का विश्वास करती रहें, तो

शनैः शनैः जीव के अमर होने का विश्वास भी हो गया, जिस से आत्मा के अमर होने का सिद्धान्त प्राप्त हुआ है। आश्चर्य की बात है कि हिन्दुओं के प्राचीनधर्म में इस परमावश्यक विषय में इस समय ऐसी उपेक्षा होगई है और लोग शंका करने लगे हैं कि यह बात प्रचीन धर्म में भी थी या नहीं।

मैं इस विषय के कुछ वाक्य बताना चाहता हूँ, जिनसे हिन्दुस्थान में पितृपूजा में विश्वास बहुत पुराने समय से अब तक चला आना सिद्ध हो। हरबर्ट स्पेंसर साहब जिन्होंने सब वहशी जातियों के धर्म में पितृपूजा का होना एक आवश्यक अंश बताया है; बड़े विश्वास से लिखते हैं कि, इन्डो यूरोपियन अथवा सेमिटिक मनुष्य जाति ने पितृपूजा-प्रथा को जहां तक हम जानते हैं, कभी नहीं माना है, यह बात हमने बहुतों से सुनी है और पुस्तकों में भी पढ़ी है। मैं इन, साहब के वाक्यों पर सन्देह नहीं करता हूँ, लेकिन मेरा ख़याल है, कि ऐसे आवश्यक विषय में हर्बर्ट स्पेन्सर साहब को उन लोगों के नाम बताने चाहिये थे—जिनके प्रमाणों पर उन वाक्यों का आधार है। मुझे तो यह बात असम्भव सी मालूम होती है कि जिसने भारतवर्ष की धर्म-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक पढ़ी है वह ऐसी बात लिख सके। पितरों के लिये ऋग्वेद में बहुतसी ऋचाएं हैं। ब्राह्मणभाग में पितरों की उपासना का पूरा पूरा विवरण है। काव्य, धर्म-ग्रन्थ और पुराणों में पितरों को पिण्ड देने के बहुत से वर्णन हैं।

भारतवर्ष की सामाजिक-संस्थाओं में दायभाग विवाह आदि प्रथाओं में पितरों के होने का पूरा पूरा विश्वास पाया जाता है। ईरानी और यूनानी लोग भी पितरों को मानते थे और राम वालों में अन्य देवताओं की अपेक्षा पितरों की पूजा बड़े उत्साह से होती थी। मनु ने एक जगह कहा है:—(अध्याय ३ श्लोक २०३) 'देवताओं को बलि देने की अपेक्षा पितरों को बलि देना ब्राह्मणों के लिए अधिक पुण्य दायक है'—ऐसे वाक्य रहने पर भी कहा जाता है कि इन्डो यूरोपियन जाति में पितृपूजा की प्रथा नहीं थी। ऐसी बातें ऐतिहासिक गवेषणा की उन्नति में बाधा डालने वाली हैं। मैं इस बात के कहने में वाध्य हूँ, कि हर्बर्ट स्पेन्सर साहब के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि कुछ विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं कि पितरों की पूजा करना ही किसी इन्डो यूरोपियन जाति का एक मात्र धर्म हो—यह बात बिलकुल सही है, यही बात और धर्मों के विषय में भी सही हो सकती है। इस विषय में मेरा ऐसा विश्वास है कि मानवी विकास-शास्त्र के विद्यार्थी वेद की अपेक्षा और किसी पुस्तक से अधिक नहीं सीख सकते हैं।

वेद में देवताओं के साथ ही साथ पितरों का भी आह्वान किया जाता है—परन्तु वे दोनों एकही नहीं समझे जाते। जो देवता हैं, वे पितर नहीं हो सकते हैं। हां कभी, कभी पितरों के साथ भी देव विशेषण लगा दिया गया है, और उन्हें पुराने देवताओं के समान ऊंचा समझा गया है, (मनु० अध्याय ३ श्लोक १९२, २८४, याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १ श्लोक २६८)। तथापि यह बात शीघ्र ही मालूम हो

सकती है कि पितर और देवताओं की उत्पत्ति पृथक् पृथक् और स्वतन्त्र है और उपासना के लिए ये दोनों मानवीबुद्धि में दो पृथक् सत्तायें हैं, यह भेद कभी नहीं भूलना चाहिये।

हम ऋग्वेद (६ मण्डल ५२-४) में इस देव-आहुति में पढ़ते हैं उषा मेरी रक्षा करें,—बहती हुई नदियां मेरी रक्षा करें, अचल पर्वत मेरी रक्षा करें, पितर मेरी रक्षा करें। इससे अधिक प्रमाण, पितरों के पृथक् अस्तित्व में और क्या हो सकता है। ये उषा, नदी और पर्वतों से अलग हैं, यद्यपि इन सब का आह्वान एकही देव-आहुति में किया गया है। हमें पितरों में दो भेद समझने चाहिये-एक तो वे पितर जो कुछ कुटुम्बों के बहुत दूर के पुराने और कल्पित पूर्वपुरुष हैं अर्थात् जिन्हें वेद के ऋषियों में सम्पूर्ण मनुष्यजाति मानी है और दूसरे वे पितर हैं जिन्हें इस लोक से गये थोड़े दिन हुये हैं और जिन की स्मृति उनकी सन्तानों को बनी है और जिनका वे स्वयं सम्मान करते हैं। पहिली कोटि के पितर लगभग देवताओं ही के समान हैं। उनके विषय में कहा जाता है कि वे यमलोक को चले गये हैं और वहां देवताओं के संग रहते हैं, (देखो ऋ० मं० ७-७६-४ देवानां सधमादः; ऋ० मं० १०-१६-२ देवानां वसतिः)। हम कभी कभी प्रपिता-महों का स्वर्ग में पिता-महों का आकाश में और पिताओं का पृथ्वी पर होना पढ़ते हैं; पहिले आदित्यों के साथ दूसरे रुद्रों के साथ, और तीसरे वसुओं के साथ रहते हैं। ये सब रूप कवियों की व्यक्तिगत कल्पनाएं हैं। कभी कभी यमदेवता को भी पितृ लोगों के समान बुलाया जाता है। यह वह देवता है जो मनुष्यों में से पहिले पहिल ही मर कर पितरों

के मार्ग में गया और जो मार्ग पश्चिम में सूर्यास्त की दिशा में है (ऋग्वेद मं० १०, १४, १-२) तथा (पितृयान १० अ० २-७) उसे वैवस्वत कहा है (ऋ० मं० १०, ५८, १) कभी विवस्वत का पुत्र कहा है (ऋ० मं० १०, १४, ५), पीछे से यम को आदि पुरुष का रूप माना है (अथर्ववेद १८, ३, १३ और १८, २, ४६; ऋग्वेद मं० १०, १४, १) । इस देवता का असली देवत्व कभी नहीं छिपता है और सूर्य, अस्त का देवता होने के कारण वह पितरों का नेता है, परन्तु स्वयं पितरों में से नहीं है । (ऋ० मं० १०, १४)

बहुत से सुख जो मनुष्यों को पृथ्वी पर मिले हैं पितरों के दिये हुए बताये जाते हैं । इन सुखों को पहिले पितरों ने ही प्राप्त किया था और उन्हें भोगा था । पहिले पहिल यज्ञ उन्होंने ही किये थे और उनके फलों का भोग उन्हीं को मिला था । प्रकृति की बड़ी बड़ी घटनाएं जैसे—सूर्य का उदय, दिन-रात्रि का प्रकाश, और अन्धकार का होना, इन्हीं के कारण कहा जाता है । प्रातःकाल सूर्य का उदय कर दिनों का लाना इन्हीं का काम बताया जाता है और इसी के लिए उनकी प्रशंसा की जाती है (१० अ० ६८-११) । रात्रि को तारों से अलंकृत करने के लिये उन्हीं की प्रशंसा की जाती हैं । पिछले ग्रन्थों में तारों को उन अच्छे मनुष्यों का प्रकाश बताया है जो स्वर्ग में पहुँच गये थे ।

ऐसे ही विचार प्राचीन ईरानी और यूनानी लोगों में भी प्रचलित थे । वेदों में पितरों को सत्या, सुविदात्र, ऋतावर्त, कवि और पथिकृत् के नाम से कहा है और इनके

लिए एक विशेषण जो बार बार आता है सोम है, अर्थात् जो सोम रस से प्रसन्न हों।

वैदिक ऋषियों के पीने की एक मादक वस्तु का नाम सोमरस था, जिसके पीने से, पीने वाले * अमर हो जाते थे, परन्तु पिछले समय में यह वस्तु जाती रही अथवा जब आर्य पंजाब में आगये थे तो उन्हें इसका मिलना बहुत कठिन होगया (ऋ० वे० मं० ६, ६७, ३६,) । भृगु, अंगिरा और ‡ अथर्वण ऋषियों के कुटुम्ब के भी पितर हैं, जिन्हें बुलाकर कुश के आसन पर बठाते हैं और जो कुछ बलि उनके सामने रखी जाती है उसके स्वीकार करने के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है। 'पितृयज्ञ' शब्द का अर्थ पितरों के लिए यज्ञ करना है। + ऋगवेद के मंत्रों में से निम्न लिखित एक मंत्र है, जिसके द्वारा प्राचीन पितरों को यज्ञ के समय बुलाया जाता था। (ऋ० वे० मं० १०-१५) सोमरसानुरागी पितरो ! जो कोई भी नीचे ऊपर और बीच के लोकों में हो उठो। सीधे सच्चे पितरो जो पुनर्जीवित हो गये हैं हमारी इन आहुतियों में रक्षा करो। (२) हमारी स्तुति पितरों को हो, जो आज या आज से पहिले इस लोक को छोड़ चुके हैं, या आज से पीछे छोड़ेंगे, वे चाहें आकाश में हों, चाहे पृथ्वी के ऊपर हों और चाहे उन पुरुषों में हों जो सुखी हैं। (३) मैंने धीर पितरों को

* ऋ० वे० ८ मं० ४८, ३, १२ ।

‡ ऋ० वे० १० मं० १४, ६ ।

\+ ऋ० वे० १० मं० १५, १० ।

आहुति दी है; वे शीघ्र ही यहां आवें और कुशासन पर बैठ कर तैयार किये हुए सोमरस को तत्काल ही ग्रहण करें। (४) कुशासन पर बैठे हुये पितरो! हमारी सहायता के लिये यहां आओ। हमने तुम्हारे लिए सोमरस तैयार किया है, उसे ग्रहण करो। अपनी दैवीशक्ति के द्वारा हमारी रक्षा करने के लिए यहां आओ और हमें निरन्तर स्वास्थ्य और सम्पत्ति दो। (५) सोमरसाभिलाषी पितरों को उनके प्रिय भोजनों के लिए जो कुशा पर रक्खे हैं यहां बुलाया है। वे आवें, हमारी सुनें, हमें आशीर्वाद दें और हमारी रक्षा करें। (६) अपने घुटनों को नवाकर मेरे दक्षिण ओर बैठकर इस यज्ञ को स्वीकार करो। हे पितरो! हम मनुष्य हैं हमसे जो कुछ भी आपका अपकार बन पड़ा हो उसके लिए हमारी हानि मत करो। (७) रक्तवर्ण, उषा की गोदी में बैठे हुये आप उदारचित्त मनुष्यों को धन दो। हे पितर! मनुष्य की सन्तानों को अपने भण्डार में से दो और हमें बल दो। (८) हे मित्रों के मित्र यमदेव! मित्र-भाव से और अपनी इच्छानुसार हमारे पुराने सोमरसाभिलाषी पितरों जो वाशिष्ठ (वशिष्ठ की सन्तान) कहाते हैं और जिन्होंने सोमरस तैयार किया था; उनके साथ बलि ग्रहण करो। (९) हे अग्निदेव! यहां आओ और साथ में उन सच्चे और धीर पितरों को भी लाओ जो अग्निवेदियों के समीप बैठना पसन्द करते हैं, जो देवताओं की अभिलाषा करते हुये प्यासे रहते हैं, जो यज्ञ को जानते हैं और जो स्तुति गीतों में बड़े निपुण हैं। (१०) हे अग्निदेव! यहां आओ, साथ में उन पुराने पितरों को लाओ

जो अग्नि-वेदियों के समीप बैठना पसन्द करते हैं, जो सर्वदा सत्य-देवों की प्रशंसा करते हैं, जो हमारे बलिदान को इन्द्र और दूसरे देवताओं के साथ खाते पीते हैं। (११) हे पितरो! तुम्हारे शरीर अग्निदेव के द्वारा भस्म हुए थे, यहां आओ, अपने आसनों पर बैठो, तुम्हीं हमारे कृपालु पथ प्रदर्शक हो। जो बलि हमने यज्ञ-शाला में रखी है उसे ग्रहण करो, हमें बलवान् सन्तानें और धन दो। (१२) हे अग्नि! हे जातवेदस्! हमारी प्रार्थना से आपने हमारे बलिभोगों को मिष्ट कर दिया और फिर उन्हें ले गये हो। तुमने ही इन बलि-भागों को पितरों को दिया है और उन्होंने अपने अपने भाग का भोजन किया है। हे देव! जो हवि हम आपको देते हैं उसे आप भी ग्रहण करो। (१३) हे जातवेदस्! तुम जानते हो कि पितर कितने हैं अर्थात् उन सब पितरों को जो यहां हैं और जो यहां नहीं हैं और जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम नहीं जानते हैं। यज्ञ सामग्री के साथ विधि पूर्वक तैयार की हुई बलि ग्रहण करो। (१४) हे भगवन्! उन्हें, जिन्हें अग्नि ने दग्ध किया है और जिन्हें दग्ध नहीं किया है और जो स्वर्ग में अपना भाग पाकर आनन्दित हैं, उन्हें वैसा ही शरीर धारण करने दीजिये जैसा वे चाहते हों।

इन आद्य पितरों की पूजा के सिवा, बहुत प्राचीन काल से मृत पिता, पितामह और प्रपितामह की पूजा सन्तानों की ओर से होती चली आई है। ऐसे अनुष्ठान, जिनमें व्यक्तिगत सन्मान-भाव प्रगट होते हैं, प्रत्येक प्रान्त में कुछ न कुछ भिन्न हैं और गृहसम्बन्धी बातों से सम्बन्ध रखते हैं।

यह सर्वथा असम्भव है कि उन सूक्ष्म विधियों का थोड़ासा भी हाल दिया जाय, जो ब्राह्मण, स्रौत्र, गृह्य और सामयाचारिक सूत्र और स्मृति ग्रन्थों में है तथा इनसे पीछे लिखी अनेक टीका और भाष्यों में हैं जिनमें असंख्य विधियां लिखी हैं और जिन सब का उद्देश्य पितरों की पूजा करना है। समय और ऋतु, वेदियां और बलि पदार्थ, यज्ञ सम्बन्धी पात्रों की संख्या और यज्ञ कराने वालों के बैठने के आसन और यज्ञ पात्रों के स्थापन करने का विधान, इन सब बातों के लिए ऐसे विस्तृत नियम हैं कि जिनका समझना कठिन है कि जिन्होंने ये पेचीदगियां निकाली हैं उनके भाव और उद्देश्य क्या थे। इस विषय में अर्थात् यज्ञ के नियमों के विषय में योरोपियन विद्वानों ने भी बहुत कुछ लिखा है। इस विषय का पहिला ही पहिला ग्रन्थ कोलब्रूक साहब का 'हिन्दू-धार्मिक-अनुष्ठान' नामक परमोत्तम लेख है; जो पहिले पहिल एशियाटिक रिसर्च की पांचवीं जिल्द में हैं और जो सन् १७९८ ई० में कलकत्ते में छपा था।

परन्तु जब हम यह सीधा सवाल करते हैं कि इन सब बाहरी रीति रिवाजों का क्या अभिप्राय था और कौनसी मानवीहृदय की इच्छा को पूरी करने के लिए बनाई गई थीं तो हमें कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता है।

यह ठीक है कि हिन्दुस्थान में आज तक श्राद्ध होते आये हैं, परन्तु हम जानते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में उनके करने के जैसे नियम लिखे हैं, उनसे आजकल के श्राद्धों में बहुत कुछ अन्तर है। हाल ही में जो लोग हिन्दुस्थान से

यहां (इंगलैण्ड में) आये हैं उनकी मुह-ज़बानी सुनते हैं कि इन प्राचीन श्राद्ध-विधानों का अभिप्राय, सिवा उन लोगों के जो संस्कृत जानते हैं और प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ सकते हैं और कोई नहीं जानता है। पितरों के ग्रहण करने के लिए कैसे पिण्ड बनाये जाँय, कितने कुशों को इन पिण्डों के रखने के लिए बिछाना चाहिये, ये कुश कितने लम्बे होने चाहिये और उन्हें किस ओर पकड़ना चाहिये, इस विषय में विस्तृत विवरण मिलते हैं। जिन चीज़ों से हमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता है उनके विषय में तो बहुत सविस्तर वर्णन है; लेकिन उन थोड़ी चीज़ों के विषय में जिन की परवा सच्चे विद्वानो को है, कुछ वर्णन भी नहीं है, जैसे यह चीज़ें हमारे काम की ही नहीं हैं। इन बातों को हमें कूड़ा करकट के ढेरों के नीचे से खोजकर निकालना है। प्रकाश प्राप्त करने के लिये हमें चाहिये कि हम निम्न लिखित बातों के भेद समझ लें।

१—दैनिक पितृयज्ञ जो पंच-महा-यज्ञों में से एक महायज्ञ है।

२—मासिक-पिण्ड-पितृ-यज्ञ, जो अमावास्या और पूर्णिमा सम्बन्धी यज्ञों का एक अंश है।

३—किसी गृहस्थ की मृत्यु पर अन्त्येष्टि क्रिया।

४—श्राद्ध जो प्रेम और दान रूपी भोज हैं और इन भोजों में भोज्य और दूसरी तरह के दान, मृत पितरों की याद में योग्य पुरुषों को दिये जाते हैं। यद्यपि श्राद्ध का यही उद्देश्य है तथापि ऊपर कहे

हुये दूसरे, तीसरे यज्ञों को भी श्राद्ध ही कहते हैं, क्योंकि उन यज्ञों में श्राद्ध का होना परमावश्यक है।

दैनिक पितृयज्ञ पंच महायज्ञों + में से एक है जिसे प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन करना चाहिये। इन पञ्च महायज्ञों के नाम गृह्यसूत्रों में इस प्रकार हैं। (आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० ३ सू० १)

१—देवताओं के लिये देवयज्ञ।

२—पशु आदि के लिये भूतयज्ञ।

३—पितरों के लिये पितृयज्ञ।

४—ब्राह्मणों अर्थात् वेद पढ़नेवालों के लिये ब्रह्म-यज्ञ।

५—मनुष्यों के लिये अर्थात् अतिथि-सत्कार के लिये मनुष्य-यज्ञ × ।

मनुस्मृति के ३ रे अध्याय के ७० वें श्लोक में भी यही बात लिखी है अर्थात् गृहस्थों को पांच धार्मिककार्य करने चाहिये।

१—ब्रह्मयज्ञ-वेदों का पठन, पाठन, (अहुत)

२—पितृयज्ञ-पितरों को पिण्ड और जल-दान देना।

३—देवयज्ञ-देवताओं को बलि देना। (हुत)

+ शतपथ ब्राह्मण (११) ५, ६, १, तै० आ० (२) ११, १०, आश्वलायन गृह्यसूत्र (३) १, १, पारस्कर गृ.सूत्र. (२) ९, १,

× शांखायन गृह्य सूत्र [(१) ५] में चार पाकयज्ञ कहे हैं, यानी हुत, अहुत, प्रहुत, और प्राशित।

४—भूतयज्ञ-पशु आदिकों को अन्न देना। (प्रहुत)

५—मनुष्ययज्ञ-अतिथियों का सत्कार करना। (ब्रह्महुत)

दैनिक पितृयज्ञ करने की क्रिया बड़ी सरल है, गृहस्थ अपने यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर डाल कर कहता है "पितृभ्य: स्वधा:" और तब फिर बचे हुये पिण्डों को दक्षिण दिशा में फेंक देता है (आ० गृ० सू० १-३-१०)। इस यज्ञ की ओर मनुष्य की जो स्वाभाविक रुचि वा प्रवृत्ति है उसका कारण स्पष्ट ही है। प्राचीन समय में मनुष्य का प्रतिदिन का पूरा कर्तव्य इन पांच यज्ञों का करना ही समझा जाता था। इनका सम्बन्ध उसके प्रतिदिन के भोजनों × के साथ था। जब उसके भोजन तैयार हो जाते थे, तब उन्हें छूने के पहिले वह देवताओं को भोग लगाता था और इसे वैश्वदेव बलि कहते थे। इन देवताओं में मुख्य देवता ये हैं-अग्नि, सोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू और अनुमति (चन्द्रमा की कलाएं) प्रजापति, (जीवों का स्वामी), आकाश, पृथ्वी और स्विष्टकृत् अर्थात् हवन कुण्ड की अग्नि। इस प्रकार चारों दिशाओं के देवताओं को प्रसन्न कर गृहस्थ, कुछ खाद्य वस्तुओं को पक्षियों और भूत-प्रेतादि अदृश्य योनियों के लिये आकाश में फेंकता था एवं इसके पीछे पितरों का भोग लगाता था। इतना करने पर भी वह भोजन करना आरम्भ नहीं करता था जब तक वह अतिथियों को कुछ न दे देता था। जब गृहस्थ यह सब कुछ कर लेता और अपनी नित्य क्रियाओं (देव-वन्दना अथवा वेद-पाठ) को भी कर चुकता था तब वह समझता था कि संसार में

× मनु० ३ अ० ११७-११८ मनु० ३ अ० ८५

जितनी वस्तुएं मेरे चारों तरफ हैं उनके साथ मैंने अपना कर्तव्य कर लिया है और शान्ति प्राप्त कर ली है । पंच महा-यज्ञ करने के पश्चात् वह अपने को स्वार्थ और प्रमाद-युक्त जीवन के दोषों से मुक्त हुआ समझता था। पितृ-यज्ञ का विवरण जो पंच महायज्ञों में से एक है, ब्राह्मणभाग, गृह्य और सामयाचारिक सूत्र और धर्म संहिताओं में है। राजेन्द्रलाल मित्र* लिखते हैं कि धर्मावलम्बी ब्राह्मण अभीतक इन पांचों यज्ञों को करते हैं। वास्तव में देव और पितृयज्ञ ही किये जाते हैं, ब्रह्मयज्ञ की जगह केवल गायत्री का जप ही किया जाता है और कभी कभी आतिथ्य कर्म और पशु आदि को भाग भी दिया जाता है; लेकिन निश्चित रूप से नहीं। इस दैनिक पितृ-यज्ञ से बिलकुल भिन्न, पिण्ड-पितृ-यज्ञ है, जो बहुत से यज्ञों का आवश्यक अंग है, विशेष कर उन यज्ञों का जो अमावास्या और पूर्णिमा के दिन किये जाते हैं। जिस अभिप्राय से यह यज्ञ किया जाता है वह भी स्पष्ट ही है ।

प्राकृतिक घटनाओं का नियम बद्ध होना, आकाश के ग्रह आदिकों का नियमित रूप से भ्रमण करना, विश्व-शासन करने वाली शक्ति में विश्वास का बढ़ते जाना इत्यादि देखकर मनुष्य के विचार अपने प्रतिदिन के कार्यों से पारमार्थिक विषयों पर जाते हैं; और इसीलिए वह इन महान् शक्तियों की प्रशंसा करता उनके लिए अपनी कृतज्ञता प्रगट करता और उन्हें बलि प्रदान करना चाहता है और ये ही सब बातें इस यज्ञ के करने की हेतु हैं । ऐसे अवसरों पर जब

* तैत्तरीयारण्यक भूमिका पृष्ठ २३ ।

चन्द्रमा का प्रकाश दिन प्रतिदिन घटता जाता है तो मनुष्यों के विचार पिता प्रपितामहादि की ओर अवश्य जायंगे, जिनका जीवन भी इस तरह से दिन प्रतिदिन घटता गया था और जिनके प्रकाशमान् मुख इस पृथ्वी पर अब नहीं दिखाई देते हैं। अमावास्या के यज्ञ के प्रारम्भ में, जैसा कि ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में लिखा है, पितृयज्ञ करना चाहिये। दक्षिणाग्नि में एक चरू तयार किया जाता था और पिण्ड तथा जल (तर्पण), पिता, पितामह और प्रपितामह के नाम से दिया जाता था। यदि यज्ञकर्ता की स्त्री को सन्तान की इच्छा है तो वह इन पिण्डों में से एक अर्थात् मध्यपिंड को खा + लेती है।

इसी प्रकार के पितृबलि अन्य यज्ञों में भी हुआ करते थे, जिनमें से अमावास्या और पूर्णिमा के यज्ञ साधारण रीति के नमूने हैं। इन दोनों प्रकार के पितृयज्ञों का एक ही उद्देश्य और एक ही नाम है; लेकिन उनके क्रिया-विधान भिन्न भिन्न हैं। यदि इन दोनों यज्ञों को मिला दिया जाय जैसा कि बहुधा किया जाता है, तो वे आवश्यक बातें जो हम प्राचीन अनुष्ठान-विधान से सीख सकते हैं, हमें उपलब्ध नहीं हो सकती हैं। इन दोनों पितृयज्ञों का भेद इससे अच्छी तरह क्या बतलाया जा सकता कि पहिले प्रकार का पितृयज्ञ तो घर का जेष्ठ पुरुष, और दूसरे प्रकार का यज्ञ यजमान का

+ तीन पितरों को ही पिण्ड देने का नियम वाजसनेयिसंहिता में है देखो १९ अ० ३६-३७ ।

नियुक्त किया हुआ कोई पुजारी करता है। हिन्दुओं के विचार के अनुसार पहिला गृह्य और दूसरा श्रौत यज्ञ + है।

अब हम तीसरे प्रकार की क्रियाओं को बतलाते हैं। ये क्रियाएं भी व्यक्तिगत और गृह्य हैं। इनमें और पहिली दो क्रियाओं में कुछ कुछ अन्तर है। ये क्रियाएं अन्त्येष्टि-क्रियाएं हैं और पहिली पितृसम्बन्धी क्रियाएं हैं। दैनिक और मासिक पितृयज्ञों से अन्त्येष्टि-क्रियाएं एक बात में पितृ-पूजा का प्राचीन रूप बताती हैं, इनके द्वारा मरे हुये मनुष्यों को पितरों की कोटि में आने के लिये तैयार किया जाता है। पितृगण की कल्पना जो मैं पहिले वर्णन कर आया हूं मनुष्य के मरने और पितृ बनाये जाने के पहिले निर्धारित हो चुकी थी। इसलिये मैंने पितृयज्ञों का पहिले वर्णन किया है।

मुझे भारतवर्ष के लोगों की अन्त्येष्टि-क्रियाओं के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लगभग ३० वर्ष पहिले मैं "वैदिक अन्त्येष्टि एवं यज्ञ-प्रथा" नामक लेख में इनका पूरा हाल लिख चुका हूं। यूनानी, रोमिन, स्लैवोनिक और ट्यूटेनिक जातियों में जैसी अन्त्येष्टि-क्रियाएं प्रचलित थीं और जो उनका उद्देश्य था वही उद्देश्य इन क्रियाओं का भी है और इन दोनों में बहुत से ऐसे समान लक्षण हैं, जिन्हें देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है।

+ भिन्न भिन्न शाखाओं के भिन्न भिन्न मत हैं- गोभिलशाखा में पिण्ड-पितृ-यज्ञ को स्मार्त माना है-श्रौत नहीं, दूसरी शाखाओं में लिखा है कि अग्निमत् को स्मार्त और श्रौताग्निमत् को श्रौत-पितृ-यज्ञ करना चाहिये।

वैदिक-काल में भारतवासी अपने मरे हुओं को जलाते भी थे और गाड़ते भी थे, एवं अन्त्येष्टि क्रियाओं को बड़ी श्रद्धा और गम्भीर भावों से करते थे और कुछ समय पीछे इसे निर्दिष्ट नियमों के अनुकूल करने लगे थे। उन लोगों के विषय में जो मर जाते थे और जब उनका शरीर जला दिया जाता था और इनकी भस्म गाड़ दी जाती थी लोगों के क्या विचार थे ? इसका यही उत्तर है कि ये विचार, अनेक प्रकार के थे; लेकिन इन सब विचारों में व्यापक सिद्धान्त यह था, कि पृथ्वी पर उनका जैसा जीवन रहा है, उसी से मिलता जुलता जीवन उनका फिर होगा और यह विश्वास भी था कि ये पितृ लोग अपने सन्तानों का भला करते है । इसलिये गृहस्थों का यह कर्तव्य हो गया कि अपने मरे हुये पितरों और सम्बन्धियों की प्रसन्नता, यज्ञ और दूसरी क्रियाओं के द्वारा प्राप्त करें । पहिले पहिल इन क्रियाओं का करना मानवी भावों का सहज उद्गार था; परन्तु कुछ काल पीछे ये क्रियाएं मर्यादा-सम्पन्न नियम-बद्ध और विधि-विहित हो गई । जिस दिन किसी का दाह कर्म होता था तो उसके समानोदक कुटुम्बी स्नान करके मृतक के लिये दान करते थे और तर्पण करने के समय उसका और उसके कुटुम्ब का नाम लेते जाते + थे । सायंकाल के समय वे घर लौटकर आते थे और उस रात को वे भोजन आदि कुछ नहीं बनाते थे । दूसरे दिन से दस दिन तक कुछ विहित नियमों के अनुसार रहते थे और ये नियम मृतक के चरित्र पर बहुत कुछ निर्भर थे । ये

+ आश्व० गृ० सू० (४) ४, १०,

दिन शोक अथवा सूतक के ...होते थे और इन दिनों में प्रतिदिन का सांसारिक कार्य कुछ नहीं होता था और जीवन के सब साधारण और शुभ कार्य बन्द × रहते थे।

कृष्णपक्ष की एकादशी, त्रयोदशी अथवा अमावस्या के दिन मृतक-शरीर की भस्म उठाई जाती थी। भस्म उठाने के पीछे लोग स्नान करते थे और फिर मृतक के नाम से श्राद्ध करते थे।

श्राद्ध शब्द अब पहिले ही पहिल मिलता है और यदि हम उसका अर्थ अच्छी तरह समझें तो हमें बहुतसी उपयोगी बातें मालूम होंगी। पहिले पहिल यह बात जानना आवश्यक है कि श्राद्ध शब्द केवल वेदमंत्रों में ही नहीं बल्कि प्राचीन ब्राह्मणभागों में भी नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि यह शब्द पीछे का है-आपस्तम्ब-धर्मसूत्रों में कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनसे मालूम होता है कि सूत्र बनाने वाले को यह बात मालूम थी कि श्राद्धों का प्रचार पीछे से हुआ है। उन वाक्यों का भावार्थ निम्नलिखित + है:—

भूलोक में पहिले पहिल मनुष्य और देवता साथ साथ रहते थे। देवता तो अपने यज्ञों के फल से स्वर्ग को चले गये परन्तु मनुष्य पीछे ही रह गये। जो मनुष्य उसी प्रकार से

× मनु० ५ अ० ६४-६५

+ गोभिल गृह्यसूत्रों ((४) ४, २, ३) में श्राद्ध करना लिखा है पर उसका वर्णन उसमें नहीं दिया, यह वर्णन श्राद्धकल्प नाम पृथक् ग्रन्थ में है।

यज्ञ करते रहे जैसा कि देवता करते थे, वे मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में देवताओं और ब्रह्म के साथ आ बसे । मनुजी ने यह देखकर कि मनुष्य पीछे ही रह गये, उस क्रिया का आविष्कार किया जिसे श्राद्ध कहते हैं ।

श्राद्ध शब्द के बहुत से अर्थ हैं और मनुजी ‡ पितृयज्ञ को ही श्राद्ध कहते हैं, परन्तु श्राद्ध का प्राचीन अर्थ है:—किसी चीज को श्रद्धा से देना, अर्थात् सुपात्रों को विशेषतः ब्राह्मणों को दान देना । इस दान का नाम श्राद्ध था, लेकिन जिस क्रिया से यह दान किया जाता था उसी को इस नाम से पुकारने लगे । आश्वलायन गृह्यसूत्रों के भाष्य (४-७) में नारायणभट्ट ने इसका अर्थ इस तरह लिखा है, कि जो कुछ ब्राह्मणों को पितरों के लिये श्रद्धापूर्वक दिया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं (पितॄनुद्दिश्य यद् दीयते ब्राह्मणेभ्यः श्रद्धया तच्छ्राद्धम्)

मनुष्य की मृत्यु पर अथवा जब कभी कुटुम्ब में कोई शुभ और अशुभ घटना होती थी तब मृतक की स्मृति होती थी और ऐसे दान स्वाभाविक रूप से और बड़ी प्रसन्नता से दिये जाते थे । इस प्रकार पितरों की स्मृति में अनेक पवित्र क्रियाएं की जाती थीं । उन सबका नाम श्राद्ध है । केवल अन्त्येष्टि-क्रिया के सम्बन्ध में ही श्राद्ध नहीं होता था; बल्कि शुभ अवसरों पर भी कुटुम्ब या उस कुटुम्ब के पुरुषों के नाम से श्राद्ध होते थे । इसलिये यह समझ लेना कि पितरों को तर्पण और पिण्ड देने का नाम ही श्राद्ध है,

‡ मनु० ३ श्र० ८२

भूल है। पितरों को बलि देना श्राद्ध का एक अंश अवश्य है, लेकिन उसका परमावश्यक अंश पितरों की याद में दान देना है। जैसे, मध्य-कालीन युग में गिरजों में दिये दान का दुरुपयोग होने लगा, वैसेही इस दान का भी दुरुपयोग होने लगा। प्रारम्भ में इस दान का उद्देश्य अच्छा था। मृत्यु के समय दूसरे अवसरों की अपेक्षा यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि हम संसार से कोई वस्तु बाहर नहीं ले जाते हैं अतः जितनी सांसारिक वस्तुएं हैं उन सब का हम जहां तक हो सके सदुपयोग करें। इसी विश्वास से दूसरों के परोपकार करने में लोगों की इच्छा हुई। श्राद्ध के अवसरों पर ब्राह्मणों को यज्ञ की अग्नि समझते थे और इस अग्नि में दान सामग्री की आहुति देना उचित समझा गया + था। यदि हम ब्राह्मण शब्द का अनुवाद, पुजारी शब्द से करें तो हम समझ सकते हैं कि पिछले समय में श्राद्धों के प्रति इतना घोर विरोध क्यों हो गया था। ब्राह्मण का अर्थ पुजारी नहीं हैं। सामाजिक और मानसिक दृष्टि से एक उच्चकोटि की शिक्षा पाये हुए लोग ब्राह्मण कहलाते हैं। भारतवर्ष की प्राचीन समाज में ब्राह्मण ही परमावश्यक और प्रतिष्ठित थे। इनका जीवन दूसरों के लिए ही था और ये संसार के लाभदायक व्यवसायों से अलग रहते थे। इसी विचार से यह सामाजिक और कुछ समय पीछे धार्मिक कर्तव्य हो गया कि इन लोगों का पालन-पोषण समाज की ओर से किया जाय। इस बात का बड़ा ध्यान

+ आपस्तम्ब (२) १६, ३।

रक्खा जाता था कि जो कुछ दान, श्राद्ध के समय दिया जाय, उसके लेने वाले कोई अन्य पुरुष ही हों-शत्रु. मित्र अथवा कोई रिश्तेदार न हों। आपस्तम्ब सूत्रों में कहा है कि श्राद्धसमय में यदि यजमान का कोई सम्बन्धी भोजन करे, तो उस मनुष्य का भोजन करना ऐसा ही है जैसे भूत, प्रेतों को खिलादेना, और वह भोजन देवताओं और पितरों को नहीं पहुंचता है। जो मनुष्य श्राद्ध में दान देकर किसी व्यक्ति पर प्रसन्नता प्रकट करने की चेष्टा करता है वह श्राद्ध-मित्र * नाम से पुकारा जाता है।

इस बात को मानते हुए कि आगे चलकर श्राद्धों की प्रथा बुरी हो गई थी, मेरी सम्मति है कि इस प्रथा की उत्पत्ति शुद्ध भावों से हुई है; केवल शुद्ध भावों ही से नहीं बल्कि ऐसे उद्देश्यों से भी कि जिन्हें लोगों ने अच्छी तरह समझ लिया था। यह बात हमारे इस लेख के लिये तो बहुत ही महत्वपूर्ण है।

अब हम आश्वलायन गृह्यसूत्रों के उस वाक्य पर फिर विचार करते हैं, जिनमें हमें श्राद्ध ‡ शब्द पहिले ही पहिल उपलब्ध हुआ था। जब मृतक की भस्म किसी बर्तन में इकट्ठी करके गाड़ दी जाती थी तब उस मृतक के लिए श्राद्ध किया जाता था। इस श्राद्ध का नाम एकोद्दिष्ट + था

* मनु० ३ अ० १३८, १४०।

‡ आश्वलायन गृह्यसूत्र (४) ५, ८।

\+ गोभिल गृह्यसूत्रों में इसे पार्वणश्राद्ध की विकृति कहा है।

अर्थात् वह एक के लिए किया जाता था—तीनों अथवा सब पितरों के लिये नहीं। इसका उद्देश्य मृतक को पितरों की श्रेणी में पहुँचाना था, इसकी पूर्ति साल भर तक श्राद्ध-दान करने से होती थी, इस विषय में आदि नियम यही है। आपस्तम्ब में लिखा है कि मृतक पुरुष के लिए साल भर तक प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिये—और इसके पश्चात् मासिक श्राद्ध किया जाय, एकोद्दिष्ट श्राद्ध न किया जाय, क्योंकि इससे मृतक पार्वण * श्राद्ध में भाग लेने लगता है। सांख्यायन गृह्यसूत्र का भी यही मत है अर्थात् यह कि एकोद्दिष्ट श्राद्ध एक ही साल तक किया जाता है; इसके पश्चात् चौथे पितर याने प्रपितामह को श्राद्ध में से छोड़ देते हैं, पितामह प्रपितामह हो जाता है और पिता पितामह। और जिसकी मृत्यु अभी हुई है वह प्रधान तीन पितरों में पिता का स्थान प्राप्त कर लेता है। इसको सपिण्डीकरण कहते हैं, जिसका अर्थ मृतक को पितरों की कोटि में पहुँचा देना है। इस विषय में भी और विषयों के समान बहुत कुछ मत-भेद है। गोभिल, ऐसे श्राद्धों को एक वर्ष की अपेक्षा छः महीने अथवा तीन महीने तक करने को कहते हैं। यदि कुटुम्ब में कोई वृद्धि-सूतक-घटना हो गई हो, तो सपिण्डीकरण † कर्म उसी अवसर पर कर दिया जाता है

* गोभिल गृह्यसूत्र।

† कुछ शास्त्रकारों के मत से, पहिले दश दिन के एकोद्दिष्ट श्राद्ध को नव कहते हैं, छः महीने के श्राद्ध को नवमिश्र और इससे पीछे के श्राद्ध को पूर्ण कहते हैं।

अर्थात् एक तो पहिला और फिर हर एक महीने में एक एक और फिर दो एक साथ—और अन्त में सपिण्डी श्राद्ध किया जाता है। इस विषय में बहुत कुछ विधि-विधान है। यदि सपिण्डीकरण श्राद्ध वर्ष के पहिले ही किया जाय तो भी पूर्वोक्त १६ श्राद्धों की संख्या पूरी करनी ही पड़ती है।

जब पुत्रजन्म अथवा विवाह आदि शुभ अवसर पर श्राद्ध किया जाता है, तो उस समय पिता, पितामह और प्रपितामह का आह्वान नहीं किया जाता है, क्योंकि इनको अप्रसन्नमुख कहते हैं, बल्कि उन प्राचीन पितरों का आह्वान किया जाता है जो प्रसन्नमुख कहलाते हैं। इसे नान्दीमुख + श्राद्ध कहते हैं।

कोलब्रुक साहब ने भी, जिन्होंने आधुनिक श्राद्धों का बहुत उत्तम वर्णन किया है, यही कहा है। वह लिखते हैं कि जब मृतक का शरीर दाह हो जाता है तो अन्त्येष्टि-क्रिया के द्वारा दिये हुए बलि से मृतक के जीव का दूसरा शरीर बनता है और इससे पीछे की क्रियाओं के द्वारा इस लोक से ऊँचा पहुँचाया जाता है। यदि ये क्रियाएं न की जांय तो हिन्दुओं के मतानुसार, उसका जीवात्मा भूत-प्रेतों में घूमता फिरता रहता है। इनके द्वारा उस जीव को स्वर्ग तक पहुँचा देते हैं और वहां वह पुराने पितरों की कोटि में प्रविष्ट होकर सम्मानित हो जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शोकावसर के समाप्त होने के दूसरे दिन मृतक का श्राद्ध करना चाहिये और १२ श्राद्ध १२ महीने में

+ गोभिल गृह्यसूत्र

पृथक् पृथक् करने चाहिये। इसी प्रकार तीसरे पक्ष के समाप्त होने पर श्राद्ध करना चाहिये। छठे और बारहवें महीने में भी श्राद्ध करना चाहिये और सपिण्डीकरण श्राद्ध जिसे वर्षी कहते हैं मृतक के एक वर्ष पूरे होने पर करना चाहिये, जो इस सपिण्ड श्राद्ध में एकोद्दिष्ट श्राद्धों का अन्तिम श्राद्ध है। ‡ मृतक को और उससे पहिले के पितरों को चार पिण्ड दिये जाते हैं। जो पिण्ड मृतक को दिया जाता है उसके तीन भाग किये जाते हैं और ये भाग दूसरे तीन भागों में मिला दिये जाते हैं। जो कुछ पड़ा रहता है वह बहुधा मृतक को दिया जाता है। इस प्रकार पहिले पितरों के साथ मृतक का मेल कर दिया जाता है और उसकी उनके साथ एकता हो जाती है। जब श्राद्धों के करने की प्रथा एक बार हो उठी, तो उसका बहुत शीघ्र प्रचार हो गया। मासिक श्राद्ध होने लगे और ये श्राद्ध हाल के मरे हुये पुरुषों ही के लिये नहीं होने लगे, बल्कि वे पिण्ड, यज्ञों के एक भाग समझे जाने लगे। इसका करना अग्निमत् गृहस्थियों पर ही आवश्यक नहीं था वरन् दूसरों पर भी। तीन उच्च वर्णों पर ही नहीं बल्कि शूद्रों पर भी, जो इसे बिना मंत्रों के करते थे। यह श्राद्ध नये चन्द्रमा के निकलने के दिन अर्थात् प्रतिपदा को ही नहीं होता था बल्कि अवसर आजाने पर दूसरे दिनों में भी होता था। गोभिल के मतानुसार पिण्ड-पितृ-यज्ञ

‡ कालम्ब्रुक साहब लिखते हैं कि बहुत से प्रान्तों में इन १६ क्रियाओं और सपिण्डीकरण को दूसरे या तीसरे दिन ही कर डालते हैं। फिर भी उन्हें समय समय पर करते रहते हैं लेकिन तब वह एकोद्दिष्ट श्राद्ध नहीं रहता है, उसमें सभी पितरों को शामिल कर लेते हैं।

भी श्राद्ध ही है; और इनके भाष्यकार का भी यह मत है कि यदि इन श्राद्धों में पिण्ड न दिये जांय तो ब्राह्मणों को भोजन कराना तो आवश्यक ही है। इस श्राद्ध में और अन्वाहार्य श्राद्ध * में, जिसका असली नाम पार्वणश्राद्ध है, भेद है। जैसी जैसी कठिनाइयां हमें पितर के श्राद्ध विधान के जानने में पड़ती हैं वैसीही ब्राह्मणों को भी पड़ती हैं, क्योंकि श्राद्धकल्प के भाष्य में इस विषय का सविस्तर सम्वाद हैं और इसके सिवा चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार ने रघुनन्दन मिश्र के विरुद्ध जो कुछ दुर्वाक्य लिखे हैं उनसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है। विवादास्पद विषय यह है कि इन श्राद्धों में प्रधान क्या है, और अङ्ग क्या है। इस वाद विवाद के पश्चात् जो सिद्धान्त निकला है वह यह हैं कि कभी तो पिण्डों का देना प्रधान है जैसा, पिण्ड पितृयज्ञ में, कभी ब्राह्मणों का भोजन कराना जैसा नित्य श्राद्ध में, और कभी दोनों बातें प्रधान हैं, जैसे सपिण्डी करण श्राद्ध में।

इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष के प्राचीन मनुष्यों के जीवन में कोई दिन ऐसा नहीं जाता था, जिस दिन उन्हें अपने दूर और पास के पितरों की स्मृति न हो, और वे उनके लिये जल-तर्पण, एवं पिण्ड देकर अथवा सुपात्र मनुष्यों विशेष कर ब्राह्मणों को दान देकर उनका सम्मान नहीं करते थे। दान वस्तुओं में दूध और फल से

* गोभिल (४) ४-३ गोभिल के मत से पार्वणश्राद्ध के अन्त में वैश्व-देवों का श्राद्ध और बलि-श्राद्ध होना चाहिये; लेकिन एकोद्दिष्ट श्राद्ध में वैश्वदेव श्राद्ध नहीं होना चाहिये।

लगा कर सुवर्ण और रत्नादि कीमती से कीमती चीजें होती थीं। श्राद्ध कराने के लिए जो लोग बुलाये जाते थे उनको बढ़िया बढ़िया भोजन कराये जाते थे। इस विषय में जानने की आवश्यक बात यह है कि इन भोजों में मांसाहार भी कराया जाता था, जो बहुत सी जातियों में पीछे से सर्वदा के लिए बन्द हो गया है। जिस समय सूत्र-ग्रन्थ लिखे गये थे उस समय ऐसे भोजों के अवसर पर मांसाहार प्रचलित था।

इससे प्रमाणित होता है कि यद्यपि श्राद्ध पितृ-यज्ञ के पीछे के चले हुये हैं, तथापि वे बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रचलित हैं। सम्भव है कि इन प्राचीन पितृयज्ञों के बाहरी रूप में कुछ परिवर्तन हो गया हो परन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य और रूप वैसा ही चला आता है। इस समय चाहे बहुत से प्राचीन देवताओं की पूजा जिनका वर्णन श्राद्ध में आता है, नहीं की जाय लेकिन पितृ-पूजा और श्राद्ध-भोजन बहुत कुछ अपने पुराने ही रूपों में चले आते हैं। इस प्रथा की तुलना कभी कभी ईसाइयों के गिरजे की कम्यूनियन नामक प्रथा से की जाती है। यह बात भी अवश्य सच्ची है कि बहुत से हिन्दू अन्त्येष्टि-कर्म और पितृ-श्राद्धों का नाम गम्भीर और वास्तविक सम्मान सूचक भावों से लेते हैं। प्रतीत होता है कि वे श्राद्ध क्रियायें ही हैं जो अब भी इस संसार में हिन्दुओं के जीवन को उच्चलक्ष्यात्मक और गम्भीर एवं सारगर्भित बनातीं हैं। मैं इस बात को कहता हूँ और अपने विश्वास को प्रकट करता हूँ कि हमारे धर्म में पितृ-स्मारक प्रथाओं के न रहने से एक बड़ी भारी हानि है। लगभग सभी धर्मों में ऐसी प्रथाएं प्रचलित हैं। ये माता-पिता अथवा

बच्चों के सप्रेम स्मारक चिन्ह हैं। बहुत से देशों में ये प्रथाएं कोरा ढकोसला हो गई हैं, तब भी इनमें मानवी विश्वास का जीता जागता प्रमाण है; और इसे कभी नष्ट नहीं होने देना चाहिये। प्राचीन ईसाई गिरजों में मरे हुओं की आत्माओं के लिये प्रार्थनाएं करते थे और बहुत से दक्षिणी देशों में आलसेन्टस् डे (Allsaints'Day) प्रेरितों वा महात्माओं के दिन और आलसोल्स् डे (Allsouls'Day) जीवात्माओं के दिन नामक पर्व दिनों में प्रार्थनाएं की जाती हैं। मनुष्य के हृदय की ये लालसाएं जो प्रत्येक धर्म में पूरी होनी चाहिये, पूरी करती हैं। उत्तरी देशों में हम ऐसी शोक-सूचक प्रथाओं को नहीं मानते हैं; लेकिन हम अपने मन में तो अवश्य जानते हैं कि इनके न होने से हमारे हृदयों में कैसी गम्भीर दुःख-स्मृति बनी रहती है। प्राचीन मनुष्यों का विश्वास था कि उन पुरुषों की जीवात्मा जिनसे उनका प्रेम था कभी आराम नहीं लेने देती हैं, जब तक कि उनकी याद में हम दिन प्रति दिन प्रार्थनाएं अथवा कोई परोपकार के कर्म न करें। इस विश्वास में जितना सत्य है उतना अभी हमारी बुद्धि में नहीं समाया है।

भारत के प्राचीन धर्म में एक पारलौकिक धारणा और है। देवलोक और पितृलोक के सिवा एक तीसरा लोक और था जिनके बिना भारवर्ष का प्राचीन धर्म वैसा नहीं हो सकता था जैसा कि हम वेदों में देखते हैं। तीसरा लोक वह है, जिसे वैदिक ऋषियों ने ऋत् कहा है और जिसका अर्थ मेरी समझ में पहिले पहिल सीधी रेखा था। सूर्य के दैनिक भ्रमण में जो सीधा मार्ग है उसे भी ऋत् कहते

हैं। जिस सीधी रेखा पर दिन रात और ऋतुएं होती हैं, और जिस सीधी रेखा को हम समस्त प्रकृति-लोक में विद्यमान देखते हैं, उसे ऋत् कहते हैं। इसी सीधी रेखा का नाम प्राकृतिक-नियम है और जब इस नियम को हम सदाचार सम्बन्धी विषयों में लगाते हैं तो उसे हम नैतिक या धार्मिक नियम कहते हैं। यह वह नियम है, जिस पर हमारा धार्मिक जीवन निर्धारित है। यह न्याय और सत्य का सनातन नियम है, यह वह नियम है जो हमारे भीतरी और बाहरी सत्य का विकाश करता है। जैसे प्रकृति पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डालने से पहिले पहिल प्रकाशमय देवताओं का ज्ञान उपलब्ध हुआ और तब अन्त में माता पिताओं में प्रेम करने के कारण ज्योतिःस्वरूप ईश्वर के अमरत्व में विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न हुई, वैसे ही जगत के भीतर और बाहर प्रकृति के अकाट्य नियमों के होने से ऐसे नियम में विश्वास उत्पन्न हुआ जो सर्वत्र व्यापक है, जिससे हम, कुछ भी क्यों न हों सर्वदा विश्वास कर सकते हैं। यह नियम हमारे भीतर विवेक की देवी वाणी से बोलता है और यह बताता है कि यही सत्य है, और यही न्याय है, चाहे हमारे पुरुषों के धर्म-वाक्य अथवा हमारे देवताओं की आज्ञाएं, उसके विरुद्ध ही क्यों न हों। ये तीन पारलौकिक धारणाएं प्राचीन काल में प्रकाशित हुई हैं और ये बातें, केवल वेदों के रहने के ही कारण हैं। जिससे हम १६ वीं शताब्दी में धार्मिक और मानसिक विचारों के प्राचीनरूप देख सके हैं जो अन्य साहित्य-संगठन कालों

से पहिले लुप्त हो चुके थे * । वेद, एक ऐसे प्राचीन नगर के सदृश हैं जो अन्य धर्मों के इतिहास में मिट्टी कूड़े से भर गया था और जिस पर नये कारीगरों ने नये भवन बना लिये थे, इसे देखकर हमारी दूर की बाल्यावस्था के बहुत से प्राचीन और शिक्षा-प्रद दृश्य एक बार फिर हमारे स्मरण में उठ खड़े हुये हैं, जिन्हें तीस या चालीस वर्ष पहिले हम हमेशा के लिये नष्ट हुये समझते थे ।

अब मैं थोड़े शब्दों में यह बताना चाहता हूँ कि भारत-वर्ष के इस धर्म-विकाश में भारतीय दार्शनिक विचारों के बीज किस प्रकार निहित थे । भारतवर्ष में दर्शन-शास्त्र धर्म की पूर्ति के लिए हैं, जैसा कि उन्हें होना चाहिये, न कि उसके खण्डन के लिये । ये ही उच्चतम धर्म हैं । भारतवर्ष के सब से पुराने दर्शन-शास्त्रों में सब से प्राचीन वेदान्त दर्शन है जिसका अर्थ, वेद का अन्त उसका अन्तिम लक्ष्य और अन्तिम उद्देश्य है ।

मैं ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी के प्राचीन धार्मिक ऋषि की ओर ध्यान दिलाता हूँ, जिसने यह लिखा है कि मेरे समय के पहिले ही वेद के सब देवताओं का, तीन प्रकार के देवताओं में संगठन हो गया था, अर्थात् पृथ्वी के देवता, वायु के देवता, और आकाश के देवता । इन्हीं को अनेक नामों

* चीन के धर्म में भी हम इन तीन धारणाओं को पाते हैं—कनफ्यूसस, संग के राजा को उपदेश करता है "आकाश याने देवताओं की पूजा करो, पितरों की पूजा करो । यदि तुम यह करते रहोगे तो सूर्यचन्द्र अपने नियम से काम करते रहेंगे" ।

से पुकारते थे। यही लेखक लिखता है कि वास्तव में एकही देवता है और इस देवता को वह ईश्वर या परमेश्वर या सृष्टि-कर्ता या जगन्नियन्ता या विश्वम्भर के नाम से नहीं पुकारता है, बल्कि आत्मा के नाम से। ईश्वर की महत्ता के कारण इस एक आत्मा की बहुत प्रकार से प्रशंसा की गई है। वह पुनः लिखता है कि दूसरे सब देवता इस एक आत्मा ही के अङ्ग हैं और इस प्रकार जिस जिस देवता की स्तुति करनी है, उनके नाना प्रकार के स्वभाव और लक्षण होने के कारण वैदिक ऋषियों ने उनकी स्तुति के मंत्र रचे हैं।

यह बात सही है कि यह कथन एक तत्ववेत्ता धर्म-प्रतिपादक का है, न कि किसी प्राचीन कवि का; लेकिन यह दार्शनिक विचार ईसा से पांचवीं शताब्दी पहिले के हैं यही नहीं; बल्कि उससे भी पहिले के हैं और ऐसे विचारों के अंकुर कुछ वेद-मंत्रों में भी मिलते हैं। मैं वेद-मंत्रों से कुछ ऐसे वाक्य † दे चुका हूं जिनका आशय यह है कि—मित्र, वरुण, और अग्नि की स्तुति करते हैं, वही स्वर्ग का पक्षी गरुत्मत् है, जो कुछ भी है अनादि है, वह एक ही है उसको ऋषि अनेक नाम से पुकारते हैं, उसी को वे यम, अग्नि और मित्र कहते हैं।

एक दूसरे वेद-मंत्र में जिसमें सूर्य को उपमा एक पक्षी से दी गई है, हम पढ़ते हैं—यह पक्षी एक ही है इसको विद्वान् कवियों ने अनेक प्रकार के शब्दों से बताया ‡ है। इसमें पौराणिक कथाओं का अंश अवश्य है, लेकिन दूसरे

† ऋ० वे० १ मं० १६४, ४६।

‡ ऋ० वे० १० मं० ११४, ५।

वाक्य और हैं, जिनसे हमारे ऊपर उज्वल प्रकाश पड़ता है, जैसे कि यह वाक्य * जिसमें एक ऋषि पूछता है—"उसे किसने देखा था ? जब वह पहिले पहिल उत्पन्न हुआ था, जब उसने, जिसमें हड्डियां अर्थात् अस्थियां नहीं हैं, ऐसे पुरुष को उत्पन्न किया था जिसमें अस्थियां हैं तब विश्व की आत्मा विश्व का प्राण और रक्त कहां था ? जो इन बातों को जानता था उससे पूछने कौन गया था"।

इस वाक्य की भाषा स्पष्ट नहीं है, पर यह दोष भाषा का है—भावों का नहीं; भाव तो स्पष्ट हैं। वह पुरुष जिसके अस्थियां हैं, इस वाक्य से उस दृश्यमान पुरुष से आशय है, जिसने रूप और आकार धारण कर लिया था और इसके विपरीत एक ऐसा पुरुष है जिसके न अस्थियां हैं न शरीर है न कोई आकार है अर्थात् जो अदृश्य है। विश्व की आत्मा, प्राण और रक्त से यह अभिप्राय है कि जो वस्तु विचार से परे है और जिसका कोई नाम नहीं रखा जा सकता है, उसका नाम-रूप बताने के लिए ये अनेक चेष्टाएं हैं।

वैदिक साहित्य के दूसरे समय में, ब्राह्मण ग्रंथों और विशेष कर उपनिषदों में जिसे वेदान्त भाग कहते हैं—ये विचार पूर्ण स्पष्ट विकशित हो गये हैं। धार्मिक विचारों का विकाश, जिसका प्रारम्भ वेद-मंत्रों में है—अब पूर्ति पर आगया है। एक को बहुत से नामों के द्वारा जानने के बदले, बहुत से नाम एक के लिये ही प्रयोग में लाये गये हैं, अब ऐसा समझा जाता है। इस तरह से नामों के

* ऋ० वे० १ मं० १६४, ४।

चक्र की चाल पूरी हो गई है—पुराने नाम जैसे प्रजापति, विश्वकर्मा, धाता अधूरे समझकर छोड़ दिये गये हैं । अब जो नाम प्रयोग में। आया है वह बहुत शुद्ध और उच्चकोटि का है और उसी से आन्तरिक-भाव प्रगट होते हैं—यह शब्द 'आत्मा' है जो हमारे जीव शब्द से ऊंचा है । आत्मा शब्द से सब वस्तुओं का अंतिम आधार और सब प्राचीन पौराणिक देवताओं की आत्मा से मतलब है । ये, कोरे नाम ही नहीं हैं, बल्कि किसी विशेष-वस्तु को बताने वाले हैं । अंत में आत्मा वह है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य की शान्ति हो सकती और अन्त में लय हो सकता है ।

मैंने अपने दूसरे व्याख्यान में एक ऐसे लड़के की कथा कही है, जिसने अपने पिता से अपने को बलि चढ़ा देने के लिए हठ किया था। जब यह लड़का यम देवता के सामने आया, तो उसने इसे तीन वर मांगने को कहा—तीसरा वर मांगते हुये उसने यमदेव से प्रार्थना की कि-मुझे यह बतलाइये कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की क्या दशा होती है ? यह सम्वाद एक उपनिषद् का अंग है और वेदान्त-विषय से सम्बन्ध रखता है । वेदान्त वेद के अन्त या उसके उच्चतम उद्देश्य को कहते हैं । इस सम्वाद का कुछ अंश मैं आप को सुनाता हूं:—

यम ने कहा—'मूर्ख मनुष्य अविद्या में लिप्त होकर अपने को पण्डित और धीर मानते हुए जैसे अन्धे को अन्धा ले जाता है, उसी प्रकार टकराते फिरते हैं ।'

संसार को भारत का संदेश।]

(२) धन के मोह से मूढ़ बालक को भविष्य का कुछ ज्ञान नहीं होता है, वह कहता है कि इस लोक से परे और कोई लोक नहीं है। इस तरह वह बार बार मेरे वश में आजाता है।

(३) बुद्धिमान् मनुष्य, आत्मा पर विचार करते हुये उस प्राचीन पुरुष को पा जाते हैं—जिसका देखना कठिन है—जो गुफा में स्थित है और जो सब का अन्तर्यामी ईश्वर है। उसको सुख, दुःख कुछ नहीं होता है।

(४) वह आत्मा या द्रष्टा न उत्पन्न होता है न मरता है, न वह कहीं से आया है और न उसमें कभी विकार हुआ है, वह अजन्मा है, नित्य है और सब से प्राचीन है, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता।

(५) वह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है, वह जीवों के हृदयों में छिपा हुआ है। जिसका शोक चला गया और कामना जाती रही है, वह परमात्मा की कृपा से आत्मा की महिमा को देखता है।

(६) वह बैठा हुआ भी दूर भ्रमण करता और सोता हुआ भी सर्वत्र जाता है। मेरे सिवा उस देव को देखने के लिए कौन समर्थ है जो आनन्द-पूर्ण है भी और नहीं भी है।

(७) यह आत्मा न तो वेदों से प्राप्त हो सकता है, न बुद्धि और तर्क से। जिस पर उसकी कृपा होती है वही इसको प्राप्त करता है, यानी उसी को वह अपनाता है।

(८) जो बुरे कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो शान्त और संयमी नहीं हुआ है अथवा जिसका मन स्थिर नहीं हुआ है वह आत्मा को ज्ञान द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

(९) मनुष्य प्राण और अपान के द्वारा जीवित नहीं रहता है। हम जिसकी शक्ति से जीवित रहते हैं प्राण और अपान दोनों उसी में रहते हैं ।

(१०) अब मैं तुम से वह रहस्य कहता हूँ, उस अक्षर ब्रह्म को बताता हूँ और यह भी बताता हूँ कि मृत्यु के पश्चात् जीव का क्या होता है। कुछ, जीव रूप होकर फिर उत्पन्न होते हैं, कुछ पत्थर और लोष्ठ रूप में समाते हैं और कुछ अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार बार बार जन्म लेते हैं।

(११) वह महान् पुरुष जो हमारे सोने पर हम में जागता है, वही सचमुच परम-ज्योति कहलाता है—वही ब्रह्म है, केवल वही अमर है, वही सब लोकों का आधार है, उससे परे कोई नहीं है। यही वह है।

(१२) जैसे अग्नि, संसार में प्रवेश करके एक होने पर भी तरह तरह के रूप—उस वस्तु के अनुसार जिसको वह जलाती है धारण कर लेती है, इसी प्रकार सब जीवों की आत्मा एक होने पर भी जिस जिस में वह प्रवेश करती है उसी उसी का रूप धारण कर लेती है; किन्तु वह निर्लिप्त भी रहती है।

(१३) जैसे सूर्य जो विश्व का चक्षु है, चक्षु के बाहर के दोषों से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सब जीवों की आत्मा एक होने पर भी बाहर के दुःखों से लिप्त नहीं होती है, क्योंकि वह निर्लेप है।

(१४) एक नित्य चिन्तनकारी है, जो अनित्य की चिन्ता करता रहता है। वह यद्यपि एक ही है तो भी अनेकों की कामनाओं को पूरा करती है। उस पुरुष को जो बुद्धि-

मान् मनुष्य अपने में देखते हैं उनको ही अमरत्व और अनन्त शांति मिलती है।

(१५) यह संसार उस ब्रह्म से उत्पन्न होकर, उसी के श्वासों से कम्पायमान रहता है। वह ब्रह्म म्यान से निकले हुए खड्ग के समान भयङ्कर है। जो उसको जान लेते हैं अमर हो जाते हैं।

(१६) उस ब्रह्म को हम न वचन से, न मन से, न नेत्रों से पा सकते हैं। वह किसी के अनुभव—गम्य नहीं है सिवा उसके जो केवल यह कहता है कि " वह है "

(१७) जब हृदय की सब कामनाएं, छूट जाती हैं तब मनुष्य अमर होजाता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है।

(१८) जब जीते जी मनुष्य के हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, जिन जिन बन्धनों से हम, इस जीवन में बन्धे हुए हैं खुल जाते हैं, तब मरणशील मनुष्य अमर हो जाता है। यहाँ मेरे ये उपदेश समाप्त होते हैं।

यही वेदान्त है और यही धर्म या तत्व-ज्ञान है, इसे चाहे जिस नाम से पुकारो, यह ईसा से ५०० वर्ष पहले से अब तक चला आता है। यदि, पितृयज्ञ-श्राद्धों और जाति-भेदों के सिवा भारतवासियों का कोई धर्म है, तो वह वेदान्त दर्शन ही में है और इसकी मोटी मोटी बातें प्रत्येक को कुछ न कुछ मालूम हैं। धार्मिक-सुधार जो ५० वर्ष पहिले राजा राम-मोहन राय ने किया था और जो अब ब्रह्म-समाज के नाम से प्रसिद्ध है; और जिसके नेता मेरे मित्र केशवचन्द्र सेन हैं, उसका आधार उपनिषद् हैं और उसका उद्देश्य वेदान्त धर्म है। तीन हजार वर्षों से हिन्दुओं के प्राचीन विचारों में और इस समय के नये से नये विचारों में निरन्तर समता चली आती है।

आज तक भारतवर्ष में रीति-रिवाज, धर्म और न्याय विषयों में वेद से बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं माना जाता है और जब तक भारतवर्ष भारतवर्ष होकर रहेगा, तब तक वेदान्त के प्राचीन भावों का लोप नहीं हो सकता है। प्रत्येक हिन्दू इन भावों को बचपन से रखता आया है और ये भाव, मूर्ति-पूजा की प्रार्थनाओं में, तत्ववेत्ताओं के विचारों में और भिक्षुकों की कहावतों में अनेक रूप से भरे पड़े हैं। उस गुप्तरहस्य को जानने के लिए जिससे भारतवासियों में बड़े से बड़े और छोटे से छोटे के आचार-विचार और कर्म सङ्गठित होते हैं, वैदिकधर्म और वेदान्तदर्शन के विचार को जानना बहुत आवश्यक है। इस बात को कम समझना या ऐसे प्रश्न करना जैसे कुछ राजनीतिज्ञों ने यूरोप में भी किये हैं-कि धर्म और दर्शनशास्त्र से राजनीति का क्या सम्बन्ध है? सहल है। हिन्दुस्तान में इस बात के होते हुए कि बहुत से भारतवासी संसार में धार्मिक विषयों में उपेक्षा प्रकट करते हैं, अथवा और ऐसी ही बातों के होते हुए भी, इस बात को मान लेना चाहिए कि हिन्दुस्थान में धार्मिक और दार्शनिक विचार अब भी बड़ी शक्ति रखते हैं। सौराष्ट्रदेश के प्रथम श्रेणी की दो रियासतों जूनागढ़ और भावनगर के दो प्रबन्ध कर्त्ता अर्थात् दो भारतवासी राजनीतिज्ञ गोकुलजी और गौरी-शंकर का हाल पढ़िये जो हाल ही में छपा है। + उससे

+ "गोकुलजी सम्पतिराम झाला का जीवन वृतान्त, उनके पत्र और उनके वेदान्त परविचार" नामक पुस्तक मनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठी ने बम्बई में सन् १८८१ में प्रकाशित की थी। इस पुस्तक के आधार पर इनका कुछ हाल दिया जाता है। गोकुलजी एक अच्छे कुल

आपको मालूम होगा कि भारतवर्ष में वेदान्त एक धार्मिक और राष्ट्रीय शक्ति है या नहीं।

मेरा वेदान्त के लिये एक और भी बड़ा दावा है। उसको पढ़ने के लिये मैं केवल इण्डियन सिविल सर्वेन्टों ही को नहीं कहता, बल्कि दर्शनशास्त्रों के सच्चे विद्यार्थियों को भी कहता हूँ। दार्शनिक विचारों के इतिहास में जो जीवन सम्बन्धी विचार हमारे सामने उपस्थित हैं, उन सब विचारों से भिन्न विचार, इसके पढ़ने से मालूम होंगे। तुमने अभी सुना है कि, सब देवताओं के अन्तर में उपनिषद् के ऋषियों ने आत्मा को खोज निकाला है। इस आत्मा को वे, सत्-चित् आनन्द बताते हैं अर्थात् उसके लक्षण तीन हैं। सत् जो सर्वदा विद्य-मान है, चित् जिससे ज्ञान होता है और आनन्द जिसमें सर्वदा निरन्तर आनन्द रहता है। दूसरे सब लक्षण अभावात्मक हैं अर्थात् नेति नेति यानी जो सब जाने जा सकते हैं; यह उन सब के परे है।

यह परमात्मा बहुत कुछ धार्मिक और ज्ञान सम्बन्धी कठिन अभ्यासों के द्वारा अनुभूत हो सकता है और जिन्होंने उसे अभीतक अनुभव नहीं किया है उन्हें देवताओं का पूजन

के लड़के थे। उन्होंने पहिले फारसी और संस्कृत पढ़ी। वह राष्ट्रीय कार्यों में लगे हुए भी वेदान्त का मनन करते रहते थे। वेदान्त-ज्ञान में थोड़ा प्रवेश पाते ही उनका चित्त उच्च उद्देश्यों की ओर लग गया जिससे उन्हें शोक से मुक्ति होने की और आनन्द प्राप्त करने की आशा हुई। जब नामी वेदान्ती रामबाबा, जूनागढ़ आये तो वह उनके शिष्य होगये। जब एक और योगी परमहंस स्वामी सच्चिदानन्दजी गिरनार की यात्रा में जूनागढ़ होकर निकले, तो गोकुलजीने उनसे विधि पूर्वक वेदान्त का रहस्य सीखा।

करने अथवा दूसरे नाम लेकर अपनी मानवी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए कहा गया है। जो देवताओं को प्रतीक कर के मानते थे, जिसका अर्थ संस्कृत में नाम अथवा ऊपरी आकार कहा है, वे भी जानते थे कि प्रतीक-पूजा के द्वारा वास्तव में लोग परमात्मा ही को पूजा करते हैं, चाहे उन्हें इस बात का ज्ञान न भी हो। भारतवर्ष के धार्मिक-इतिहास में यह एक बड़ी विचित्र बात है। भगवद्गीता में भी, जिसमें वेदान्त विचारों का स्थूल वर्णन सर्वसाधारण के लिए किया है—भगवान् स्वयं यह कहते हैं, कि " जो मूर्तियों को पूजते हैं, मुझे ही पूजते हैं "।

इतनाही बस नहीं है। जिस तरह भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों ने अग्नि, इन्द्र प्रजापति और समस्त प्रकृति के पौराणिक देवताओं के परे आत्मा की खोज निकाली है, जो बाहरी संसार का मूलाधार तत्व है। वैसे ही उन्होंने शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि (जिन सबको मनोविज्ञान-शास्त्र कहते हैं) । इन सब के परे एक दूसरी आत्मा का ज्ञान उपलब्ध किया है, जो आन्तरिक संसार का मूलाधार-तत्व, है। इस आत्मा का ज्ञान धार्मिक और मानसिक कठिन अभ्यासों के पश्चात् प्राप्त हुआ है और जो इसकी खोज करते थे और जिन्हें शरीरादि वस्तुओं के सिवा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना था उन्हें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार के परे खोज करनी पड़ी है। ये भी सब देवताओं के नाम से ज्ञात किये गये थे; इन नामों का भी अर्थ था। इनको जो उन्हें सब से अधिक प्रिय था अर्थात् अपना जीव, उसे भी परमात्मा की खोज में समर्पित कर देना पड़ा था। वह परमात्मा जिसे प्राचीन

पुरुष या साक्षी कहा है—रूप आकार एवं प्राण से भी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता है ।

जब इस लक्ष्य तक पहुँच गये, तब पराज्ञान का प्रकाश चमकने लगा । प्रत्यग्-आत्मा, परमात्मा की ओर आकर्षित हुई और तब परमात्मा वस्तु में उस सच्ची आत्मा का ज्ञान हुआ, जो बाहिरी और भीतरी जगत् के मूलाधार तत्वों की आत्मा है । यही धर्म का अन्तिम लक्ष्य था और यही सब दार्शनिक विचारों का उज्जवलप्रकाश था ।

इस मूल-विचार का सविस्तर विवरण वेदान्त दर्शन में है और जिस किसी ने बर्कले के दार्शनिक विचार पढ़े हैं और उसका आदर किया है, वे उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र एवं उन पर किये गये भाष्यों को पढ़कर अधिक अनुभवी और बुद्धिमान् हुये बिना नहीं रह सकते । मैं इस बात को मानता हूँ कि पूर्वीय देशों के दर्शन-शास्त्रों की अंधेरी गुफाओं में असली सोने के कण खोज निकालने के पहिले धैर्य एवं विवेक और किसी मात्रा में आत्म-त्याग करने की आवश्यकता है । यह बात सहल है कि कम पढ़े, दोष-दर्शी, लोग उपहास करते हुये कहें कि-प्राचीन शास्त्र के धर्म और दार्शनिक विचारों में बहुतसी वाहियात और निरर्थक बातें हैं, लेकिन यह बात कठिन है कि वे लोग ऊपरी विचित्र बातों को छोड़ उनके भीतर का सत्य और ज्ञान तत्व-खोज कर निकाल सकें । हमारे जीवनकाल की परिधि के भीतर ही इस विषय में कुछ उन्नति हुई है । पूर्वीय देशों की धर्म-पुस्तकें मिशनरियों और दार्शनिक विद्वानों के उपहास और ताने मारने की चीज़ें नहीं हैं । ये अब ऐतिहासिक ग्रन्थ गिने

जाते हैं । मानवी मानसिक इतिहास में ये अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं । ये एक ऐसे सभ्यता-विकास के प्रमाण समझे जाते हैं, जिसकी ओर उस ग्रह के क्रमशः सङ्गठन की अपेक्षा-जिस पर हम रहते हैं, अथवा उस जीवाणु के शारीरिक विकास की अपेक्षा जिसे हम मनुष्य कहते हैं—मनुष्यों की अधिक विस्तृत और गम्भीर सहानुभूति होती जाती है। यदि आप मेरी बातों को अतिशयोक्ति समझते हों, तो मैं आपको वेदान्त विशेषतः उपनिषदों के सम्बन्ध में दार्शनिक पाश्चात्य पंडित शोपनहार के वाक्य सुनाता हूँः—

"संसार भर में किन्हीं पुस्तकों का पढ़ना, इतना उपयोगी और उन्नति-प्रद नहीं है जितना कि उपनिषदों का पढ़ना । इसी से मुझे जीवन में सुख मिला है, इसी से मृत्यु पर सुख मिलेगा"। मैंने यथाशक्ति आपको एकही सिलसिले में कुछ व्याख्यानों द्वारा प्राचीन भारतवर्ष, उसके प्राचीन साहित्य और विशेष कर उसके प्राचीन धर्म का कुछ परिचय दिया है। मेरा उद्देश्य आपके सामने कुछ नाम और घटनाएं उपस्थित करना नहीं था, क्योंकि ये बातें तो आप बहुतसी छपी हुई पुस्तकों से भी मालूम कर सकते हैं; बल्कि मेरा उद्देश्य यह था कि जहाँ तक होसके, मैं आपको वे बातें दिखाऊँ और बताऊँ जिनके जानने में सभी मनुष्यों की अभिरुचि है और जो इस मनुष्य-जाति के इतिहास के इस प्राचीन अध्याय में छिपी पड़ी हैं। मैं चाहता हूँ कि वेद, उसका धर्म और उसके धार्मिक-विचार आपको कौतूहलप्रद और विचित्रही न मालूमहों; बल्कि आप मालूम करने लगें कि उनमें कोई ऐसी चीज़ है, जो हम से

सम्बन्ध रखती है, जो हमारे मानसिक विकास करने वाली है और जो हमारी बाल्यावस्था की स्मृति दिलाती है। मेरा विश्वास है कि इस जीवन-काल में हमारी कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, तथापि हम वेदों से वैसी ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, जैसी कि हमने स्कूल में होमर और वर्जिल के पढ़ने से प्राप्त की है; और वेदान्त से हमको वैसाही उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जैसा कि प्लेटो और स्पिनोजा के दर्शन शास्त्रों से।

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है, कि प्रत्येक मनुष्य, जो यह जानना चाहे, कि मनुष्य-जाति जैसी है वैसी कैसे होगई-भाषा जैसी है वैसी कैसे होगई-धर्म जैसा है वैसा कैसे हो गया-रीति-व्यवहार नैतिक-नियम तथा राजनैतिक अवस्थाएं जैसी हैं वैसी कैसी होगई-हम जैसे हैं वैसे-कैसे हो गये, तो वह संस्कृत और वैदिक संस्कृत अवश्य पढ़े; लेकिन यह विश्वास मेरा अवश्य है कि इस बात को नहीं जानना कि संस्कृत पढ़ने, विशेष कर वेद पढ़ने से मानवी मन के इतिहास के गूढ़ से गूढ़ प्रश्नों पर कितना प्रकाश पड़ा है, वह मानवी मन जिसके द्वारा हम पालें-पोषे गये हैं और जीवित हैं, एक बड़ी हानि है। और वह हानि ऐसी ही है जैसे कि हम अपने जीवन को इन महत्व पूर्ण बातों के कुछ भी जाने बिना गवां दें जैसे कि बिना पानी पृथ्वी का क्या स्वरूप है, पृथ्वी कैसे बनी है, सूर्य, चन्द्र और तारों की गतियां कैसी हैं, और जिन शक्तियों और नियमों से इन गतियों का शासन किस प्रकार होता है।

शुद्धयशुद्धि-पत्र।

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
पशिया	रशिया	५	१४
समझनो	समझना	११	१०
ऐसी २०	ऐसी ऐसी	१५	१४
सेक्शन	सैक्सन	२१	६
सक्शन	सैक्सन	२६	४
ऐंग्लो-सेक्शन	ऐंग्लो सेक्सन	२६	४
समझना	समझनी	३२	१
की	के	३७	१६
वड़ी वड़ी	बड़े बड़े	४२	२
सदाचार का	सदाचार की	४८	१५
सच्चाई का	सच्चाई की	४८	१५
व्यर्थ हैं	व्यर्थ ही से हैं	४६	६
जा	जो	५०	२३
सरवेंट	सरवेंटों	५३	६
सज्जना	सज्जनों	५३	७
यूरोपियन	यूरोपियनों	५४	१८
ढँढ़ा	ढूँढ़ा	५६	२३
दा	दो	५७	१
लड़ाक	लड़ाके	५८, ५६,	६, १०
आर्टसीज़	आर्टज़र्कशीज़	७३	१८
का	के	७३	२२
समझत	समझते	७६	२४

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
झूठ	झूठे	८७	११
व्यथ	व्यर्थ	६१	३
सद्दर्शन	षड्दर्शन	१०७	६
चाहिए	चाहिएं	१११	१
म आपका	मैं आपको	११२	४
संस्कत	संस्कृत	११३	६
पढ़ना	पढ़नी	११३	१०, ११
ऐकमता	एकता	११८	२०
की	के	११६	११
प्राचीन में	प्राचीनता में	१२०	६
इनके	इसके	१२५	३
विष्णं	विष्णु	१३७	५
उसमें	उनमें	१४२	४
कहा है	कहा जा चुका है	१४७	१३
पर्सियन	पर्शियन	१४८	२०
जर्मनी में	जर्मनभाषा में	१४६	७
फ्रेन्च	फ्रेञ्च	१४६	७
गेलीलियों	गेलीलियो	१५१	१२
पदाथ	पदार्थ	१५४	५
का	की	१५४	६
आय	आर्य	१५४	१२
के	की	१५४	२३
चचा	चर्चा	१५६	१
कोई	किसी	१६६	१८
माग	मार्ग	१७४	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
बनाता	बनाती	१८४	७
बगाली	बंगाली भाषा	१८६	८
का	के	१६६	१६
उसने	वह	१६७	२०
घाटियाँ	घाटियों	१६८	१
मैं	मैं ने	२०३	१८
पशू	पशु	२०३	२०
द्यो	द्यौः	२०४	७
द्योवापृथ्वीव्यौ	द्यावापृथ्व्यौ	२०४	६
द्यु	द्यौः	२०४	६
असश्वत	अश्वासत	२०४	१८
पित	पिता	२०४	२१
सरक्षकों	संरक्षकों	२०६	१६
जी	जो	२१५	१६
सप्त सिन्धव	सप्त सिन्धव	२१६	८
ऐसी	ऐसे	२१६ १७,	१८
परावदी	परावती	२१७	१६
दूरदृशिता	दूरदर्शिता	२१६	११
परिवारिक	पारिवारिक	२१६	२४
असम्भव	सम्भव	२२१	१०
विद्युत	विद्युत्	२२२, २२५, २,	१५
धर्म का	धर्म की	२२४	२०
पूर्ण	अपूर्ण	२२४	२२
यूनानी	यूनानियों	२२६	६
टोपियें	टोपियाँ	२२७	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पजन्य	पर्जन्य	२३१	११
द्यो	द्यौः	२३१	१४
बालने	बोलने	२३२	८
मत्र	मन्त्र	२३४	१२
आश्रर्यप्रद	आश्चर्यप्रद	२३४	१२
रूसे	रूस	२४०	७
आसय	आश्रय	२४०	२२
जिसमें	जिससे	२४१	२२
जिसके	जिनके	२४२	१६
पृकृति	प्रकृति	२४६	२
दृष्ठि	दृष्टि	२५०	३
दोष दर्षियों	दोष-दर्शियों	२५०	१४
विद्यामान्	विद्यमान	२५१	६
पास	पाश	२५२	६
Logographi	Logography	२५८	१८
मत्र	मन्त्र	२६२	८
ग्रन्था	ग्रन्थों	२६४	११
यहां	०	२६५	१३
जसे	जिसे	२७१	३
वदिक	वैदिक	२७३	६
भारतवष	भारतवर्ष	२७६	६
लागा	लोगों	२७६	१०
माग	मार्ग	२७७	६
कुमाग	कुमार्ग	२७७	१०
प्रकृत	प्रकृति	२७७	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
हा	हो	२७७	१२
ओर	और	२७७	१५
नहं	नहीं	२७७	१७
सलार	संसार	२७७	१६
ापतरों	पितरों	२७७	२१
ता	तो	२७७	२५
राम	रोम	२७६	४
इन्डा	इण्डो	२७६	६
पवता	पर्वतों	२८०	८
माग	मार्ग	२८१	१
सोत्र	सौत्र	२८५	२
पदाथ	पदार्थ	२८५	७
मुह जवानी	मुंह-जबानी	२८६	१
पतृभ्यः स्वधाः	पितृभ्यःस्वधा	२८८	५
वश्वदेव	वैश्वदेव	२८८	१२
को	के	२८६	२३
कतव्य	कर्तव्य	२६२	१२
तपण	तर्पण	२६२	१८
मिभर	निर्भर	२६२	२३
वाक्यां	वाक्यों	२६३	१५
स्वग	स्वर्ग	२६३	२७
स्वग	स्वर्ग	२६४	२
एकोद्दृष्टि	एकोद्दिष्ट	२६६	फुटनोट,
जसा	जैसा	३००	१४
भारवर्ष	भारतवर्ष	३०२	२१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
बठा	बैठा	३०८	१७
ता	तो	३०८	२०
भी	ही	३०९	१८
जसे	जैसे	३०९	१९
करती है	करता है	३०९	२५
५० वर्ष	५०० वर्ष	३१०	१७
वदिक	वैदिक	३११	१०
धामिक	धार्मिक	३१२	१
सवदा	सर्वदा	३१२	११
उज्ञवल	उज्ज्वल	३१४	८
बकले	बर्कले	३१४	१०
दार्शनिक	दार्शनिक	३१४	१०
कहते	करते	३१४	१८
जसे	जैसे	३१९	१३
जिन	किन	३१९	२४
ज्येष्ठ	ज्येष्ठ		टायटल पेज
सं० १९८० वि०	सं० १९८१ वि० (जून १९२४ ई०)		